सर्वोदय पुस्तकमाला, पुष्प - २१

द्यानत भजन सौरभ

अनुवादक

श्री ताराचन्द्र जैन

जयपुर

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

आरम्भिक

अध्यात्म-प्रेमी पाठकों के लिए 'द्यानत भजन सौरभ' का प्रकाशन कर हम हर्षित हैं।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित 'जैनविद्या संस्थान' जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति की बहुआयामी दृष्टि को सामान्यजन एवं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु प्रयत्नशील है। संस्थान द्वारा इसी क्रम में सामान्यजन के लाभार्थ जैनधर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित सरल एवं सहज पुस्तकों का 'सर्वोदय पुस्तकमाला' के अन्तर्गत प्रकाशन किया जा रहा है। 'द्यानत भजन सौरभ' 'सर्वोदय पुस्तकमाला' के इक्कीसवें पुष्प के रूप में प्रकाशित है। इससे पूर्व संस्थान से सर्वोदय पुस्तकमाला के अन्तर्गत भजनों पर आधारित तीन और पुस्तकें—'जैन भजन सौरभ' (पुष्प ११), 'भूधर भजन सौरभ' (पुष्प १८) तथा 'दौलत भजन सौरभ' (पुष्प १९) प्रकाशित हैं, उसी क्रम में अब यह 'द्यानत भजन सौरभ' (पुष्प २१) प्रकाशित है। प्रस्तुत भजन सौरभ हिन्दी के जैन कवि श्री द्यानतराय (सन् १६७६-१७२८) के आध्यात्मिक पदों-भजनों-स्तुतियों की सुगन्ध से सुवासित है। पुस्तक में पदों-भजनों का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है जिससे जिज्ञासुजन उनके मर्म को सहजतया समझ सकें।

भजनों के हिन्दी अनुवाद के लिए हम प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य श्री ताराचन्द्र जैन, एडवोकेट, जयपुर के आभारी हैं।

प्रबन्धकारिणी कमेटी की भावना के अनुरूप जैनविद्या संस्थान समिति के संयोजक डॉ. कमलचन्द सोगाणी द्वारा सत्साहित्य उपलब्ध कराने के लिए किये जा रहे प्रयास श्लाघनीय हैं।

पुस्तक प्रकाशन के लिए जैनविद्या संस्थान के कार्यकर्त्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

नरेन्द्र पाटनी — **नरेशकुमार सेठी**
मंत्री — अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

प्रस्तावना

करुणा से भरपूर वीतरागी तीर्थंकरों ने अहिंसा और समता के ऐसे उदात्त जीवन-मूल्यों का सृजन किया जिसके आधार से व्यक्ति जैविक आवश्यकताओं से परे देखने में समर्थ हुआ और समाज विभिन्न क्रिया-कलापों में आपसी सहयोग के महत्व को हृदयंगम कर सका। तीर्थंकरों की करुणामयी वाणी ने व्यक्तियों के हृदयों को छूआ और समाज में एक युगान्तरकारी परिवर्तन के दर्शन हुए। नवजागरण की दुन्दुभि बजी। शाकाहार क्रान्ति, आध्यात्मिक मानववाद की प्रतिष्ठा, प्राणी-अहिंसा की लोक-चेतना, लैंगिक समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, जीवन-मूल्य-संप्रेषण के लिए लोक-भाषा का प्रयोग - ये सब समाज में तीर्थंकरों/महात्माओं के महनीय व्यक्तित्व से ही हो सका है। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जीवन में भक्ति का प्रारंभ इन शुद्धोपयोगी, लोककल्याणकारी तीर्थंकरों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन से होता है और उसकी (भक्ति की) पराकाष्ठा वीतरागता-प्राप्ति में होती है। दूसरे शब्दों में, तीर्थंकरों की शैली में जीवन जीना उनके प्रति कृतज्ञता की पराकाष्ठा है। भक्ति उसका प्रारंभिक रूप है।

प्रस्तुत पुस्तक 'द्यानत भजन सौरभ' भक्त कवि द्यानतरायजी के लोक-भाषा में रचित भजनों, स्तुतियों, विनतियों का संकलन है। इसका उद्देश्य मनुष्यों/पाठकों में जिन भक्ति/प्रभु भक्ति को सघन बनाना है जिससे वे अपने नैतिक-आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ प्राणिमात्र के कल्याण में संलग्न हो सकें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्रियों की दासता मनुष्य/व्यक्ति के नैतिक-आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करती है, जिसके कारण व्यक्ति पाशविक वृत्तियों में ही सिमटकर जीवन जीता है। जीवन की उदात्त दिशाओं के प्रति वह अन्धा बना रहता है। मनुष्य/व्यक्ति के जीवन में भक्ति का उदय उसको जितेन्द्रिय आराध्य के सम्मुख कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए खड़ा कर देता है, जिसके फलस्वरूप वह इन्द्रियों से परे समतायुक्त जीवन के दर्शन करने में समर्थ होता है। जब वह आराध्य की तुलना अपने से करता है तो उसको अपने आराध्य की महानता और

अपनी तुच्छता का भान होने लगता है। वह आराध्य के प्रति आकर्षित होता जाता है और उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। इस श्रद्धा और प्रेम के वशीभूत होकर वह अपने आराध्य को मन में सँजोए रखकर विकास की प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। जितेन्द्रिय/वीतराग आराध्य उसको वीतराग/अनासक्त बनने की दिशा में प्रेरित करता है। वीतराग आराध्य भक्त का सहारा बनकर उसे आत्मानुभूति/आत्मानन्द में उतर जाने की ओर इंगित करता है। यही भक्ति की पूर्णता है। इस तरह से वीतराग की भक्ति वीतरागी बना देती है। भक्ति की परिपूर्णता में वीतरागी के प्रति राग तिरोहित हो जाता है। यहाँ यह समझना चाहिए कि भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में भी वीतरागी आराध्य के प्रति राग वस्तुओं और मनुष्यों के राग से भिन्न प्रकार का होता है। उसे हम उदात्त राग कह सकते हैं। इस उदात्त राग से संसार के प्रति आसक्ति घटती है और व्यक्ति मानसिक तनाव से मुक्त होता जाता है। इस उदात्त राग से वर्तमान जीवन की एवं जन्म-जन्म की कुप्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और लोकोपयोगी सद्प्रवृत्तियों का जन्म होता है। इस तरह से इससे एक ऐसे पुण्य की प्राप्ति होती है जिसके द्वारा संचित पाप को नष्ट किए जाने के साथ-साथ समाज में विकासोन्मुख परिस्थितियों का निर्माण होता है। भक्ति की सरसता से व्यक्ति ज्ञानात्मक-कलात्मक स्थायी सांस्कृतिक विकास की ओर झुकता है। वह तीर्थंकरों द्वारा निर्मित शाश्वत जीवन-मूल्यों का रक्षक बनने में गौरव अनुभव करता है। इस तरह भक्ति व्यक्ति एवं समाज के नैतिक-आध्यात्मिक विकास को दिशा प्रदान करती है।

प्रस्तुत पुस्तक '**द्यानत भजन सौरभ**' में भक्त कवि द्यानतरायजी द्वारा रचित ३२८ भजनों, स्तुतियों, विनतियों का संकलन किया गया है।[१] विविध भावों और विभिन्न विषयों पर आधारित हैं ये भजन। विषय-वस्तु का वर्गीकरण/विवेचन निम्न प्रकार है—

तीर्थंकर - स्वरूप, महिमा, स्तुति - ऐसे मनुष्य जिन्होंने अपने मूल्यात्मक चिन्तन और तदनुकूल आचरण से शाश्वत मूल्यों को पहचानकर जीवन की ऊँचाइयों को पा लिया है, जिन्होंने उन शाश्वत मूल्यों को अपने जीवन में आचरित कर उन्हें लोक के सामने आदर्शों के रूप में स्थापित किया है उन्हें जैनधर्म में 'तीर्थंकर' कहते हैं। लोक को कल्याण का मार्ग दिखाने के कारण 'तीर्थंकर' प्राणीमात्र के लिए 'आदर्श' हो जाते हैं।

---

१. जैन ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई से १९०९ में प्रकाशित 'जैन पद संग्रह', चतुर्थ भाग से संकलित।

लोक के लिए कल्याणकारी ऐसे भव्य आत्मा का 'तीर्थंकर' बनने हेतु मनुष्य भव में 'जन्म' होना एक विशेष घटना हो जाती है, उसका 'जन्म' एक विशेष उत्सव हो जाता है। भावी तीर्थंकर आदिनाथ श्री ऋषभदेव के जन्म के समय पर होनेवाली खुशियों का और उन खुशियों की अभिव्यक्तिरूप मनाये जानेवाले उत्सव का अपनी कल्पना के अनुसार चित्रण करते हुए कवि द्यानतराय कह उठते हैं कि अयोध्या के राजा नाभिराय के घर आदीश्वर का जन्म हुआ है इसलिए आज अयोध्या में खूब आनन्द-बधावा है। इस समय अयोध्या की शोभा देखने लायक है। इन्द्र-इन्द्राणी तथा अन्य देवतागण भी जन्मोत्सव के मंगल अवसर पर सम्मिलित होते हैं, आनन्द और उछाह के साथ उत्सव मनाते हैं (१)। आज तो पूरी नगरी आनन्द से सराबोर है (२)। वह घड़ी धन्य हो गई जिसमें ऋषभदेव का जन्म हुआ, इस अवसर पर इन्द्र भी अपने भावों को/अपनी खुशियों को रोक नहीं सका और नाच उठता है (३)। राजा नाभिराय का घर मन्दिर जैसा पवित्र लगने लगा है (४)।

उन्हीं आदीश्वर के विवाह के अवसर का चित्रण करते हुए कवि कहते हैं कि भाई ! आज का आनन्द कहते हुए नहीं बनता (१२)।

उन आदीश्वर ने कल्पवृक्षों के लोप हो जाने से व्याकुलजनों को कर्मभूमि के अनुसार जीवन-निर्वाह की शिक्षा दी (१५)।

गृहस्थजीवन के उपभोग के बाद जब उन्होंने संन्यास धारण कर लिया और ध्यान में लीन हो गये तब का चित्रण करते हुए कवि कहते हैं - वे पर्वत के समान स्थिर खड़े हैं, ध्यान में मग्न हैं और कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं (८)। उनके मोक्षगमन के अवसर का चित्रण करते हुए कहते हैं कि आदीश्वर जहाँ से मोक्ष गये उस कैलाश पर्वत पर प्रकृति भी अत्यन्त प्रसन्न हो उठी और सर्वत्र बसन्त ऋतु का वातावरण हो रहा है (९)। उन आदिनाथ भगवान को इन्द्र, अहमिन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्र आदि सभी भजते हैं (५)। कवि स्वयं को संबोधते हुए कहते हैं कि तू भी ऋषभदेव को वन्दना कर (११)। कवि कहते हैं कि मैं भी उनकी वन्दना करता हूँ और विनती करता हूँ कि मुझे भी इस संसार-सागर से तारिये (८६)। मैं उनके चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ ताकि मेरे भी भव-भव के दुःख दूर हो जायें (१०) (१३)। भक्त-हृदय कवि पूछता है कि - हे नाभिकुमार ! आप हमको पार क्यों नहीं लगाते हैं (१४) !

इसी प्रकार तीर्थंकर अजितनाथ (१७), अभिनन्दननाथ (१८), सुपार्श्वनाथ (१९), चन्द्रप्रभ (२०), शीतलनाथ (२१), वासुपूज्य (२२), शांतिनाथ (२३), कुंथुनाथ (२४), अरहनाथ (२५) (२६), नेमिनाथ (२८) (२९) (३५) (३७) (३८) (४४) (४५) (४६) (४७) (४८) (४९) (५२), पार्श्वनाथ (५४) (५६) (५७) (५८) (५९) (६०), महावीर (६१) (६४) (६५), बाहुबली (६६), भगवान महावीर के गणधर गौतम स्वामी (२८५) तथा अन्तिम केवली जंबूस्वामी (६७) की स्तुति की है।

नेमिनाथ की वाग्दत्ता राजुल की ओर से विनती तथा राजुल के विभिन्न भावों का वर्णन भी किया है (२७) (३०) (३१) (३२) (३३) (३४) (३६)। राजुल नेमिनाथ की करुणा का सन्दर्भ देती हुई अपनी मनोव्यथा को व्यक्त करती हुई कहती है कि नेमिनाथ तो पशुओं पर भी करुणा करनेवाले हैं, उन्हें भी बन्धन से छुड़ानेवाले हैं फिर उन्हें मेरे प्रति करुणा नहीं आ रही (३९) (४०) (४८) ? राजुल के ऐसे ही भावों को, उसकी मनोव्यथा को कवि ने भजन संख्या २७, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३६, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३ में व्यक्त किया है। नेमिनाथ के वैराग्य से प्रभावित राजुल भी संन्यास/दीक्षा धारणकर तप करने की भावना व्यक्त करती है (५०, ५१, ५३)।

तीर्थंकर की महिमा बताते हुए कवि कहते हैं कि हे प्रभु ! आप जन्म-जरा-मृत्यु आदि रोगों को दूर करनेवाले वैद्य हैं (२०३)। आपकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता (२०५) कोई आपकी स्तुति करे या निन्दा करे, आप तो समता में ही रहते हैं (२०६)। जब गणधर भी आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हैं तो मैं आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूँ (२०७) ? आप अनन्त गुणों के भण्डार हैं और मैं आपके एक भी गुण का वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ (२०८) !

अक्षय गुणों के भण्डार तीर्थंकरों की स्तुति करते हुए कवि कहते हैं - मुझे सदैव जिनराज के चरणकमलों की ही शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है (१७७)। श्री जिनराज का नाम ही सार है, आधार है (१८३)। मुझे आपका शुद्ध चेतनरूप ही प्रिय है, मुझे आपका ही भरोसा है (२२३)। इसलिए ही हम चौबीसों तीर्थंकरों की वन्दना करते हैं (१७२)।

तीर्थंकर के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करते हुए कवि कहते हैं हे जिनवर ! तू ही मेरा सच्चा स्वामी है (१८६, १८७)। मैं आपका दास हूँ (१९१), फिर मैं दु:ख क्यों पाऊँ (१९९)! मैं तो तन-मन से आपका सेवक हूँ (२२२, १७९), अब आप ही हमें पार लगाइये (१५८, १९१, १९६), हमने आपकी ही शरण ली है (२०२), आप ही हमारा न्याय कीजिए (२२१), आप ही हमें दु:खों से छुटकारा दिलवाइये (२२७)। हमने आपकी शरण के बिना बहुत दु:ख पाये हैं (२०१)। हे जिनेन्द्र ! तीनों लोक में आपका नाम है, आप दीनों पर दया करनेवाले कहे जाते हैं फिर मुझ पर दया क्यों नहीं करते (१६९, १८५, १८९) ? आपने विपत्ति में सबकी सहायता की है फिर मेरी बार ही क्यों देर कर रहे हैं (१९५) ? हे देव ! मैं और आप स्वरूपत: समान हैं किन्तु कर्मों के कारण आपमें और मुझमें भेद दिखाई पड़ता है (१६७)। आप इस कर्मरूपी रोग को दूर करने के लिए कुशल वैद्य हैं (१८९)।

मैं नित्य प्रात: उठकर आपकी मूरत के दर्शन करता हूँ (२११), आपका दर्शन ही मन को भानेवाला है (१९०)। आपकी मूरत की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता (१७८)। हे प्रभु ! आपकी भक्ति के बिना यह जीवन धिक्कार है (१८३) (१८८)।

जिनवाणी/जिनेन्द्र की वाणी

जब भगवान की दिव्यध्वनि हुई तब सर्वत्र आनन्द का वातावरण छा गया (२८६)। भगवान महावीर की वाणी से गौतम जैसे अभिमानी का भ्रम टूट गया और उसका मान गलित हो गया, उन्हें भी जिनवाणी पर/जिनमत पर सच्ची श्रद्धा हो गई (२९०)। हे प्राणी ! तू जिनवाणी को क्यों नहीं समझता ! वह केवलज्ञानी के द्वारा अपने अनुभव के आधार पर कही हुई वाणी है (२६८)। हे ज्ञानी ! तू जिनवाणी को समझ (२८७, २८९)। यह जिनवाणी जड़ता का नाश करनेवाली है, ज्ञान का प्रकाश करनेवाली है (२८८), जग से तारनेवाली है। इस पंचमकाल में जब देव और सतगुरु दुर्लभ हैं तब यह जिनवाणी/ये ग्रन्थ ही उपकारक हैं (२८४)। ग्रन्थ दीपक के समान मार्गदर्शक हैं (७४)। इसलिए हे प्राणी ! आगम को सुन और मनुष्य भव का उपयोग कर (२६४)।

समवशरण में अर्हंत विराजित हैं और उनकी वाणी द्वारा ज्ञान की वर्षा हो रही है (३४४)।

गुरु/साधु - गुरु के माध्यम से ही हमें तीर्थंकर की वाणी का मार्ग समझ में आता है अर्थात् गुरु - गणधर ही अध्यात्मरस से भरपूर जिनवाणी का मर्म समझाते हैं, इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कवि कहते हैं हे गौतम गणधर ! आपने ही हमें भगवान की वाणी सुनाई, हम आपके कृतज्ञ हैं (२८५)। गुरु हमें ज्ञान देता है अतः गुरु के समान दाता अन्य कोई नहीं है (२७८)। गुरु दीपक के समान (ज्ञान का) प्रकाश फैलानेवाला है (२७८)। हमें गुरु के माध्यम से ही चेतन का ज्ञाता-द्रष्टा रूप ज्ञात होता है (१२७), इसलिए कवि कहते हैं कि हे गुरु ! हमें आपकी बातें बड़ी अच्छी लगती हैं क्योंकि संसार में केवल वह ही कल्याणकारी है (२८३)।

ऐसे कल्याणकारी साधु धन्य हैं जो वन में रहते हैं, शत्रु व मित्र के प्रति समान भाव रखते हैं (२७९)। वे बारह व्रतों का पालन करते हैं (२८०)। जो ध्यान में मग्न हैं वे साधु धन्य हैं (२८१)। वे परीषहों (शारीरिक कष्टों) को शान्तभाव से सहन करते हैं (२८१)।

ज्ञान-ज्ञाता कवि ज्ञान का महत्त्व बताते हुए कहते हैं - ज्ञान के बिना किया गया जप-तप; दान-शील सब व्यर्थ हैं (९७)। ज्ञान का सरोवर वहीं पनपता है जहाँ क्षमारूपी भूमि होती है और समतारूपी जल होता है (१६२)। ज्ञाता वही है जो निज को निज और पर को पर मानता है (१५२)। वही ज्ञानरूपी सुधा का पान करता है जो जीवन के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण रखता है (१५१)। सच्चा ज्ञाता वही है जिसने अपनी आत्मा की पूजा की है, उसका सम्मान किया है (१६१)। ज्ञानी विचार करता है कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों पृथक्-पृथक् हैं (१६३), अतः वह धन-वैभव का भोग भोगते हुए भी उसमें लीन नहीं होता (१६४)। वह विचारता है कि आत्मा तो अशरीरी है, स्त्री-पुरुष तो काया के भेद हैं (१६५)। द्रव्य के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही सुखदायक है (११४)। संसार में वही ज्ञानी है जिसके राग द्वेष आदि नहीं हैं (१०९)। जो पुण्योदय के समय राग नहीं करता और पापोदय के समय दुःखी नहीं होता (१३०)। कोई समझता है कि ज्ञान का पंथ बहुत कठिन है (१४७)। कवि उसे समझाते हुए कहते हैं - अरे ! ज्ञान का पंथ तो बहुत सरल है, बस आत्मा का अनुभव करो (१४८), समझ न आने से ही तुम्हें ज्ञान का पंथ कठिन लगता है (२५७), समझ आने पर ज्ञान का मार्ग सरल लगता है क्योंकि इसे पाने के लिए न धन की आवश्यकता

होती है न कोई युद्ध/लड़ाई लड़नी पड़ती है (२५८)। ज्ञानी कहता है कि हमें यह ज्ञान हो गया है कि सभी जीव हमारे समान ही हैं, हम ज्ञाता द्रष्टारूप होकर सब ही जीवों को जानते हैं (१४५)।

गुरु द्वारा संबोधन जीवों के कल्याण के लिए और ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु भव्यजनों को जो संबोधन करते हैं उसी का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं - हे भव्य ! सद्गुरु सीख देते हैं उसे मानो (१०५)। गुरु समझाते हैं कि हे प्राणी ! आत्मा का अनुभव कर (७५)। आत्मा का रूप अनुपम है, पर से सर्वथा भिन्न है (११७)। हे भव्य ! अपनी आत्मा को संभार कर (१२१)।

हे भाई ! अपने कल्याण के लिए परमार्थ का मार्ग पकड़ो (२४९ ! हे चेतन ! तुम चतुर हो इसलिए अपना हित करो (१०२) (१०३)। हे प्राणी ! तू पूरक कुंभक रेचक की विधि द्वारा मन साधकर आत्मा का ध्यान कर (८५)। तू स्थिर होकर ध्यान कर जिससे पवन/साँस स्थिर हो जाए और मन इधर-उधर कहीं न जाये (९१)। हे प्राणी ! तू 'सोहं' का ध्यान कर इससे तू त्रिभुवन का ज्ञाता बन जायेगा। तू जिनेन्द्र का नाम जप (१७४), जिनेन्द्र का भजन कर (१७३)। हे भव्य ! तू मन-वच-काय से जिनेन्द्र की पूजा कर (२१४)। हे बंदे ! तू भगवान की बंदगी मत भूल (२१५) (२१६)। हे भाई ! जिनेन्द्र की स्तुति से सब कष्ट दूर हो जाते हैं (१७१)। हे भाई ! तू जिनेन्द्र का भजन कर, जिस समय तेरा कोई अन्य सहायक नहीं होगा उस समय जिनेन्द्र ही तेरा सहायक होगा (१८२)।

हे प्राणी ! तू सज्जनों की संगति कर (२२६)। तू मिथ्यात्व का त्याग कर, इसके समान दु:ख देनेवाला अन्य कोई नहीं है (२४१)। हे प्राणी ! सुगुरु तुझे सुहित की भावना से समझाते हैं (२७७)। तू मन की चंचलता छोड़ (२५०)। विचार कर कि हमें कौनसा धर्म पालन करना चाहिए (१२५)।

विषय-भोग की निस्सारता - विषय-भोगों की निस्सारता समझाते हुए कवि कहते हैं - हे चेतन! ये विषय-भोग पत्थर की नाव के समान हैं, ये तुझे भव-सागर में डुबा देंगे, इसलिए इन्द्रिय-विषयों का त्याग कर और जिनेन्द्र का भजन कर (२०९)। विषय-भोग को तजो (७८) (२९९)। विषय-भोग सर्प के समान हैं (७७)। ये विषय विष के समान हैं (२५९), ये प्रारम्भ में सुखकारी लगते हैं पर अन्त में क्षयकारी होते हैं (२४०)। इनका फल अपार दु:ख है

(९९)। तूने विषयों के कारण अनेक दु:ख पाये हैं फिर भी तुझे उनसे ही प्रीति है (११०), तू उन्हें क्यों नहीं छोड़ता (१११)? अरे ! मात्र एक-एक इन्द्रिय-विषय के लोभ से प्राणी की अत्यन्त दुर्गति होती है और तू, मनुष्य तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में खोया हुआ है (८६) ! अरे ! ये पंचेन्द्रिय के विषय तस्कर हैं, चोर हैं, तू इनसे अपने गुणरूपी रत्नों की संभाल कर (२४८)। तुम मनुष्य भव पाकर भी उसे विषयों में क्यों खो रहे हो (१००) ? तुम समझो ! यदि विषय-विकार मिट जाए तो तुम्हें सहज सुख मिल जाए (८५), हे चेतन ! ये कौनसी चतुराई है कि तुम आत्मा के हित को छोड़कर विषय-भोगों में लग रहे हो (१४९) !

मोह-कषाय आदि की घातकता - हे जीव ! मोह, कषाय आदि बहुत दु:खकारी हैं, यह समझाते हुए कवि कहते हैं – जिसके प्रति तेरा राग है वह तुझे अच्छा लगता है और जिसके प्रति द्वेष है वह बुरा लगता है (२७१)। अरे भाई ! यह मोह महादु:खदायी है (१३७)। तूने बहुत तप किया, काया सुखाई, मौन रखा पर मन की शल्य, मन की कषाय नहीं गई तो सब व्यर्थ है (२५०)। तूने महीने-महीनेभर के उपवास करके अपनी काया को तो सुखा लिया पर क्रोध-मान आदि कषायों को नहीं जीता तो तेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा (२४२)। हे जिय ! तू क्रोध क्यों करता है (२९५) ? हे जीव, क्षमा धारण कर (२९६)। हे चेतन ! तू धन के पीछे भाग रहा है पर यह धन तेरे साथ जानेवाला नहीं है (९९)। अरे जिय! यह लोभ कषाय महा दु:खदायी है (२९७), तू मन में संतोष धारण कर (२९८)।

देह की पृथकता - कवि जीवों को देह और आत्मा की पृथकता समझाते हुए कहते हैं – जीव और देह दोनों की विधि पृथक् है (१०४)। यह पुद्गल देह चेतन आत्मा से भिन्न है, न्यारी है (१२६)। यह देह 'जड़' है, हमें यह ही दिखाई देती है, पर यह समझ लो कि यह 'चेतन' आत्मा से भिन्न है (१४५), यह आत्मा घट (शरीर) में रहकर भी घट से न्यारी है (१४६)। यह देहरूपी सराय फूटी हुई है। इसमें से धर्मरूपी रतन क्यों खो रहा है (९०)? यह काया दु:खों की ढेरी है (२५६)। यह काया अत्यन्त अपवित्र है (१०१)। हे प्राणी! तू नित्य ही इस देह का पोषण करता है फिर भी यह निरन्तर सूखती ही जाती है और तुझे धोखा देती है (१२४)। हे प्राणी ! तुम इस देह को पाल रहे हो पर यह एक दिन जल जाएगी (९९)। इसलिए गुरु फिर समझाते हैं कि हे चेतन !

यह देह तेरे साथ नहीं जानेवाली फिर भी तू क्यों इसका पोषण करता रहता है (२३३) ? पर जीव नहीं मानता, वह फिर भी इस देह से मोह करता है और उससे आशा रखता है कि यह मेरे साथ रहेगी - हे काया ! अपन जन्म से अब तक रात-दिन एकसाथ रहे हैं, इसलिए अब मृत्यु के बाद भी तू मेरे साथ/संग चल. तू अब मेरा साथ क्यों छोड़ रही है (२३७) ? तब कवि देह के माध्यम से समझाते हैं - यह देह जीव से कहती है कि हे जीव ! तूने मेरा स्वरूप नहीं जाना, तू और मैं अनेक बार मिले-बिछुड़े पर फिर भी तूने मेरा स्वभाव नहीं जाना ! तुम और मैं बिल्कुल भिन्न हैं (२३७)।

संसार की नश्वरता - संसार की नश्वरता समझाते हुए कवि कहते हैं इस जग में कुछ भी स्थिर नहीं है (१४६)। यह संसार स्वप्न के समान क्षणभंगुर है, यहाँ जो अभी दिख रहा है उसका विनाश होने में कुछ देर नहीं लगती (२४०)। यह संसार असार है जैसे कि ओस का मोती (७६)। यहाँ जो एकबार बिछुड़ जाता है उसका मिलना फिर असंभव है (२७०)। यहाँ प्रत्येक स्थिति परिवर्तनशील है इसलिए यहाँ सुख है ही नहीं। यहाँ क्षण में कोई मरता है और क्षण में कोई जीता है (२६९)। इस संसार में कुछ भी अपना नहीं है फिर भी तेरी-मेरी करते ही सारा जीवन बीतता है (२६१)। तू इस तथ्य को समझ कि इस संसार में न हम किसी के हैं और न कोई हमारा है, जगत में जो तेरे-मेरे का व्यवहार चलता है वह सब झूठा है (२७१)। इसलिए तू अपने प्रिय लोगों के मरने पर शोक मत कर, यहाँ लोगों का मिलना नदी नाव के संयोग के समान कुछ देर के लिए ही होता है (२७०)। इसलिए यह संसार हेय है (२६०)।

कुटुम्ब/मित्र की निस्सारता - हे जीव ! यह सारा संसार ठगरूप है, यहाँ तेरा अपना कोई नहीं है (२३५)। जिनको तू अपना कहता है वे कोई तेरे नहीं हैं (१०३)। यहाँ भाई भी शत्रु बन जाते हैं, माता-पिता, पत्नी पुत्र सब स्वार्थ के साथी हैं (२४०)।

गुरु द्वारा भर्त्सना बार-बार समझाने पर भी प्राणी नहीं समझता तो गुरु उसकी भर्त्सना भी करने लगते हैं। कवि कहते हैं कि तब गुरु कहते हैं कि हे नर ! तू जानता/समझता क्यों नहीं (१०६) ? हे चेतन ! यह कौनसी चतुराई है कि तुम आत्मा के हित को छोड़कर विषय-भोगों में ही लग रहे हो (१४९) ! अरे प्रमादी जीव ! तूने अपनी आत्मा को नहीं पहचाना (१४२), इसलिए तू संसार-सागर में जन्म-मरण कर रहा है (१२८)। हे मित्र ! तू निश्चिन्त होकर

क्यों सो रहा है (९०) ? हे चेतन ! तुझे क्या कहें ! अपने पूर्व कर्म के संयोग से यह अवसर प्राप्त करके भी तू विषयों में उलझ रहा है (२३८) ! हे जीव ! सारा जग स्वार्थ में डूबा हुआ है और तू स्वार्थ/स्व-अर्थ को भूल रहा है (२३६)। अरे ! तू चाहता तो सुख है पर सुख देनेवाले धर्म को ग्रहण नहीं करता, हितकारी बात तेरे हृदय में नहीं बैठती (२३२)। हे चेतन ! देख जीवघात करने से नरक जाना होगा जहाँ अत्यन्त दुःख सहने होंगे (२३३)। देख ! तू अपने कार्यों से संसार महावन में भटकता रहता है, अनेक जन्म धारण करता रहता है (१२१) (१२२)। तूने स्वयं ने पाप कमाये हैं, अब उनके दुःख भी तुझे ही सहन करने पड़ेंगे (२५४)।

स्वहित की भावना - गुरु के संबोधन से, जिनवाणी के पढ़ने-सुनने से, मनुष्य/प्राणी में स्वहित की भावना जागृत होती है तब उसके विचार कैसे होते हैं, क्या होते हैं - इसका चित्रण करते हुए कवि कहते हैं - हे मेरे मन ! ऐसी स्थिति कब होगी कि जब मैं सभी जीवों को अपने समान समझूँगा (२६२) ! हे प्रभु ! ऐसा कब होगा कि मुझे इस संसार से वैराग्य होगा (२६२) ! ऐसा अवसर कब होगा कि मैं मुनिव्रत धारणकर आत्मकल्याण कर सकूँगा (२७६) ! ऐसा अवसर कब आयेगा जब मैं आत्मा का ध्यान करूँगा (१३६) !

आत्म-सम्बोधन - स्वहित की भावना से ओत-प्रोत मनुष्य स्वयं को सम्बोधता है उस स्थिति का चित्रण करते हुए कवि कहते हैं - हे मन ! वीतराग का ध्यान कर (९८) ! हे मन ! तू अरिहंत का स्मरण कर (१६६)। तू अपने घट (शरीर) में विराजित आत्मा का ध्यान कर (९८)। हे मन ! आत्मदेव को भज, इससे ही शिवपद मिलेगा (१२०)। हे मेरे मन ! तू मेरी बात मान, सब बातें छोड़कर तू केवल प्रभु का भजन कर (१६८)। हे बावरे मन ! तू इधर-उधर कहाँ भटक रहा है ? तू 'जिन' का नाम स्मरण कर (१७५)। हे मन ! श्री जिनराज के गीत गा ले इससे मंगल होता है (२१२), इससे करोड़ों पापों का नाश होता है (२१३)। हे मन ! तू समझ ले कि किसकी भक्ति करने से तेरा हित होगा (१७०) ! तू विचार कर कि यह आत्मा/ब्रह्म कैसा है (१२७)। हे प्राणी। तू विचार कर कि तू कौन है ! तेरा स्वरूप क्या है (९२) ! अरे ! अपना हित कर (९२) (९३)। हे मन ! अपना चिन्तवन कर (९५)। अरे यह तथ्य समझ कि जिनपद चाहने से नहीं मिलता, जिनपद तो आचरण से मिलता है।

जब सब प्रकार की चाह मिट जाती है तब जिनपद मिलता है (१७६)। हे प्राणी ! तुम तो चतुर हो, फिर क्यों नहीं समझते (१०१) ? अरे भैया ! आत्मा को जान, जिसके कारण पाँच इन्द्रियों का गाँव - यह देह सक्रिय रहती है (१३१)।

हे मन ! तू राग भाव को दूर कर, क्योंकि इसके कारण ही कर्मों का आस्रव होता है (१३३)। हे जिय ! कर्मों का नाश करने से ज्ञान प्रकट होता है (३०६)। अपने कर्मों की वृद्धि की रेखा को वे ही रोक सकते हैं जो अपने आप में अपने को धारण करते हैं (१५०)।

आत्म-भर्त्सना - गुरु आदि के समझाने पर जब प्राणी को यह समझ आता है कि मैं अब तक अपनी ही गलती, अपने ही मिथ्याज्ञान आदि के कारण दु:ख पाता रहा हूँ तब वह स्वयं की भर्त्सना करता है, स्वयं को समझाता है ओह ! हमने कभी भी अपनी आत्मा का चिन्तन नहीं किया तो हमें सुख कैसे हो सकता है (१५९) ? हमें मोक्षरूपी सुख कैसे मिल सकता है क्योंकि जो मोक्षसुख के साधक कारण हैं हममें उनमें से एक भी नहीं है (१५६) ? इसीलिए तो मैं इस संसाररूपी वन में घूम रहा हूँ, यह नरभव पाकर भी मैंने बहुत जीवों को सताया, इन्द्रिय भोगों में रत रहा, मिथ्यामतों में विश्वास किया (२३०)। ओह ! मनुष्य भव के हमारे ये दिन व्यर्थ ही गये ! न हमने जप किया न तप किया बल्कि पाप ही पाप उपार्जित किये हैं (२७४)। मैं दान-तप कुछ भी नहीं किया इसलिए मैं भवसागर से कैसे पार हो सकता हूँ (२०८) ? जब तक विषय-भोगों में, कषायों में लीन रहेंगे तब तक सुख कैसे हो सकता है (१५९) ? अरे मन! तू कहने को वीर बनता है पर कार्य करने में कच्चा है (९४)। जो आत्मा को नहीं जानता है वह अनेक जन्म धारण करता है, वह संसार महावन में भटकता रहता है (१२२) (१२९)।

अवसर की/नरभव की दुर्लभता - अरे प्राणी ! चारों गतियों में यह नरभव ही उत्तम है, इस नरभव के बिना मुक्ति संभव नहीं (१०३)। हे मनुष्य ! यह नरभव पाकर तू इसे व्यर्थ क्यों कर रहा है (१०२) (१६६)? हे प्राणी! मनुष्य भव बार-बार नहीं मिलता इसलिए तू इसे विषयों में मत गँवा (२४७)। अरे ! तूने भाग्योदय से यह नर देह पाई है, अब इसे व्यर्थ मत खो (२०९); हे प्राणी ! तेरे मनुष्य पर्याय के ये दिन बहुत अनमोल हैं, तू इनका लाभ अवश्य उठा ले

(२६४)। जब यह देह शिथिल होवे उससे पूर्व ही तुम तत्त्व-चिन्तन करलो, जप करलो, तप- साधन करलो (२५१) क्योंकि जिसने आत्मा को नहीं जाना उसने मनुष्य भव पानी में बहा दिया (१३४), यदि आत्मा का हित नहीं किया तो इस नरभव का फल नहीं मिलेगा (१०८)। जिनके हृदय में प्रभु नाम का स्मरण नहीं उसका नरभव पाना व्यर्थ है (१८०)।

आध्यात्मिक – जब प्राणी को अपनी आत्मा के प्रति, अपने स्वभाव के प्रति रुचि होने लगती है तो उसका विचार-चिन्तन-क्रिया सभी कुछ बदल जाते हैं, और उसके साथ ही उसके अनुभव भी बदल जाते हैं। उसके भावों का चित्रण करते हुए कवि ने कहा है – अब मैं जाना आतमराम (६८); हाँ मैंने जाना कि यह आत्मा पुद्गल- धर्म-अधर्म-आकाश-काल इन जड़ द्रव्यों से भिन्न है (८०)। आत्मा काच के समान निर्मल है (८१)। आत्मा का रूप अनुपम है, उसकी उपमा के लिए तीनों लोक में कोई अन्य द्रव्य नहीं है (८३)। मैं शुद्ध, ज्ञानमय, निर्मल स्वभाववाला हूँ (१३५)। मुझमें और भगवान में स्वरूप की दृष्टि से किंचित् भी अन्तर नहीं है (८४) मैंने समझ लिया है कि अन्य सब जीव भी मेरे ही समान हैं (६९)।

अब मुझे यह समझ में आ गया है कि जगत् में जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सब पुद्गल है इसलिए अब हमारी लगन आत्मा से लग रही है (१५५)। अब मैंने जान लिया है कि मैं चेतन द्रव्य हूँ और यह पुद्गल द्रव्य अचेतन है (१२३)। मैंने समझ लिया है कि ये देहादि परद्रव्य मेरे नहीं हैं (७१)। यह पुद्गल देह मेरी नहीं है (८७) (८८) (२४०)। यह देह विनाशी है और मैं अविनाशी हूँ (७०)। हमारा कार्य तभी सफल होगा जब हम संशय- विभ्रम मोह को त्यागकर स्व और पर को जानेंगे (२७३)।

अब हमने अपने स्वभाव को जान लिया है इसलिए अब हमारे ये दिन अच्छे बीत रहे हैं (११९)। अब मुझे अपनी आत्मा से नेह है, प्रीति है (१४०) (१४१)। अब हमें अपनी आत्मा को, अपने चेतन रूप को निहारना ही प्रिय है (१४४), अब आत्मा ही मेरा प्रिय है, मेरा महबूब है (८२)। इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानने पर ही सुख मिला है (११६)। आत्मा का अनुभव ही सार है (७७)।

धर्म का महत्त्व - हे प्राणी ! सबको धर्म ही सहायक है अन्य कोई नहीं (१४३)। हे जिय ! जैनधर्म धारणकर (२३९)। जो जैनधर्म धारण करता है वह आत्मिक सुख पाता है (२९९)। अनादि-अनन्त यह जैनधर्म सदा जयवन्त रहे (१५३)।

विपरीत मान्यता - अरे भाई ! मुझे समझाओ कि किस देवता की भक्ति करने से सुख/हित होगा (१७०)? यह कहा जाता है कि लोक में एक ब्रह्म है वही लोक का नियन्ता है यह बात मेरी समझ में नहीं आती (८९)। हे मित्र ! मुझे बताओ कि परमेश्वर की नीति-रीति क्या है ? क्या वही संसार के जीवों को जन्म देता है और फिर वही उन्हें मार भी देता है (२७७)? [illegible]

सदाचार

दान-शील (आचरण)-तप-संयम - हे भव्य ! निश्चय और व्यवहार से दान-तप-शील ये कल्याणकारी भावनाएँ हैं; ये जैनधर्म का सार हैं (२३९)। इसलिए हे भाई ! तुम जप-तप करो, दान करो, संयम रखो, पर-धन और पर-स्त्री से दूर रहो (२४९) (२५०)। हे प्राणी ! जब तक धन है, शक्ति है, यौवन है तब तक दान-शील-तप करते रहो, इन्हें मत भूलो (२५१)। जप-तप का सुफल परलोक में तो मिलता ही है, यहाँ पर भी जप-तप करनेवाले को वीर कहा जाता है (२५४)। इसलिए संयम करना चाहिए, संयम के बिना जीवन व्यर्थ हो जाएगा (२४३)। मन ही सब कार्यों का कारण है उसको वश में करो (२५०)। जो मन को वश में कर लेता है वही मोक्ष सुख पाता है (२५०)। अरे ! दान देने से महान सुख की प्राप्ति होती है (२४४)। दान, शील, तप, पूजा के बिना जीवन व्यर्थ है (२४६), इसलिए हे जिय ! तू अपने हृदय में दृढ़ता से शील (आचरण) को धारणकर, शील के बिना जप-तप सब व्यर्थ हैं (३००)। भाई ऐसा जप करो कि पुनः जप करने की आवश्यकता ही न हो, ऐसा तप करो कि फिर तप करने की आवश्यकता ही न हो, ऐसे मरो कि फिर दोबारा मरना ही न हो, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ही छूट जायें (९१)।

क्षमा - अरे भाई सब पर क्षमा भाव रख, वैर भाव तज (२९६)।

धैर्य - हे नर ! विपत्ति में धैर्य धारणकर (२६६)।

करुणाभाव - हे जीव ! अपने अन्तर में भी करुणा रखो और बाहर भी करुणा रखो (२५२), हे मनुष्य ! नरभव का लाभ उठा, उर में दया धारण कर (२३५), हे भाई ! करुणा कर, सब जीवों को अपने समान समझ (३०२) (२९६)। पर पीड़ा पाप है, यही धर्म का सार है (३०१) (३०२)। साधुजन कहते हैं कि करुणा करने से सुख मिलता है (३०३)। ज्ञानी जीव सदा दया भाव का पालन करते हैं (२७५)।

सत्संगति - अरे नर ! मनुष्य जन्म का लाभ उठा, सत्संगति में रह (२६४), सबको अच्छी संगति मिले इसलिए स्वयं भला बन और सबका भला कर (२९५)। अरे भाई ! संतजनों की संगति कर (२८२)।

सम्यक्त्व - जो सम्यक्ज्ञान से युक्त हैं, सुख-दुःख में समता रखते हैं वे ही संसार में सुख पाते हैं (११३)। हे प्राणी ! मिथ्या भाव छोड़ो, सम्यक आचार को पालो (२५३)।

आध्यात्मिक उपदेश के साथ-साथ कवि ने व्यवहार-जगत के लिए भी कहा है -

स्वजन-स्नेह - हे भाई ! अपने स्वजनों से स्नेह रखो, संसार में और सब-कुछ मिल सकते हैं, पत्नी-पुत्र फिर मिल सकते हैं पर सहोदर/माँ-जाया भाई मिलना बहुत कठिन है (२९३)।

साधर्मी जन/सैली सैली/सहेली/साधर्मीजनों का संगम सदा जयवन्त हो (३०४)।

तीर्थ-वन्दना कवि साधर्मीजनों को तीर्थयात्रा के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं - हे भव्य ! चलो बनारस में चलकर पूजा करें (५५), हे भव्य ! तुम हस्तिनापुर की वन्दना हेतु जाओ (३२३), वहाँ श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ और श्री अरहनाथ - इन तीनों तीर्थंकरों के गर्भ-जन्म व तप - ये तीनों कल्याणक सम्पन्न हुए हैं (२६)। हे भव्य ! मनुष्यों और देवों के लिए भी सुखदाई गिरनार पर्वत, जहाँ पर तीर्थंकर नेमिनाथ का मोक्ष कल्याणक हुआ है, चलो (३२१)। हे भव्य ! पावापुर चलो जहाँ पर तीर्थंकर महावीर का मोक्ष कल्याणक हुआ है और गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ है (६२) (६३)।

आयु/काल - अरे भाई ! संभल, मृत्यु तेरे द्वार पर ही खड़ी है (१३८)। हे चेतन ! तेरी आयु अब थोड़ी ही रही है, अब तो संभल (२३४)।

गर्व - हे प्राणी ! यहाँ जो भी पैदा हुआ है उनमें कोई भी मृत्यु के चंगुल से बच नहीं सका इसलिए तू गर्व मत कर (२५२), हे प्राणी ! तुम क्या देखकर गर्व करते हो जब कि यहाँ पर कुछ भी स्थिर नहीं है (२५५)।

परनिन्दा - अरे प्राणी ! परनिन्दा मत कर (२५०)।

लोभ - अरे जिय ! यह लोभ सदा दु:खदायी है (२९७), हे प्राणी ! मन में सदा सन्तोष रखो, इसके समान कोई दूसरा धन नहीं है (२९८)।

सुख-दु:ख - हे भाई ! तुम अपनी व्यथा किसे कहते हो ! ये सुख-दु:ख सब तुम्हारे ही उपजाये हुए हैं (२६७)। अरे भाई ! जैसे धूप और छाया घटती-बढ़ती रहती है वैसे ही सुख-दु:ख की स्थिति भी घटती-बढ़ती रहती है (२६६)।

परिग्रह - अरे प्राणी ! ये परिग्रह, ये सम्पदा सदैव दु:खकारी है (२६६)।

विविध

होली - कवि ने धार्मिक रूपक बाँधकर होली के त्यौहार का वर्णन/चित्रण किया है। कवि कहते हैं कि अब बसन्त ऋतु आगई, सब ज्ञानीजन होली खेलते हैं जिसमें धर्म की गुलाल उड़ती है और समता के रंग घोले जाते हैं (३०५)। चेतन/जीव क्षमारूपी भावभूमि पर करुणारूपी केसर से होली खेलते हैं (३०८)।

तपस्यारत नेमीश्वर भी होली खेल रहे हैं, वे महाव्रतरूपी वस्त्र धारणकर आध्यात्मिक होली खेल रहे हैं (३१०)। कवि ने 'चेतन/जीव' और 'सुमति' को परस्पर 'प्रिय' के रूप में चित्रित करते हुए उनके 'होली' सम्बन्धी भावों को प्रकट करते हुए लिखा है - सुमति कह रही है कि मेरे पिया (चेतन) घर में नहीं हैं, मैं किस के साथ होली खेलूँ (३११) ? नगर में होली हो रही है। पर मेरे 'प्रिय' चेतन घर में नहीं हैं अर्थात् वे आत्मस्थ नहीं हैं, वे जगत के बाह्य रूप में उलझे हुए हैं, इसलिए मैं होली कैसे खेलूँ (३०९) ? जब चेतन/जीव की रुचि 'स्व' की ओर होती है तब उसकी प्रिया कहती है - मेरे प्रिय चेतन घर लौट आये हैं अब मैं उनसे होली खेलूँगी (३१२) (३१३) (३०७)।

राम-सीता-भरत - कवि ने बलदेव राम उनकी पत्नी सीता तथा भाई भरत को लक्ष्य करके भी भजन लिखे हैं।

राम वनगमन के समय अपने छोटे भाई भरत को राज करने हेतु कहते हैं (३१६) भरत अपने भाई राम के रहते राज करने के लिए राजी नहीं होते, वे कहते हैं - मुझे राज से, भोग से कोई मतलब नहीं है, मैं संन्यास धारण करूँगा (३१७)।

इसी प्रकार रावण के घर रहकर आने के कारण लोकनिन्दावश राम सीता को गृह-निर्वासित करते हैं तब वन में प्रवेश करते समय सीता सारथि द्वारा राम को कहलवाती है - हे भाई ! राम से कहना कि लोकनिन्दा के भय से मुझे (सीता को) छोड़ दिया पर इस प्रकार किसी भय से या लोकनिन्दा से धर्म को मत छोड़ देना (३१८)।

अग्नि-परीक्षा द्वारा सीता के निर्दोष सिद्ध होने के बाद राम सीता से घर चलने का आग्रह करते हैं (३१९) तब सीता राम से कहती है - यह संसार दुःखों का समूह है, अब तो मैं निर्ग्रन्थ करूँगी, संन्यास धारण करूँगी (३२०)।

इस प्रकार कवि द्यानतराय ने आध्यात्मिक भजनों के साथ-साथ विविध विषयों से सम्बन्धित अत्यन्त मार्मिक एवं शिक्षाप्रद भजनों का सृजन किया है।

भजनों के हिन्दी अनुवाद के लिए प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य श्री ताराचन्द्र जैन, एडवोकेट का आभारी हूँ।

आशा की जाती है कि प्रस्तुत पुस्तक 'द्यानत भजन सौरभ' का समाज में प्रचार होगा।

पुस्तक प्रकाशन में सहयोगी कार्यकर्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति
जयपुर

श्रेयांसनाथ मोक्ष दिवस
श्रावण शुक्ल पूर्णिमा
वीर निर्वाण संवत् २५२९
१२.८.२००३

कवि द्यानतराय

(वि.सं. १७३३-१७८५; ई. सन् १६७६-१७२८)

कवि द्यानतराय सत्रहवीं शताब्दी के हिन्दी के जैन भक्ति रस के सुप्रसिद्ध कवियों में से एक प्रमुख कवि रहे हैं। कवि द्यानतराय आगरा के निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जाति के गोयल गोत्र में हुआ था। इनके पूर्वज लालपुर से आकर यहाँ बस गये थे। इनके पितामह का नाम वीरदास था और पिता का नाम श्यामदास था।

कवि द्यानतराय जी ने आगरा में उस समय पण्डित श्री मानसिंह द्वारा संचालित धर्मस्हैली का भरपूर लाभ लिया। इस धर्मस्हैली के माध्यम से पण्डित मानसिंह एवं पण्डित बिहारीदास के उपदेशों से श्री द्यानतराय को जैनधर्म के प्रति श्रद्धा जाग्रत हुई। ये विशुद्ध आध्यात्मिक विद्वान थे। इन्होंने अपना जीवन आध्यात्मिक गतिविधियों में ही लगा दिया।

काव्यविधा की दृष्टि से कवि की रचनाएँ पद, पूजा-पाठ-स्तोत्र, रूपक काव्य तथा प्रकीर्णक काव्य के रूप में हैं। कवि की रचनाओं में 'धर्मविलास (द्यानत विलास)' नामक संग्रह प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ 'जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई' से सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में ३३३ पद, अनेक पूजाएँ एवं कविताएँ संगृहीत हैं, सम्प्रति यह अनुपलब्ध है।

कवि के पद स्तुतिपरक, आध्यात्मिक, उपदेशी हैं और विषय-भोग, मोह कषाय, संसार-देह का स्वरूप दर्शाते हुए इनके प्रति विरक्ति/वैराग्य जागृत करानेवाले हैं। कवि के पदों के भाव, शब्द-चयन, वर्णनशैली अति सुन्दर है। इन पदों में मनुष्य मात्र को सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है।

विषय-सूची

संख्या भजन	पृष्ठ संख्या
तीर्थंकर	
१. आज आनन्द बधावा	१
२. माई ! आज आनन्द है या नगरी	२
३. ऋषभदेव ऋषदेव सहाई	३
४. ऋषभदेव जनम्यो धन घरी	५
५. जाको इन्द्र अहमिन्द्र भजत	६
६. तुम तार करुनाधार स्वामी	७
७. तेरे मोह नहीं	८
८. देखो नाभिनन्दन जगवंदन	९
९. फूली बसन्त जहँ आदीसुर	१०
१०. भज श्री आदिचरन मन मेरे	११
११. भज भज रे मन	१२
१२. माई ! आज आनन्द कछु कहे न बने	१३
१३. मैं बन्दा स्वामी तेरा	१४
१४. स्वामि नाभिकुमार	१५
१५. श्री आदिनाथ तारन तरनं	१६
१६. रुल्यो चिरकाल	१७
१७. अजितनाथ मन लावो रे	१९
१८. सेऊँ स्वामि अभिनन्दन को	२०
१९. प्रभुजी प्रभु सुपास	२१
२०. सांचे चन्द्रप्रभू सुखदाय	२२

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
२१.	तारि लै मोहि शीतलस्वामी	२३
२२.	शरन मोहि वासुपूज्य जिनवर की	२४
२३.	अब मोहि तार लै शान्ति जिनन्द	२५
२४.	अब मोहि तार लै कुंथु जिनेश	२६
२५.	अब मोहि तार लै अरह भगवान	२७
२६.	अपनो जानि मोहे तार लै	२८
२७.	अब मोहि तार लै नेमिकुमार	२९
२८.	अब मोहि तार लै नेमिकुमार	३०
२९.	अब हम नेमिजी की शरन	३१
३०.	ए री सखी ! नेमिजी को मोहि मिलावो	३२
३१.	कहा री ! करौं कित जाऊँ सखी	३३
३२.	कहुँ दीठा नेमिकुमार	३४
३३.	गिरनारि पै नेमि विराजत है	३५
३४.	चल देखैं प्यारी नेमि नवल व्रतधारी	३६
३५.	जय जय नेमिनाथ परमेश्वर	३७
३६.	तजि जो गये पिय मोहे	३८
३७.	देख्या मैंने नेमिजी प्यारा	३९
३८.	भजि मन प्रभु श्रीनेमि को	४०
३९.	तैं कहुँ देखै नेमिकुमार	४२
४०.	पिय वैराग्य लियो है	४३
४१.	पिय वैराग्य लियो है	४४
४२.	प्यारे नेमसौं प्रेम किया रे	४५
४३.	वन्दौं नेमि उदासी	४६

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
४४.	मूरति पर वारी रे	४७
४५.	मैं नेमिजी का बंदा	४८
४६.	नेमिजी तो केवलज्ञानी	४९
४७.	नेमि नवल देखैं चल री	५०
४८.	नेमि ! मोहि आरति तेरी हो	५१
४९.	सुन मन ! नेमि जी के वैन	५२
५०.	सुन री सखी ! जहाँ नेम गये तहाँ	५३
५१.	हाँ चल री ! सखी जहाँ आप विराजत	५४
५२.	ज्ञानी ज्ञानी ज्ञानी	५५
५३.	री मा ! नेमि गये किंह ठाऊँ	५६
५४.	काम सरे सब मेरे	५७
५५.	चल पूजां कीजे बनारस में जाय	५८
५६.	भज रे मन वा प्रभु पारस को	५९
५७.	भोर भयो भज श्रीजिनराज	६०
५८.	मोहि तार लै पारस स्वामी	६१
५९.	लगन मोरी पारस सों लागी	६२
६०.	हमको प्रभु श्रीपास सहाय	६३
६१.	अब मोहि तार लेहु महावीर	६४
६२.	देखे धन्य घरी	६५
६३.	पावापुर भवि बंदो जाय	६६
६४.	महावीर जीवाजीव खीर निरपाप ताप	६७
६५.	री चल बंदिये चल बंदिये	६८
६६.	कहा री कहूँ कछु कहत न आवै	६९

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
६७.	भज जम्बूस्वामी अन्तरजामी	७०
अध्यात्म		
६८.	अब मैं जाना आतमराम	७१
६९.	अब मैं जान्यो आतमराम	७२
७०.	अब हम अमर भये न मरेंगे	७३
७१.	अब हम आतम को पहचाना जी	७४
७२.	अब हम आतम को पहिचान्यौ	७५
७३.	अनहद शब्द सदा सुन रे	७६
७४.	आतम अनुभव करना रे भाई	७७
७५.	आतम अनुभव कीजै हो	७९
७६.	आतम अनुभव कीजिये	८०
७७.	आतम अनुभव सार हो	८२
७८.	आतम काज सँवारिये	८३
७९.	आतम जान रे जान रे	८४
८०.	आतम जाना, मैं जाना	८५
८१.	आतम जानो रे भाई	८६
८२.	आतम महबूब यार	८७
८३.	आतमरूप अनूपम है	८९
८४.	आपा प्रभु जाना मैं जाना	९०
८५.	आतमरूप सुहावना	९१
८६.	आतमज्ञान लखैं सुख होइ	९३
८७.	आप में आप लगा जी सु हौं तौ	९४
८८.	इस जीव को यों समझाऊँ री	९५

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
८९.	एक ब्रह्म तिहुँ लोक मँझार	९६
९०.	ए मेरे मीत ! निचीत कहा सोवै	९८
९१.	ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई	९९
९२.	कर कर आतमहित रे प्रानी	१००
९३.	कर रे ! कर रे ! कर रे ! तू आतम हित कर रे	१०१
९४.	कहिवे को मन सूरमा	१०२
९५.	कर मन ! निज आतम चिंतौन	१०३
९६.	कर मन वीतराग को ध्यान	१०५
९७.	कारज एक ब्रह्म ही सेती	१०६
९८.	घट में परमातम ध्याइये हो	१०७
९९.	चेतनजी ! तुम जोरत हो धन	१०९
१००.	चेतन ! तुम चेतो भाई	११०
१०१.	प्राणी ! तुम तो आप सुजान हो	१११
१०२.	चेतन नागर हो तुम	११२
१०३.	चेतन प्राणी चेतिये हो	११५
१०४.	चेतन ! मान लै बात हमारी	११७
१०५.	जगत में सम्यक उत्तम भाई	११८
१०६.	जानत क्यों नहिं रे	११९
१०७.	जानो धन्य सो धन्य	१२०
१०८.	जो तैं आतमहित नहिं कीना	१२१
१०९.	जानौं पूरा ज्ञाता सोई	१२२
११०.	तुमको कैसे सुख ह्वै मीत	१२३
१११.	तुम चेतन हो	१२४

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
११२.	तुम ज्ञानविभव फूली वसन्त	१२५
११३.	देखे सुखी सम्यक्वान	१२६
११४.	देखो भाई ! आतमराम विराजै	१२७
११५.	निरविकलप जोति प्रकाश रही	१२८
११६.	पायो जी सुख आतम लखकै	१२९
११७.	प्राणी ! आतमरूप अनूप है	१३०
११८.	प्राणी ! सोऽहं सोऽहं ध्याय हो	१३२
११९.	बीतत ये दिन नीके	१३३
१२०.	भजो आतमदेव रे जिय	१३४
१२१.	भवि कीजे हो आतमसंभार	१३६
१२२.	भम्यो जी भम्यो, संसार महावन	१३७
१२३.	भाई! अब मैं ऐसा जाना	१३८
१२४.	भाई ! कौन कहे घर मेरा	१४०
१२५.	भाई ! कौन धरम हम पालैं	१४२
१२६.	भाई ! जानो पुद्गल न्यारा रे	१४३
१२७.	भाई ! ब्रह्म विराजै कैसा	१४५
१२८.	भाई ब्रह्मज्ञान नहीं जाना रे	१४७
१२९.	भाई ! ज्ञान बिना दुःख पाया रे	१४९
१३०.	भाई ! ज्ञानी सोई कहिये	१५१
१३१.	भैया ! सो आतम जानो रे	१५२
१३२.	मगन रहु रे ! शुद्धात्म में	१५३
१३३.	मन मेरे ! राग भाव निवार	१५४
१३४.	मानुषभव पानी दियो	१५५

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
१३५.	मैं एक शुद्ध ज्ञाता	१५७
१३६.	मैं निज आतम कब ध्याऊँगा	१५८
१३७.	रे भाई ! मोह महा दुखदाता	१५९
१३८.	रे भाई ! सँभाल जगजाल में	१६०
१३९.	लाग रह्यो मन चेतनसौं जी	१६१
१४०.	लागा आतम सौं नेहरा	१६२
१४१.	लागा आतमराम सौं नेहरा	१६३
१४२.	वे परमादी ! तैं आतमराम न जान्यो	१६४
१४३.	सबको एक ही धरम सहाय	१६५
१४४.	सब जग को प्यारा	१६६
१४५.	सबमें हम, हममें सब ज्ञान	१६७
१४६.	सुन चेतन इक बात हमारी	१७०
१४७.	सुनो! जैनी लोगों, ज्ञान को पंथ कठिन है	१७२
१४८.	सुनो जैनी लोगों ! ज्ञान को पंथ सुगम है	१७३
१४९.	सुन सुन चेतन ! लाड़ले	१७४
१५०.	सोई कर्म की रेख पै मेख मारे	१७५
१५१.	सोई ज्ञान सुधारस पीवै	१७६
१५२.	सो ज्ञाता मेरे मन माना	१७७
१५३.	श्री जिनधर्म सदा जयवन्त	१७८
१५४.	शुद्ध स्वरूप को वन्दना हमारी	१७९
१५५.	हम लागे आतमरामसों	१८०
१५६.	हमको कैसे शिवसुख होई	१८१
१५७.	हम तो कबहुँ न निज घर आये	१८३

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
१५८.	हो स्वामी ! जगत जलधि तैं तारो	१८४
१५९.	हो भैया मोरे ! कहु कैसे सुख होय	१८५
१६०.	हो कोई निपट अनारी [illegible]	१८६
१६१.	ज्ञाता सोई सच्चा वे	१८८
१६२.	ज्ञान सरोवर सोई हो भविजन	१८९
१६३.	ज्ञान ज्ञेयमाहिं नाहिं	१९०
१६४.	ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारै	१९१
१६५.	ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारै	१९३
भक्ति		
१६६.	अरहंत सुमर मन बावरे	१९५
१६७.	इक अरज सुनो साहिब मेरी	१९६
१६८.	ए मन, ए मन कीजिए भज प्रभु	१९७
१६९.	करुनाकर देवा	१९८
१७०.	किसकी भगति किये हित होहि	१९९
१७१.	कोढ़ी पुरुष कनक तन कीनो	२०१
१७२.	चौबीसों को बन्दना हमारी	२०२
१७३.	जिन के भजन में मगन रहु रे	२०३
१७४.	जिन जपि जिन जपि	२०४
१७५.	जिन नाम सुमर मन ! बावरे !	२०५
१७६.	जिनपद चाहै नाहीं कोय	२०६
१७७.	जिनराय के पाय सदा शरनं	२०७
१७८.	जिनवरमूरत तेरी शोभा कहिय न जाय	२०८
१७९.	जिन साहिब मेरे हो	२०९

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
१८०.	जिनके हिरदै प्रभु नाम नहीं	२१०
१८१.	जिनके हिरदै भगवान बसैं	२११
१८२.	जैन नाम भज भाई रे	२१२
१८३.	श्री जिननाम अधार	२१३
१८४.	तुम अधम उधारनहार हो	२१४
१८५.	तुम प्रभु कहियत दीनदयाल	२१५
१८६.	तू जिनवर स्वामी मेरा	२१६
१८७.	तू ही मेरा साहिब सच्चा सांई	२१७
१८८.	तेरी भगति बिना धिक है जीवना	२१८
१८९.	त्रिभुवन में नामी	२१९
१९०.	दरसन तेरा मन भावै	२२०
१९१.	दास तिहारो हूँ	२२१
१९२.	देखे जिनराज आज, राजऋद्धि पाई	२२२
१९३.	देखो भाई ! श्री जिनराज विराजै	२२३
१९४.	देखो ! भेक फूल लै निकस्यो	२२४
१९५.	मेरी बेर कहा ढील करी जी	२२५
१९६.	मोहि तारो हो देवाधिदेव	२२६
१९७.	मानुष सफल भयो आज	२२७
१९८.	मैं नू भावैजी प्रभु चेतना	२२८
१९९.	मोहि तारो जिन साहिब जी	२२९
२००.	परमेसुर की कैसी रीत	२३०
२०१.	प्रभु अब हमको होहु सहाय	२३१
२०२.	प्रभु तुम चरन शरन लीनौं	२३२

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
२०३.	प्रभु ! तुम नैनन-गोचर नाहीं	२३३
२०४.	प्रभु तुम सुमरन ही मे तारे	२३४
२०५.	प्रभु तेरी महिमा कहिय न जाय	२३५
२०६.	प्रभु तेरी महिमा किहि मुख गावैं	२३६
२०७.	प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी	२३७
२०८.	प्रभुजी मोहि फिकर अपार	२३८
२०९.	भजो जी भजो जिनचरनकमल को	२३९
२१०.	भवि ! पूजौ मन वच श्रीजिनन्द	२४०
२११.	भोर उठ तेरो मुख देखों जिनदेवा	२४१
२१२.	रे ! मन गाय लै, मन गाय लै	२४२
२१३.	रे मन ! भज भज दीनदयाल	२४३
२१४.	वीतराग नाम सुमर	२४४
२१५.	बंदे ! तू बंदगी न भूल	२४५
२१६.	बंदे तू बंदगी कर याद	२४६
२१७.	सच्चा साईं, तू ही मेरा प्रतिपाल	२४७
२१८.	सेठ सुदरसन तारनहारा	२४८
२१९.	हम आये हैं जिनभूप	२४९
२२०.	हे जिनराजजी, मोहि दुखतैं लेहु छुड़ाइ	२५०
२२१.	हे श्री जिनराज नीतिराजा	२५२
२२२.	श्री जिनदेव ! न छांडि हों	२५३
२२३.	श्री जिनराय ! मोहे भरोसो भारी	२५५

उपदेशी

२२४.	अब समझ कही	२५७

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
२२५.	आरसी देखत मन आर-सी लागी	२५८
२२६.	कर सतसंगति रे भाई	२५९
२२७.	काया ! तू चल संग हमारे	२६०
२२८.	काहे को सोचत अतिभारी	२६२
२२९.	कौन काम अब मैंने कीनो	२६३
२३०.	कौन काम अब मैंने कीनो	२६४
२३१.	गलता नमता कब आवैगा	२६५
२३२.	चाहत है सुख पै न गाहत है धर्म जीव	२६६
२३३.	चेतन ! मान हमारी बतियाँ	२६७
२३४.	चेत रे ! प्रानी! चेत रे	२६८
२३५.	जग ठग मित्र न कोय वे	२६९
२३६.	जीव ! तैं मूढ़पना कित पायो	२७०
२३७.	जीव ! तैं मेरी सार न जानी	२७१
२३८.	जीवा ! शूं कहिये तनैं भाई	२७३
२३९.	जैन धरम धर जीयरा	२७४
२४०.	झूठा सपना यह संसार	२७६
२४१.	त्यागो त्यागो मिथ्यातम	२७८
२४२.	तू तो समझ समझ रे ! भाई	२७९
२४३.	तेरो संजम बिन रे, नरभव निरफल जाय	२८०
२४४.	दियैं दान महा सुख पावै	२८१
२४५.	दुरगति गमन निवारिये	२८२
२४६.	धिक् धिक् जीवन समकित बिना	२८३
२४७.	नहिं ऐसो जनम बारंबार	२८४

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
२४८.	निज जतन करो गुन-रतननि को	२८५
२४९.	परमारथ पंथ सदा पकरो	२८६
२५०.	प्राणी लाल ! छांडो मन चपलाई	२८७
२५१.	प्राणी लाल ! धरम अगाऊ धारौ	२८९
२५२.	प्राणी ! ये संसार असार है	२९०
२५३.	बसि संसार में मैं पायो दुःख अपार	२९२
२५४.	भाई ! आपन पाप कमाये आये	२९३
२५५.	भाई ! कहा देख गरवाना रे	२९५
२५६.	भाई काया तेरी दुख की ढेरी	२९७
२५७.	भाई ! ज्ञान का राह दुहेला रे	२९८
२५८.	भाई ! ज्ञान का राह सुहेला रे	२९९
२५९.	मानों मानों जी चेतन यह	३००
२६०.	मिथ्या यह संसार है	३०१
२६१.	मेरी मेरी करत जनम सब बीता	३०२
२६२.	मेरे मन कब ह्वै है वैराग	३०३
२६३.	मोहि कब ऐसा दिन आय है	३०४
२६४.	ये दिन आछे लहे जी लहे जी	३०५
२६५.	रे जिय ! जनम लाहो लेह	३०६
२६६.	विपति में धर धीरा	३०७
२६७.	वीर ! री पीर कासों कहिये	३०८
२६८.	समझत क्यों नहि वानी	३०९
२६९.	संसार में साता नहिं वे	३१०
२७०.	सोग न कीजिए बावरे	३११

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
२७१.	हम न किसी के कोई न हमारा	३१२
२७२.	हमारे कारज कैसे होय	३१३
२७३.	हमारो कारज ऐसे होय	३१४
२७४.	हमारे ये दिन यों ही गये जी	३१६
२७५.	ज्ञानी जीव दया नित पालैं	३१७
गुरु		
२७६.	कब हौं मुनिवर को व्रत धरिहों	३१८
२७७.	कहत सुगुरु करि सुहित भविकजन	३१९
२७८.	गुरु समान दाता नहीं कोई	३२०
२७९.	धनि ते साधु रहत वनमाहीं	३२१
२८०.	धनि धनि ते मुनि गिरिवनवासी	३२२
२८१.	भाई धनि मुनि ध्यान लगाय के खरे हैं	३२३
२८२.	यारी कीजै साधो नाल	३२४
२८३.	सोहा दीव साधु तेरी बातड़ियाँ	३२५
जिनवाणी		
२८४.	कलि में ग्रंथ बड़े उपगारी	३२६
२८५.	गौतम स्वामीजी मोहि वानी तनक सुनाई	३२९
२८६.	जब वानी खिरी महावीर की	३३०
२८७.	जिनवानी प्रानी ! जान लै रे	३३१
२८८.	तारन को जिनवानी	३३२
२८९.	वे प्राणी ! सुज्ञानी, जान जान जिनवाणी	३३३
२९०.	साधजी ने बानी तनिक सुनाई	३३४

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या

विविध

२९१. एक समय भरतेश्वर स्वामी ... ३३५
२९२. मैं न जान्यो री ! जीव ऐसी करैगो ३३६
२९३. कीजे हो भाईयनि सों प्यार ३३७
२९४. क्रोध कषाय न मैं करौं ३४०
२९५. रे जिय ! क्रोध काहे करै ३४२
२९६. सबसों छिमा छिमा कर जीव ३४३
२९७. जियको लोभ महा सुखदाई ३४४
२९८. गहु सन्तोष सदा मन रे ३४५
२९९. साधो ! छांडो विषय विकारी ३४६
३००. रे जिया ! सील सदा दिढ राखि हिये ३४८
३०१. तैं चेतन करुणा न करी रे ३४९
३०२. रे भाई ! करुना जान रे ३५०
३०३. वे साधौं जन गाई ३५१
३०४. सैली जयवन्त यह हूजो ३५२
३०५. आयो सहज वसन्त ३५३
३०६. कर्मनि को पेलै, ज्ञान दशा में खेलै ३५४
३०७. खेलौंगी होरी, आये चेतनराय ३५५
३०८. चेतन खेलै होरी ३५६
३०९. नगर में होरी हो रही हो ३५८
३१०. नेमीश्वर खेलन चले, रंग हो हो होरी ३५९
३११. पिया बिन कैसे खेलौं होरी ३६१
३१२. भली भई यह होरी आई ३६२

संख्या	भजन	पृष्ठ संख्या
३१३.	होरी आई आज रंग भरी है	३६३
३१४.	परमगुरु बरसत ज्ञान झरी	३६४
३१५.	री ! मेरे घट ज्ञान घनागम छायो	३६५
३१६.	राम भरतसों कहैं सुभाइ	३६६
३१७.	कहैं भरतजी सुन हो राम	३६७
३१८.	ए रे वीर रामजीसों कहियो बात	३६८
३१९.	कहै राघौ सीता चलहु गेह	३६९
३२०.	कहै सीताजी सुनो रामचन्द्र	३७०
३२१.	सुरनरसुखदाई, गिरनारि चलौ भाई	३७२
३२२.	हथनापुर वंदन जइये हो	३७३
३२३.	मंगल आरती कीजे भोर	३७४
३२४.	इहविधि मंगल आरति कीजे	३७६
३२५.	आरति श्री जिनराज तिहारी	३७८
३२६.	करौं आरती वर्द्धमान की	३८०
३२७.	मंगल आरति आतमराम	३८२
३२८.	आरति कीजै श्री मुनिराज की	३८४

(१)

राग आसावरी

आज आनन्द बधावा ॥ टेक ॥

जनम्यो आदीसुर नाभीके भौंन।
कीनौं सब इन्द्र मिलि, मेरुपै न्हौंन ॥ आज. ॥ १ ॥

ऐरावत शक्र चढ़्यो, गोदमें किशोर।
नाचत हैं अपछरा सु सत्ताइस कोर ॥ आज. ॥ २ ॥

अजोध्या नगर सब, घेर्‌यो देवि देव।
नर नारी अचरज यहं, देखैं सब एव ॥ आज. ॥ ३ ॥

'द्यानत' मरुदेवीपद, सची सीस नाय।
धन धन जग माता, हमैं सुख दाय ॥ आज. ॥ ४ ॥

आज आनन्द-वृद्धि हो रही है अर्थात् आज सब ओर प्रसन्नता का वातावरण हो रहा है।

श्री नाभिराय के घर में (भगवान) आदिनाथ का जन्म हुआ है, जिनको मेरु पर ले जाकर इन्द्र और देवता आदि सबने मिलकर, जन्मकल्याणक (जन्मोत्सव) मनाया है, उनका न्हवन किया है।

इन्द्र ऐरावत हाथी पर आसीन होकर गोद में (भगवान) आदीश्वर को लिये हुए है। सत्ताइस करोड़ अप्सरायें नृत्य कर रही हैं। सब देवी-देवता अयोध्यानगरी के चारों ओर खड़े हैं, जैसे उन्होंने चारों ओर से अयोध्या को घेर लिया हो और सब नर-नारी उस दृश्य को, उस घटना को बड़े अचरज व कौतूहल से देख रहे हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि इन्द्राणी आकर माता मरुदेवी के चरणों में नमन करती है। धन्य है वह माता जिसने ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया है जिसके कारण सर्वत्र सुख व आनन्द व्याप्त हो गया है।

(२)

राग परज

माई! आज आनन्द हैं या नगरी ॥ टेक ॥

गज-गमनी शशि-वदनी तरुनी, मंगल गावत हैं सिगरी ॥ १ ॥ माई. ॥

नाभिरायघर पुत्र भयो है, किये हैं अजाचक जाचक री ॥ २ ॥ माई. ॥

'द्यानत' धन्य कूँख मरुदेवी, सुर सेवत जाके पग री ॥ ३ ॥ माई. ॥

हे माई! इस नगर में आज अतिशय आनन्द व्याप्त है। हथिनी की तरह मस्त होकर मदमाती चाल से चलनेवाली, चन्द्रमा के मुख के समान सुन्दर युवतियाँ मिलकर मंगल गा रही हैं।

श्री नाभिराजा के घर पुत्र उत्पन्न हुआ है, इस अवसर पर जो माँगनेवाले हैं अर्थात् जो याचक हैं, उनको भी अयाचक बना दिया है। अर्थात् सभी को इच्छानुसार देकर सन्तुष्ट किया जा रहा है जिससे वे फिर याचक न रहें।

द्यानतराय कहते हैं उस मरुदेवी की कूंख धन्य है, देवगण भी उनके चरणों की सेवा करते हैं।

(३)

राग रामकली

ऋषभदेव ऋषदेव सहाई ॥ टेक ॥

अजित अजितरिपु संभव संभव, अभिनन्दन नन्दन लख लाई ॥ ऋषभ. ॥

सुमति सुमति भवि पदम पदम अलि, देत सुपास सुपास भलाई।
चितचकोरचंदा चंदप्रभ, पुहपदन्त पुहपनि भजि भाई! ॥ ऋषभ. ॥ १ ॥

शीतल शीतल जड़ता नासैं, श्रेयान श्रेयान जोत जगाई।
वासुपूज्य वासव पद पूजैं, विमल विमल कीरति जग छाई ॥ ऋषभ. ॥ २ ॥

गुन अनन्त अघ अन्त अनन्त हैं, धरम धरमवरषा वरषाई।
शान्ति शान्त कुंथ्यादि जन्तुपर, कुंथुनाथ करुणा करवाई ॥ ऋषभ. ॥ ३ ॥

अरह अरहविधि मल्ल मल्लिवर, मुनिसुव्रत मुनि सुव्रत दाई।
नमि नमि सुरनर नेमि धरमरथ, नेमिप्रभू काटैं भव-काई ॥ ऋषभ. ॥ ४ ॥

पास पास छेदी चहुँगतिकी, महावीर महावीर बड़ाई।
'द्यानत' परमानंद पद कारन, चौवीसी नामारथ गाई ॥ ऋषभ. ॥ ५ ॥

हे ऋषभदेव, हे मुनिनाथ! आप ही सहायक हैं।

हे अजितनाथ! अजेय (जिसे जीता न जा सके ऐसा) शत्रु भी आपको जीत न सका।

हे सम्भवनाथ! आपके स्मरण से भव में समता आती है; संयोग बनते हैं। हे अभिनन्दन! आपका रूप इन्द्र की वाटिका की छटा के समान मनोहारी व मुग्ध करनेवाला है।

हे सुमतिनाथ! आप सुमति के देनेवाले हैं। हे पद्मप्रभ! आप भव्यजनरूपी भ्रमरों के लिए कमल के समान हैं। हे सुपार्श्व! आपके समीप सब का भला होता है आपका सामीप्य सुखदायक है। हे चन्द्रप्रभ! आप मेरे चित्तरूपी चकोर को

आनन्दित करने के लिए चन्द्रमा के समान हैं तथा हे पुष्पदन्त! आप पुष्पों की भाँति प्रफुल्लित करनेवाले हैं।

हे शीतलनाथ! आप शीतल होकर भी जड़ता का नाश करनेवाले हैं। हे श्रेयांसनाथ! आप पुण्य को जगानेवाले श्रेष्ठता के प्रतिरूप हैं। हे वासुपूज्य, आप धरणेन्द्र द्वारा पूजनीय हैं और विमलनाथ की विमल कीर्ति सारे जगत में फैली है।

हे अनन्तनाथ! आप अनन्तगुणों को बढ़ानेवाले और अनन्त पापों का नाश करनेवाले हैं। हे धर्मनाथ! आप धर्म की वर्षा करनेवाले हैं, धर्ममय वातावरण प्रदान करते हैं। हे शान्तिनाथ आप शान्ति-प्रदायक हैं। कुंथुनाथ छोटे-छोटे जीवों के प्रति भी करुणा जागृत करनेवाले हैं।

हे अरहनाथ! आप विधिपूर्वक पूजनीय हैं। हे मल्लिनाथ! आपने मोहरूपी मल्ल को जीत लिया है। हे मुनिसुव्रत! आप मुनियों के द्वारा व्रत-पालन के श्रेष्ठतम प्रतीक हैं। हे नमिनाथ! देव व मनुष्य आपके चरणों की वंदना करते हैं, आप धर्मरूपी रथ की धुरी हैं। हे नेमिनाथ! आप भव की कालिमा को दूर करनेवाले हैं।

हे पार्श्वनाथ! आप चारों गतियों के बंधन को छेदनेवाले हैं और भगवान महावीर आप महान वीरता की वृद्धि करनेवाले हैं। द्यानतराय कहते हैं इन चौबीस तीर्थंकरों की नामावली का सार्थक गुणगान व स्मरण परमानन्द पद (मोक्ष) का कारण व दाता है।

(४)

राग विलावल

ऋषभदेव जनम्यौ धन घरी ॥ टेक ॥

इन्द्र नचैं गंधर्व बजावैं, किन्नर बहु रस भरी ॥ ऋषभ. ॥

पट आभूषन पुहुपमालसों, सहसबाहु सुरतरु व्है हरी।
दश अवतार स्वांग विधि पूरन, नाच्यो शक्र भगति उर धरी ॥ ऋषभ. ॥ १ ॥

हाथ हजार सबनिपै अपछर, उछरत नभमें चहुँदिशि फरी।
करी करन अपछरी उछारत, ते सब नटैं गगनमें खरी ॥ ऋषभ. ॥ २ ॥

प्रगट गुपत भूपर अंबरमें, नाचैं सबै अमर अमरी।
'द्यानत' घर चैत्यालय कीनौं, नाभिरायजी हो लहरी ॥ ऋषभ. ॥ ३ ।

यह घड़ी, वह समय धन्य है, जब भगवान श्री ऋषभदेव का जन्म हुआ। इन्द्र ने नृत्य किया, गंधर्वों ने बाजे बजाए, किन्नरों ने संवेद रस से पूरित भाँति-भाँति की राग-रागिनियों से सारे वातावरण को रसमय कर दिया, सरस कर दिया।

वस्त्र-आभूषण (गहने), पुष्पों की माला लेकर कल्पवृक्ष की भाँति सहस्रबाहु रूप धारणकर इन्द्र ने दशों दिशाओं में विक्रिया करते हुए भक्तिपूर्वक नृत्य किया।

इन्द्र ने विक्रिया से हजार हाथ बनाये, उन हजारों हाथों पर अप्सराओं ने नृत्य किया। स्वयं इन्द्र ने उछल-उछल कर सभी दिशाओं में नृत्य किया। अप्सराओं ने आकाश में अनेक प्रकार नृत्य किया। इन्द्र ने अनेक प्रकार की नट क्रियाएँ कीं कभी अन्तर्ध्यान हुए, कभी पृथ्वी पर दीखे तो कभी आकाश में प्रगट हुए। इस प्रकार सभी देवी देवताओं ने भक्ति से नृत्य किया। द्यानतराय कहते हैं कि नाभिराय का घर उस प्रसन्नता की लहर में मानों एक चैत्यालय-मन्दिर ही हो गया।

पट = वस्त्र।

जाकौं इंद अहमिंद भजत, चंद धरनिंद भजत,
व्यंतरके ईश भजत, भजत लोकपाल ॥ जाकौं. ॥

राम भजत काम भजत, चक्री प्रतिकेसो भजत,
नारद मुनि कृष्ण रुद्र, भजत गुनमाल ॥ जाकौं. ॥ १ ॥

श्रुत-ज्ञानी औधि-ज्ञानी, मनपर्जै ज्ञानी ध्यानी,
जपी तपी साधु सन्त, भजत तिहूँ काल ॥ जाकौं. ॥ २ ॥

राग-दोष-भाव-सुन्न, जाके नहिं पाप पुन्न,
ऐसे आदिनाथ देव, 'द्यानत' रखवाल ॥ जाकौं. ॥ ३ ॥

हे प्राणी! तीर्थंकर श्री आदिनाथ ऐसे रक्षक हैं जिनको इन्द्र, अहमिन्द्र भजते हैं, चन्द्र और धरणेन्द्र भजते हैं, व्यंतरों के स्वामी और लोकपाल भी भजते हैं। जिनको बलभद्र राम भी भजते हैं, कामदेव भी भजते हैं। चक्रवर्ती भजते हैं। प्रतिनारायण भी भजते हैं, नारद, मुनिगण, कृष्ण, रुद्र, सब जिनका गुनगान करते हैं, स्तवन करते हैं।

श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी, ध्यान करनेवाले, जप-तप करनेवाले, साधु-सन्त, सब तीनों काल जिनका ध्यान करते हैं, स्मरण करते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि राग-द्वेष भावों से शून्य, पुण्य-पाप से रहित ऐसे भगवान आदिनाथ ही एकमात्र रक्षक हैं, रखवाले हैं।

(६)

तुम तार करुनाधार स्वामी! आदिदेव निरंजनो॥ तुम.॥

सार जग आधार नामी, भविक जन-मनरंजनो॥ तुम.॥ १॥

निराकार जमी अकामी, अमल देह अमंजनो॥ तुम.॥ २॥

करौ 'द्यानत' मुकतिगामी, सकल भव-भय-भंजनो॥ तुम.॥ ३॥

हे आदिदेव! आप दोषरहित हैं। आप करुणा-धारक हैं मुझे तारिए अर्थात् इस भव-समुद्र से पार उतारिए।

आप जगत में साररूप एक प्रसिद्ध आलंबन हैं, आधार हैं, जो भव्यजनों के मन को अतिआनन्द-प्रदायक हैं।

आप निराकार हैं, आपका कोई पुद्गलाकार नहीं है। आप संयमी-स्वउपयोग में रत, इच्छाविहीन व कामनारहित हैं, अन्तर-बाह्य दोनों मलरहित हैं अर्थात् आपकी देह भी मलरहित है (इसलिए आपको देह-शुद्धि की भी आवश्यकता नहीं होती)।

द्यानतराय कहते हैं कि मुझको मुक्ति की ओर अग्रसर कर मेरे भवरूपी भय को सम्पूर्ण रूप से, जड़मूल से नष्ट कर दो।

जमी - यमी - संयमी।

तैरैं मोह नहीं ॥ टेक ॥
चक्री पूत सुगुनघर बेटो, कामदेव सुत ही ॥ तैरैं. ॥

नव भव नेह जानकैं कीनौ, दानी श्रेयँस ही।
मात तात निहचै शिवगामी, पहले सुत सब ही ॥ तैरैं. ॥ १ ॥

विद्याधरके नृप कर कीनौं, साले गनधर ही।
बेटीको गननी पद दीनों, आरजिका सब ही ॥ तैरैं. ॥ २ ॥

पोता आप बराबर कीनों, महावीर तुम ही।
'द्यानत' आपन जान करत हौ, हम हू सेवक ही ॥ तैरैं. ॥ ३ ॥

हे निर्मोही! तेरे कोई मोह नहीं है अर्थात् न राग है और न द्वेष है। तू वीतरागी है।

आपके भरत चक्रवर्ती जैसे पुत्र हैं जो गुणों के घर थे तथा बाहुबली कामदेव भी आपके पुत्र थे।

नौ भव पूर्व के नेह के कारण ही, उस कारण को जानकर, स्मरणकर राजा श्रेयांस ने आपको आहारदान दिया। आपके पुत्र अनन्तवीर्य आपसे पहले मोक्षगामी हुए, आपके माता-पिता भी निश्चय से मोक्षगामी हुए। नमि और विनमि को विद्याधरों का राजा बनाया और आपके साले कच्छ और सुकच्छ भी आपके गणधर बने। पुत्री को सब आर्यिकाओं में प्रमुख पद दिया।

अपने पौत्र मरीचि के जीव को तीर्थंकर महावीर के रूप में अपने बराबर का पद दिया। द्यानतराय कहते हैं कि आप हमें भी अपना जानकर कि हम भी आपके सेवक हैं, हमारा भी उद्धार करो।

कच्छ और सुकच्छ ऋषभदेव के साले थे। वे इनके बहत्तरवें व चौहत्तरवें गणधर थे।

देखो नाभिनंदन जगवंदन मदन भंजन गुन निरंजन,
राजको समाज साज, वन विचरत॥ देखो.॥

इन्द्रिनिसौं नेह तोरि, सकल कषाय छोरि,
आतमसौं प्रीत जोरि, धीरज धरत॥ देखो.॥ १॥

राग दोष मोषकर, मोष भाव पोषकर,
पोष विषैं सोष करि, करम हरत॥ देखो.॥ २॥

'द्यानत' मेरू समान, थिर तन मन ध्यान,
इन्द्र धरनिंद्र आनि, पाँइन परत॥ देखो.॥ ३॥

हे भव्य जीवो! देखो! नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव जो जगत-पूज्य हैं, जगत के द्वारा पूजनीय हैं, कामदेव का नाश करने वाले हैं, सब कालिमा रहित हैं और गुणों की खान हैं, उन्होंने राज समाज को सँभला दिया है और स्वयं वन में विचरण कर रहे हैं।

वे इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होकर, सब कषायों को छोड़कर अपनी आत्मा से प्रीत जोड़ते हुए, लगाते हुए, धैर्य धारण किए हुए हैं। परमधीर हैं।

राग-द्वेष का नाशकर, मोक्षप्राप्ति की भावनासहित, विषयपोषण को सोखकर-सुखाकर, कर्म निर्जरा कर रहे हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि वे मेरु के समान अचल तन हैं और मन से ध्यानमग्न हैं। इन्द्र व धरणेन्द्र आकर उनके चरणों में अपना शीश झुकाते हैं, चरणों में नमते हैं।

फूली बसन्त जहँ आदीसुर शिवपुर गये ॥ टेक ॥
भारतभूप बहत्तर जिनगृह, कनकमयी सब निरमये ॥ फूली. ॥

तीन चौबीस रतनमय प्रतिमा, अंग रंग जे जे भये।
सिद्ध समान सीस सम सबके, अद्भुत शोभा परिनये ॥ फूली. ॥ १ ॥

बालि आदि आहूठ-कोड़ मुनि, सबनि मुकति सुख अनुभये।
तीन अठाई फागनि खग मिल, गावैं गीत नये नये ॥ फूली. ॥ २ ॥

वसु जोजन वसु पैड़ी गंगा, फिरी बहुत सुरआलये।
'द्यानत' सो कैलास नमौं हौं, गुन कापै जा बरनये ॥ फूली. ॥ ३ ॥

अहा! कैलाश पर्वत जहाँ से भगवान आदीश्वर मोक्ष को पधारे, वहाँ सर्वत्र बसन्त ऋतु अपने पूरे यौवन पर है। अर्थात् बसन्त ऋतु के पुष्प सर्वत्र लहलहाने व महकने लगे हैं। शीतल सुमधुर बयार सर्वत्र मन्द-मन्द फैलकर ऋतुराज के आगमन की सूचना दे रही है और वातावरण को सुवासित व नयनाभिराम कर रही है। वहाँ इस भरत खण्ड के राजा भरत के द्वारा निर्मित तीन चौबीसी के श्रेष्ठ, सुन्दर, स्वर्णमय बहत्तर जिन चैत्यालय सुशोभित हो रहे हैं।

तीन चौबीसी की रत्नजड़ित बहत्तर प्रतिमाएँ, विभिन्न रंगों में अत्यन्त शोभायमान हैं। सब सिद्धों की एकसमान प्रतिमाएँ होने से अद्भुत सुन्दर लगती हैं।

वहाँ से बालि आदि साढ़े तीन करोड़ मुनि मुक्त होकर अनन्त सुख का अनुभव कर रहे हैं। तीनों अठाइयों में से फाल्गुन मास की अठाई (अष्टाह्निका पर्व) के समय भाँति-भाँति के पक्षीगण प्रफुल्लता से भरकर, हुलसित होकर चहचहा रहे हैं, गीत गा रहे हैं।

जहाँ आठ योजन में आठ पैड़ियाँ हैं, जहाँ से गंगा का उद्‌गम है तथा जहाँ पर अनेक देवताओं का निवास है, द्यानतराय भगवान आदीश्वर की निर्वाणभूमि कैलाश को बार-बार नमन करते हैं, जिसका पूर्णरूपेण वर्णन करने की सामर्थ्य किस में है अर्थात् किसी में नहीं है।

आहूठ-आहुट्ठ साढ़े तीन।

भज श्रीआदिश्वरन मन मेरे, दूर होंय भव भव दुख तेरे॥ टेक॥
भगति बिना सुख रंच न होई, जो ढूंढै तिहुं जगमें कोई॥ भज.॥

प्रान-पयान-समय दुख भारी, कंठविषैं कफकी अधिकारी।
तात मात सुत लोग घनेरा, ता दिन कौन सहाई तेरा॥ भज.॥ १॥

तू बसि चरण चरण तुझमाहीं, एकमेक ह्वै दुविधा नाहीं।
तातैं जीवन सफल कहावै, जनम जरामृत पास न आवै॥ भज.॥ २॥

अब ही अवसर फिर जम घेरैं, छांड़ि लरक-बुध सद्गुरु टेरैं।
'द्यानत' और जतन कोउ नाहीं, निरभय होय तिहूँ जगमाहीं॥ भज.॥ ३॥

ऐ मेरे मन! तू भगवान आदिनाथ के चरणों का नित्य स्मरण-चिंतन व भजन कर, उससे ही तेरे जन्म-जन्मांतर के, भव-भव के दुःख दूर होंगे। ऐसी भक्ति. विश्वास व आस्था के बिना किसी को भी तीनों लोकों में ढूँढ़ने पर भी, प्रयत्न करने पर भी लेश मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

जब प्राण छूट रहे हों, मृत्यु-समय समीप हो, उस समय जो विकलता, दुःख व कष्ट होता है, कंठ कफ से अवरुद्ध हो जाते हैं, मल-विसर्जन की सारी क्रियाएँ शिथिल हो जाती हैं। उस कष्ट के समय माता, पुत्र व अन्य लोग कोई भी तेरा सहायक नहीं होता।

तू भगवान आदिनाथ के चरणों में चित्त लगा और चिन्तन कर कि उनके चरण तेरे हृदय-कमल पर आसीन रहें। ऐसी भक्ति की भावना में एकमेक होकर गुंथ जा, जिससे कोई दुविधा या संशय नहीं रहे और जीवन सफल हो जाए और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापे के कोई कष्ट न हो अर्थात् जन्म, मरण और जरा से निवृत्ति का एक यही उपाय है, राह है।

अभी अवसर है, अन्यथा फिर समीप आती मृत्यु घेर लेगी। जब तक मृत्यु न आवे तब तक लड़कपन छोड़कर सद्गुरु की शरण ग्रहण कर। द्यानतराय कहते हैं कि संसार के दुःख दूर करने के लिए और कोई उपाय नहीं है। एक यह ही उपाय है, यत्न है, प्रक्रिया है जिससे तीन लोक के सब भय दूर होकर निर्भयता की प्राप्ति होती है।

(११)

भज रे भज रे मन! आदिजिनंद, दूर करैं तेरे अघवृंद॥ टेक॥

नाभिराय मरुदेवी नंद, सकल लोकमें पूनमचन्द॥ भज.॥ १॥

जाको ध्यावत त्रिभुवनइंद, मिथ्यातमनाशन जु दिनंद॥ भज.॥ २॥

शुद्ध बुद्ध प्रभु आनँदकंद, पायो सुख नास्यो दुखदंद॥ भज.॥ ३॥

जाको ध्यान धरैं जु मुनिन्द, तेई पावत परम अनंद॥ भज.॥ ४॥

जिनको मन-वच-तन-करि वंद, 'द्यानत' लहिये शिवसुखकंद॥ भज.॥ ५॥

हे मेरे मन! तू आदि जिनेन्द्र भगवान ऋषभदेव का भजन कर, गुणगान कर, जिससे तेरे सारे पाप (पापों का समूह) दूर हो जाएँगे।

पिता नाभिराय और माता मरुदेवी के पुत्र सारे संसार में पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की भाँति सुशोभित हैं।

तीनों लोक व इंद्र उनको ध्याते (उनका ध्यान करते) हैं। वे मिथ्यात्वरूपी गहन अंधकार का नाश करने के लिए सूर्य के समान हैं।

वे पूर्णतया शुद्ध हैं, ज्ञानी हैं, आनन्द की खान हैं/पिंड हैं। उन्होंने समस्त दुःखों का नाश कर दिया है, वे अनन्तसुख के स्वामी हैं।

मुनिजन भी सदैव उनका ध्यान करते हैं और परम आनन्द को प्राप्त करते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जो उनकी मन, वचन और काय से वन्दना करता है वह मोक्षरूपी सुख-पिंड को प्राप्त करता है।

दिनंद = सूर्य, पिण्ड = समूह, राशि।

माई! आज आनन्द कछु कहे न बनै ॥ टेक ॥

नाभिराय मरुदेवी-नंदन, ब्याह उछाह त्रिलोक भनै ॥ माई. ॥ १ ॥

सीस मुकट गल माल अनूपम, भूषन बसनन को बरनै ॥ माई. ॥ २ ॥

गृह सुखकार रतनमय कीनों, चौंरी मंडप सुरगननै ॥ माई. ॥ ३ ॥

'द्यानत' धन्य सुनंदा-कन्या, जाको आदीश्वर परनै ॥ माई. ॥ ४ ॥

हे मां! आज के आनंद का वर्णन कुछ कहते नहीं बनता अर्थात् पूर्णरूपेण कहा नहीं जा सकता, बहुत कुछ अनकहा रह जाता है।

श्री नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र श्री ऋषभदेव के विवाहोत्सव के अवसर पर तीन लोक में अति उत्साह है।

मस्तक पर मुकुट, गले में धारण की हुई सुन्दर माला व वस्त्र आभूषण की सुन्दरता का कोई कैसे वर्णन करे।

देवों द्वारा सारा घर रत्नमय रच दिया गया है और मंडप की चउरि को अत्यन्त सजाया गया है।

द्यानतराय कहते हैं कि वह सुनन्दा नाम की कन्या धन्य है जिससे श्री आदिनाथ ने परिणय किया है।

(१३)

राग धमाल

मैं बन्दा स्वामी तेरा ॥ टेक ॥

भव-भय भंजन आदि निरंजन, दूर करो दुख मेरा ॥ मैं. ॥ १ ॥

नाभिरायनन्दन जगवन्दन, मैं चरननका चेरा ॥ मैं. ॥ २ ॥

'द्यानत' ऊपर करुना कीजे, दीजे शिवपुर-डेरा ॥ मैं. ॥ ३ ॥

हे प्रभु! मैं आपका सेवक हूँ।

हे सर्वदोषरहित! आप भव-भ्रमण का नाश करनेवाले हैं। आप मेरा भी दु:ख दूर कीजिए।

हे नाभिराय के पुत्र! आप जगत के द्वारा वंदनीय हैं। मैं आपके चरणों का सेवक हूँ।

द्यानतराय कहते हैं कि मुझ पर कृपा कर मुझे मोक्षपुरी में निवास प्रदान करें अर्थात् मुझे भी मोक्ष प्राप्त हो।

(१४)

स्वामी नाभिकुमार! हमकौं क्यों न उतारो पार॥ टेक॥

मंगलमूरति है अविकार, नाम भजैं भजैं विघन अपार॥ स्वामी.॥ १॥

भवभयभंजन महिमा सार, तीन लोकजिय तारनहार॥ स्वामी.॥ २॥

'द्यानत' आये शरण तुम्हार, तुमको है सब शरम हमार॥ स्वामी.॥ ३॥

हे भगवान आदिनाथ! हे नाभिकुमार (नाभिराय के पुत्र)! आप हमें भवसागर के पार क्यों नहीं उतारते?

आपकी मूरत अविकारी है, मंगलमय है। आपके नाम जपने मात्र से अनेक विघ्न टल जाते हैं।

आप भव-भव भ्रमण के भय से मुक्त करानेवाले हैं। आपकी यह प्रमुख विशेष महिमा है कि आप तीन लोक के प्राणियों को तारनेवाले हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि अब हम आपकी शरण में आ गए हैं, अब हमारी लाज रखना आपके ही हाथ में है।

(१५)

राग गौरी

आदिनाथ तारन तरनं ॥ टेक ॥
नाभिरायमरुदेवीनन्दन, जनम अयोध्या अघहरनं ॥ आदि. ॥

कलपवृच्छ गये जुगल दुखित भये, करमभूमि विधि सुखकरनं।
अपछर नृत्य मृत्य लखि चेते, भव तन भोग जोग धरनं ॥ आदि. ॥ १ ॥

कायोत्सर्ग छमास धर्‌यो दिढ़, वन खग मृग पूजत चरनं।
धीरजधारी बरसअहारी, सहस बरस तप आचरनं ॥ आदि. ॥ २ ॥

करम नासि परगासि ज्ञानको, सुरपति कियो समोसरनं।
सब जन सुख दे शिवपुर पहुँचे, 'द्यानत' भवि तुम पद शरनं ॥ आदि. ॥ ३ ॥

हे भगवान आदिनाथ! आप स्व व पर को अर्थात् सबको तारनेवाले हैं। पापों का नाश करने के लिए आपका जन्म अयोध्या नगरी में नाभिराय व मरुदेवी के पुत्र के रूप में हुआ।

काल की गति व परिणमन के कारण कल्पवृक्ष लुप्त हो गए, इसमें जो जुगलिया उत्पन्न हुए वे दुःखी हो गए। तब आपने कर्मभूमि में जीवन-निर्वाह की सुखकारी विधि बताई। अप्सरा नीलांजना की नृत्य करते समय हुई मृत्यु को देखकर उससे वस्तु-स्वरूप को जानकर आपको संसार से वैराग्य हो गया और आप भव (संसार), तन व उसके भोग से विरक्त हो गए।

वन में जाकर छह माह का कायोत्सर्ग तप किया। तब वहाँ पशु-पक्षी सब आपके चरणों की वंदना करते थे। आप धैर्यवान थे। आपने एक वर्ष के अन्तराल पर आहार ग्रहण किया और सहस्र वर्षों तक तप-साधन किया।

कर्मों का नाशकर ज्ञान का प्रकाश किया अर्थात् केवलज्ञान प्रकट किया, तब इन्द्र ने समवसरण की रचना की। आप सभी भव्यजनों को अत्यन्त आनंदित करते हुए मोक्ष पधारे। द्यानतराय कहते हैं कि भव्यजन आपके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं।

(१६)

राग सोठ कड़खा

रुल्यो चिरकाल, जगजाल चहुँगति विषैं,
आज जिनराज-तुम शरन आयो ॥ टेक ॥

सह्यो दुख घोर, नहिं छोर आवै कहत,
तुमसौं कछु छिप्यो नहिं तुम बतायो ॥ रुल्यो. ॥ १ ॥

तु ही संसारतारक नहीं दूसरो,
ऐसो मुह भेद न किन्ही सुनायो ॥ रुल्यो. ॥ २ ॥

सकल सुर असुर नरनाथ वंदत चरन,
नाभिनन्दन निपुन मुनिन ध्यायो ॥ रुल्यो. ॥ ३ ॥

तु ही अरहन्त भगवन्त गुणवन्त प्रभु,
खुले मुझ भाग अब दरश पायो ॥ रुल्यो. ॥ ४ ॥

सिद्ध हौं शुद्ध हौं बुद्ध अविरुद्ध हौं,
ईश जगदीश बहु गुणनि गायो ॥ रुल्यो. ॥ ५ ॥

सर्व चिन्ता गई बुद्धि निर्मल भई,
जब हि चित जुगलचरननि लगायो ॥ रुल्यो. ॥ ६ ॥

भयो निहचिन्त 'द्यानत' चरन शर्न गहि,
तार अब नाथ तेरो कहायो ॥ रुल्यो. ॥ ७ ॥

हे जिनेश्वर! अनन्त काल से इस संसार में चारों गतियों में रुलता (भटकता) चला आ रहा मैं, अब आज आपकी शरण आया हूँ।

मैंने घोर दु:ख सहे हैं वे भी इतने कि जिनको कहा जावे तो भी उसका अन्त नहीं आवे। वह सब आपसे कुछ छुपा हुआ नहीं है, आप सब जानते हैं। अर्थात् आपके ज्ञान में वह सब दीख रहा है।

यह निर्विवाद सत्य है, किसी के मुख से कही हुई नहीं है कि केवल आप ही संसार से तारने में समर्थ हैं, कोई अन्य नहीं है।

हे नाभिनन्दन! समस्त देव, असुर, नरेश आपके चरणों की वन्दना करते हैं। तपस्वी मुनिजन भी आपका ध्यान करते हैं।

आज मेरा भाग्योदय हुआ है कि मुझे आज अब आपके दर्शन हुए हैं। आप अरहंत हैं, सभी गुणों के धारी हैं।

आप ही सिद्ध हैं, शुद्ध हैं, ज्ञानी हैं, अविरुद्ध हैं, आपका कोई सानी (समता करनेवाला) नहीं है। आप ही ईश्वर हैं, सारे जगत के स्वामी हैं। सब आप का ही गुणगान करते हैं।

जैसे ही मेरा मन आपके चरण-कमल में एकाग्र होकर रत हुआ तभी सारी चिन्ता-भार से मैं मुक्त हो गया और मेरी बुद्धि निर्मल हो गई।

द्यानतराय कहते हैं जैसे ही आपके चरणों की शरण ग्रहण की कि मैं निश्चिन्त हो गया, अब मैं आपका कहलाता हूँ। अब आप मुझे इस भवसागर के पार लगा दो, मुझे तार दो।

(१७)

अजितनाथसों मन लावो रे॥ टेक॥

करसों ताल वचन मुख भाषौ, अर्थमें चित्त लगावो रे॥ अजित.॥

ज्ञान दरस सुख बल गुनधारी, अनन्त चतुष्टय ध्यावो रे।
अवगाहना अबाध अमूरत, अगुरु अलघु बतलावो रे॥ अजित.॥ १॥

करुनासागर गुनरतनागर, जोतिउजागर भावो रे।
त्रिभुवननायक भवभयघायक, आनंददायक गावो रे॥ अजित.॥ २॥

परमनिरंजन पातकभंजन, भविरंजन ठहरावो रे।
'द्यानत' जैसा साहिब सेवो, तैसी पदवी पावो रे॥ अजित.॥ ३॥

हे भव्य जीव! भगवान अजितनाथ के गुण-चितंन में, उनके दर्शन में अपना मन लगावो। मुख से उनका गुणगान करते हुए, हाथ से ताल लगाते हुए अपने अन्तःकरण में गुणगान की शब्दावली के अर्थ का अनुभव करो।

अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख व अनन्त बल के धारी अरहन्त देव के स्वरूप का ध्यान करो। उनकी अवगाहना अबाधित है, अमूर्तिक है, अगुरु व अलघु है।

वे गुणों की खान हैं। दया/करुणा के सागर हैं, ज्योतिस्वरूप हैं, उनका ध्यान करो, उनका चिन्तन करो। वे तीन लोक के नायक हैं। जन्म-मरण के अर्थात् भव के भय का नाश करनेवाले हैं। सबको आनन्द देनेवाले हैं, उनका गुणगान करो।

सर्वदोषरहित, पापों का नाश करनेवाले, भव्य जीवों के मन को प्रमुदित करनेवाले को अपने हृदय-कमल पर आसीन करो, स्थिर करो। द्यानतराय कहते हैं कि जैसे देव का, जिस रूप का, जैसे गुणों का तुम ध्यान/चिन्तन करोगे, तुम भी वैसे ही हो जाओगे अर्थात् वैसा ही पद प्राप्त करोगे।

(१८)

सेऊं स्वामी अभिनन्दनको॥ टेक॥

लेकै दीप धूप जल फल चरु, फूल अछत चंदनको॥ सेऊं॥ १॥

नाचौं गाय बजाय हरषसों, प्रीत करों वंदनको॥ सेऊं॥ २॥

'द्यानत' भगतिमाहिं दिन बीतैं, जीतैं भव फंदनको॥ सेऊं॥ ३॥

मैं अभिनन्दन स्वामी की भक्ति करता हूँ, सेवा करता हूँ।

दीप, धूप, जल, फल, पुष्प, अक्षत, चंदन अर्थात् अष्ट द्रव्य लेकर, मैं उनकी पूजा करता हूँ।

अत्यन्त मुदित होकर, गा-बजाकर, नाचकर, हर्षित होकर बड़ी भक्ति से मैं उनकी वंदना करता हूँ।

द्यानतराय कहते हैं कि जो (जितने) दिन, (जितना) समय इनकी भक्ति में व्यतीत होता है उतने दिन, उतने समय के लिए भव के दुःखों से मुक्त होता है।

(११)

प्रभुजी प्रभू सुपास! जगवासतैं दास निकास॥ टेक॥

इंदके स्वाम फनिंदके स्वाम, नरिंदके चन्दके स्वाम।
तुमको छांड़के, किसपै जावैं, कौनका ढूंढ़ैं धाम॥ प्रभु.॥ १॥

भूप सोई दु:ख दूर करै है, साह सोई दै दान।
वैद सोई सब रोग मिटावै, तुमी सबै गुनवान॥ प्रभु.॥ २॥

चोर अंजन से तार लिये हैं, जार कीचकसे राव।
हम तो सेवक सेव करै हैं, नाम जपैं मन चाव॥ प्रभु.॥ ३॥

तुम समान हुए न होंगे, देव त्रिलोकमँझार।
तुम दयाल देवों के देव हो, 'द्यानत' को सुखकार॥ प्रभु.॥ ४॥

हे भगवान सुपार्श्वनाथ! मुझ दास को इस जगत के निवास से बाहर निकालिए।

आप इन्द्रों के स्वामी हैं। नागेन्द्र के स्वामी हैं। नरेशों के स्वामी हैं तथा अन्य सभी के स्वामी हैं। तब आपको छोड़कर अन्यत्र किसके पास जायें? अन्य कौन-सी ठौर देखें/ढूंढें?

राजा वही है जो प्रजा के दुख दूर करता है और श्रेष्ठि (सेठ) वही है जो दान दे। वैद्य वह ही उत्तम है जो सब रोग का निदान करे तथा उपचार करे। आपमें ये सब गुण विद्यमान हैं।

आपने अंजन से अधम चोर का भी उद्धार किया, उसे संसाररूपी कीचड़ से बाहर निकाला, कीचक जैसे दुराचारी का भी उद्धार किया। हम तो आपके सेवक हैं, आपकी भक्ति करते हैं, और मन से भक्तिपूर्वक आपका नाम जपते हैं।

आपके समान तीन लोक में न कोई हुआ और न होवेगा। द्यानतराय कहते हैं कि आप ही देवाधिदेव हैं, दयालु हैं, आप ही सुख प्रदान करनेवाले हैं।

(२०)

सांचे चन्द्रप्रभू सुखदाय॥ टेक॥

भूमि सेत अम्रतवरषाकरि, चंद नामतैं शोभा पाय॥ सांचे.॥ १॥

नर वरदाई कौन बड़ाई, पशुगन तुरत किये सुरराय॥ सांचे.॥ २॥

'द्यानत' चन्द असंखनिके प्रभु, सारथ नाम जपौं मन लाय॥ सांचे.॥ ३॥

हे चन्द्रप्रभ स्वामी। आप सचमुच/वास्तव में सुख प्रदान करनेवाले हैं।

पृथ्वी के मर्यादित क्षेत्र में अमृत की वर्षा करने के कारण आपने चन्द्र नाम से शोभा प्राप्त की है अर्थात् दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश की अमृतरूप चाँदनी से पृथ्वी को शान्ति प्रदान की है, ऐसे आप चन्द्रमा हैं।

ऐसे श्रेष्ठ नृपति की पशुगण भी अर्थात् तिर्यंच भी तथा इन्द्रादि देवगण भी स्तुति करते हैं, विरद गाते हैं, प्रशंसा करते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि आप असंख्यजनों के स्वामी हैं इसलिए आपके सार्थक नाम की माला मन लगा कर जपनी चाहिए।

तारि लै मोहि शीतल स्वामी ॥ टेक ॥

शीतल वचन चंद चन्दनतैं, भव-आताप-मिटावन नामी ॥ तारि. ॥ १ ॥

त्रिभुवननायक सब सुखदायक, लोकालोकके अंतरजामी ॥ तारि. ॥ २ ॥

'द्यानत' तुम जस कौन कहि सकै, बंदत पाँय भये शिवगामी ॥ तारि. ॥ ३ ॥

हे भगवान शीतलनाथ! मुझको तार दो, भव-समुद्र से पार लगा दो, उबार दो।

आपकी दिव्यध्वनि चन्द्रमा व चन्दन से भी कहीं अधिक शान्तिदायक है और भव-भ्रमण की तपन को मिटाने के लिए प्रसिद्ध है।

आप तीन लोक के नायक हैं, सब सुख देनेवाले हैं। लोक और अलोक, सभी के अन्तरंग की बातों को जानने व देखनेवाले हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि आपका यशगान करने की सामर्थ्य किसमें है? जो आपकी वंदना करता है, वह ही मोक्षगामी होता है।

(२२)

राग कान्हरा

शरन मोहि वासुपूज्य जिनवरकी॥ टेक॥

अधम-उधारन पतित-उबारन, दाता रिद्धि अमरकी॥ शरन.॥ १॥

अशरन शरन अनाथनाथजी, दीनदयाल नजरकी॥ शरन.॥ २॥

'द्यानत' बालजती जग-बंधू, बंधहरन शिवकरकी॥ शरन.॥ ३॥

हे वासुपूज्य भगवान! मुझे आपकी ही शरण है।

आप अधर्मीजनों का उद्धार करनेवाले हैं, पापियों को उबारनेवाले हैं और अमरत्व की अर्थात् अमर होने की ऋद्धि प्रदान करनेवाले हैं।

जिनका कोई शरण नहीं है, आप उन्हें शरण देनेवाले हैं। अनाथजनों के नाथ हैं। हे दीनदयाल आपकी कृपा दृष्टि रहे।

द्यानतराय कहते हैं कि आप बालयती हैं अर्थात् बाल ब्रह्मचारी हैं, जगत के बंधु हैं। बंध की शृंखला को तोड़नेवाले हैं और मोक्ष के प्रदाता हैं।

(२३)

अब मोहि तार लै शान्ति जिनन्द॥ टेक॥

कामदेव तीर्थंकर चक्री, तीनों पद सुखवृन्द॥ अब.॥ १॥

सुरनरजुत धरमामृत बरसत, शोभा पूरन चन्द॥ अब.॥ २॥

'द्यानत' तीनों लोक विघन छय, जाको नाम करन्द॥ अब.॥ ३॥

हे भगवान शान्तिनाथ! अब मुझ को तार लीजिए। आप कामदेव हैं, चक्रवर्ती हैं, तीर्थंकर भी हैं। तीनों पद सुख के समूह हैं।

समवशरण में दिव्यध्वनि रूप में धर्मामृत की वर्षा हो रही है। देव व मनुष्य सभी वहाँ एकत्रित हैं। आपकी शोभा पूर्णिमा के चन्द्र समान सुन्दर व पूर्ण है।

द्यानतराय कहते हैं कि आपका नाम, आपका स्मरण, तीन लोक के समस्त विघ्नों का नाश करनेवाला है, उनका क्षय करनेवाला है।

(२४)

अब मोहि तार लै कुंथु-जिनेश॥ टेक॥

कुंथादिक प्रानी प्रतिपालक, करुनासिंधु महेश॥ अब.॥ १॥

सम्यक-रतनत्रय-पद धारक, तारक जीव अशेष॥ अब.॥ २॥

'द्यानत' शोभा-सागर स्वामी, मुकतबधू-परमेश॥ अब.॥ ३॥

हे कुंथुनाथ जिनराज! अब मुझे तार लीजिए।

कुंथु जैसे छोटे प्राणियों के आप पालक हैं, करुणा के सागर हैं, महाईश हैं।

आपने रत्नत्रय को सम्यक्‌रूप में धारण किया है, आप सभी जीवों को तारनेवाले हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि आप पूर्ण शोभा के धारी हैं, शोभा के सागर हैं, स्वामी हैं तथा मुक्तिरूपी वधू के प्रिय कंत हैं, परम ईश हैं।

(२५)

अब मोहि तार लै अर भगवान ॥ टेक ॥

दीप बिना शिवराह प्रकाशक, भव-तम-नाशक भान ॥ अब. ॥ १ ॥

ज्ञानसुधाकरजोत सदा धर, पूरन शशि सुखदान ॥ अब. ॥ २ ॥

भ्रम-तप-वारन जगहितकारन, 'द्यानत' मेघ समान ॥ अब. ॥ ३ ॥

हे अरहनाथ भगवान! अब मुझे तार लीजिए।

आप घने अंधकार में, बिना दीपक के ही मोक्ष की राह दिखानेवाले हैं। इस संसार में भव-भवान्तर रूपी अंधकार का नाश करने के लिए भानु/सूर्य के समान है।

आप ज्ञानरूपी अमृत के सागर हैं, सदैव ज्ञान की ज्योति को धारण करते हैं और पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति अत्यन्त सुखदाता हैं।

भ्रम-संशय को तप से नष्ट करनेवाले हैं, उसका उन्मूलन करनेवाले हैं। सुख के कारण हैं। द्यानतराय कहते हैं कि आप मेघ के समान जगत के हितकारी हैं।

(२६)

अपनो जानि मोहि तार ले, स्वामी शान्ति कुंथु अर देव॥ टेक॥

अपनो जानकै भक्त पिछानकै, सुरपति कीर्नी सेव।
कामदेव जिन चक्रवर्तिपद, तीन भोग स्वयमेव॥ अपनो.॥ १॥

तीन कल्यानक हथनापुरमें, गरभ जनम तप भेव।
दशौं दिशा दश धर्म प्रकाश्यो, नास्यो अघ तम एव॥ अपनो.॥ २॥

सहस अठोतर नाम सुलच्छन, अच्छ बिना सुख बेव।
'द्यानतदास' आस प्रभु तेरी, नास जनम मृत टेव॥ अपनो.॥ ३॥

हे शांति, कुन्थु और अरहनाथ भगवान! मुझे अपना जान करके संसार से पार लगादो, तार लो।

आप तीनों ने कामदेव, जिनेन्द्र व चक्रवर्ती के पदों का स्वयं भोग किया है। इन्द्र ने आपको पहचान कर, अपना जानकर आपकी भक्तिपूर्वक सेवा की है।

आपके गर्भ, जन्म और तप तीनों कल्याणक हस्तिनापुर में हुए हैं। दसों दिशाओं में क्षमा आदि दश धर्म का प्रसार हुआ और भव्यजनों के पाप कर्मों का नाश हुआ है।

आपके १००८ नाम हैं, जिनके स्मरण से बिना इच्छा के सुख-लाभ होता है। द्यानतराय कहते हैं कि हे प्रभु! मुझे आपसे यही आशा है कि आप मुझे मेरे जन्म-मरण का नाशकर इस दुश्चक्र से छुड़ा देंगे। मेरी इस भव-भ्रमण की आदत (टेव) को नष्ट कर देंगे।

(२७)

अब मोहि तारि लै नेमिकुमार॥ टेक॥

खग मृग जीवन बंध छुड़ाये, मैं दुखिया निरधार॥ अब.॥ १॥

मात तात तुम नाथ साथ दी, और कौन रखवार॥ अब.॥ २॥

'द्यानत' दीनदयाल दया करि, जगतैं लेहु निकार॥ अब.॥ ३॥

हे नेमिनाथ[1]! अब मुझे तार लेओ।

आपने पशु-पक्षियों को स्वतंत्र किया, उन्हें बंधन मुक्त किया। मैं भी एक दुखिया हूँ जिसका कोई आधार/सहारा नहीं है, इसलिए हे नेमिनाथ, मुझे भी तारो।

हे नाथ! माता-पिता ने मुझे आपके साथ जीवन-निर्वाह हेतु वचन दे दिया, अब मेरा कौन रखवाला है?

द्यानतराय कहते हैं कि हे दीनदयाल! कृपा करके मुझको भी इस जगत से बाहर निकालो।

---

१. इस भजन में श्री नेमिनाथ की वाग्दत्ता राजुल की ओर से विनती की गई है।

(२८)

अब मोहि तारि लै नेमिकुमार॥ टेक॥

चहुँगत चौरासी लख जौंनी, दुखको वार न पार॥ अब.॥ १॥

करम रोग तुम वैद अकारन, औषध बैन-उचार॥ अब.॥ २॥

'द्यानत' तुम पद-यंत्र धारधर, भव-ग्रीषम-तप-हार॥ अब.॥ ३॥

हे नेमिनाथ! मुझको अब तार लो - मुझको पार लगा दो।

चारों गति की चौरासी लाख योनियों के दुःखों का कोई पार नहीं है।

कर्मरोग के निवारण के लिए आप सहजरूप से, बिना कारण के कुशल वैद्य हैं। आपके वैन (वचन), वाणी, दिव्यध्वनि ही, उसका उपचार है।

द्यानतराय कहते हैं कि मैं आपके चरण-कमलरूपी मंत्र को धारण करूँ जो भव-भव के ताप को दूर करनेवाले हैं।

(२१)

राग बिहागड़ो

अब हम नेमिजीकी शरन॥ टेक॥
और ठौर न मन लगत है, छांड़ि प्रभुके चरन॥ अब.॥

सकल भवि-अघ-दहन-वारिद, विरद तारन तरन।
इंद चंद फनिंद ध्यावैं, पाय सुख दुःख-हरन॥ अब.॥ १॥

भरम-तम-हर-तरनि-दीपति, करमगन खयकरन।
गनधरादि सुरादि जाके, गुन सकत नहिं बरन॥ अब.॥ २॥

जा समान त्रिलोकमें हम, सुन्यौ और न करन।
दास 'द्यानत' दयानिधि प्रभु, क्यों तजैंगे परन॥ अब.॥ ३॥

हे आत्मन्! अब हम भगवान नेमिनाथ की शरण में हैं। प्रभु की शरण छोड़कर अन्यत्र हमारा मन नहीं लगता है।

हे भगवन्! भवसागर से स्वयं तिरना और अन्य जनों को पार लगाना आपकी विशेषता/विरद है। आप समस्त भव्य जीवों को दग्ध करनेवाली पापरूपी अग्नि का शमन करने के लिए जल-भरे बादल के समान है। इन्द्र, चन्द्र, फणीन्द्र सभी आपका पवित्र स्तवन कर स्मरण करते हैं, जिससे वे सुख प्राप्त करते हैं, उनके दु:ख दूर हो जाते हैं।

आप भ्रमरूपी अंधकार को हरनेवाले हैं, स्वयं दीप्त हैं, प्रकाशवान हैं। आप भवसागर से पार उतारने के लिए नौका हैं, सब कर्मों का क्षय करनेवाले हैं। गणधर, देवता आदि भी आपके गुणों का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं।

हे नाथ! आपकी जैसी महिमावाला, गुणोंवाला अन्य कोई है ऐसा हमने कानों से नहीं सुना। द्यानतराय कहते हैं कि प्रभु! आप तो दयानिधि हैं, आप अपनी दयालु होने की टेव/आदत क्यों छोड़ेंगे?

(३०)

एरी सखी! नेमिजी को मोहि मिलावो॥ टेक॥

व्याहन आये फिर कित धाये, ढूंढि खबर किन लावो॥ एरी.॥ १॥

चोवा चन्दन अतर अरगजा, काहेको देह लगावो॥ एरी.॥ २॥

'द्यानत' प्रान बसैं पियके ढिग, प्रान के नाथ दिखावो॥ एरी.॥ ३॥

ए री सखी[१]! मुझको नेमिजी से मिला दो।

वे ब्याह करने आए थे, फिर कहाँ चले गए? उनको ढूँढकर उनके समाचार लाओ।

इत्र, चंदन, कपूर आदि सुगंधित द्रव्य अब मेरे शरीर पर क्यों लगाती हो?

द्यानतराय कहते हैं कि मेरे प्राण मेरे प्रिय में बसे हैं। मुझे मेरे प्राणों के नाथ के दर्शन कराओ।

---

१. इस भजन में राजुल अपनी सखी से कह रही है।

कहा री! करौं कित जाऊं सखी मैं, नेमि गये बन ओर री॥ टेक॥

कहा चूक प्रभुसों मैं कीनीं, जो पीउ मोह न लौरे री॥ कहा री.॥ १॥

अब वहां जैहौं विनती करिहौं, सनमुख ह्वै कर जौरै री॥ कहा री.॥ २॥

'द्यानत' हमैं तारल्यो स्वामी, लैहुं बलाइ किरौरै री॥ कहा री.॥ ३॥

हे सखी! नेमिनाथ वन की ओर चले गये। अब मैं क्या करूँ, किधर जाऊँ?

मैंने उनके प्रति क्या चूक कर दी जो मेरे प्रियतम मुझको साथ लेकर नहीं गए?

अब मैं वहाँ जाऊँगी, उनके सम्मुख जाकर हाथ जोड़कर उनसे विनती करूँगी, अनुनय करूँगी, विनय करूँगी।

द्यानत कहते हैं कि हम आपकी करोड़ों बलैया लेते हैं। हे स्वामी! अब हमको भी तारो, भवसागर से पार उतारो।

(३२)

राग ख्याल

कहुं दीठा नेमिकुमार॥ टेक॥

ब्याहन आया बहु दल लाया, रथ ऊपर असवार।
इन्द्र सरीखे चाकर जाके, शोभा वार न पार॥ कहुं.॥ १॥

नारायन अति क्रूर कमाया, घेरे जीव अपार।
शोर जु कीने करुना भीने, दीने बंध निवार॥ कहुं.॥ २॥

पट भूषन बहु भार डारके, पंच महाव्रत धार।
गये कहां कछु सुधि हू पाई, मोह कहो इह बार॥ कहुं.॥ ३॥

जो सुध लावै मोह मिलावै, सोई पीतम सार।
'द्यानत' कहै करोंगी सोई, देखौं नैन निहार॥ कहुं.॥ ४॥

राजुल जन-जन से पूछ रही है - अरे भाई? कहीं श्री नेमिकुमार को देखा है क्या? वे अपने भारी दल बलसहित रथ पर सवार होकर ब्याहने के लिए आए थे। इन्द्र-सरीखे उनके चाकर (सेवक) थे। उस समय उनकी शोभा अपार थी, अवर्णनीय थी।

नारायण अत्यन्त निर्दयी हैं जिन्होंने बहुत-से जीवों को बंदी बना लिया। इन जीवों को बंदी बनाकर उन्होंने बहुत पाप कमाया है। वे बंदी पशु-पक्षी विलाप कर रहे थे। उन्होंने (दूल्हे नेमिनाथ ने) उन पर करुणा करके बंधनमुक्त कर दिया। स्वयं विरक्त हो गये और वस्त्राभूषण को भार समझकर तज दिया, पंचमहाव्रत धारण कर मुनि हो गए। वे कहाँ गये? किधर चले गए? मुझे एक बार तो इसकी सूचना-जानकारी कराओ।

जो उनका अता-पता बतावे और उनसे मुझको मिलावे, वे ही मेरे प्रिय हैं, यही सार की बात है। द्यानतराय कहते हैं राजुल कह रही हैं कि मैं भी वही करूँगी जो उन्होंने किया है अर्थात् मैं भी संन्यास धारण कर लूँगी पर एक बार उन्हें आँखभर देखना चाहती हूँ।

(३३)

गिरनारिपै नेमि विराजत हैं ॥ टेक ॥

काउसग्ग लम्बित भुज दोऊ, वन गज पूजा साजत हैं॥ गिर.॥ १॥

नासादृष्टि विलोक सिंह मृग, बैर जनमके भाजत हैं॥ गिर.॥ २॥

'द्यानत' सो गिरि वन्दत प्रानी, पुन्य बहुत उपराजत हैं॥ गिर.॥ ३॥

गिरनार पर्वत पर श्री नेमिनाथ तप में लीन विराजमान हैं।

कायोत्सर्ग मुद्रा में, हाथी के समान, दोनों हाथ-भुजाएँ लटकाए हुए वे अत्यन्त सुशोभित होते हैं।

उनकी नासाग्र दृष्टि को देखकर, सिंह और मृग आदि वन्यजीवों के जन्मजात वैर भी तिरोहित हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, दूर हो जाते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि जो इस पर्वत पर उनकी वन्दना करता है वह बहुत पुण्य उपार्जित करता है।

(३४)

चल देखैं प्यारी, नेमि नवल व्रतधारी ॥ टेक ॥

रोग दोष बिन शोभन मूरति, मुकतिनाथ अविकारी ॥ चल. ॥ १ ॥

क्रोध बिना किमि करम विनाशैं, यह अचरज मन भारी ॥ चल. ॥ २ ॥

वचन अनक्षर सब जिय समझैं, भाषा न्यारी न्यारी ॥ चल. ॥ ३ ॥

चतुरानन सब खलक विलोकैं, पूरब मुख प्रभुका री ॥ चल. ॥ ४ ॥

केवलज्ञान आदि गुण प्रगटे, नेकु न मान किया री ॥ चल. ॥ ५ ॥

प्रभुकी महिमा प्रभु न कहि सकैं, हम तुम कौन विचारी ॥ चल. ॥ ६ ॥

'द्यानत' नेमिनाथ बिन आली, कह मोकौं को तारी ॥ चल. ॥ ७ ॥

हे प्रिय! चलो नवदीक्षित, व्रतों के धारी, संयमी नेमिनाथ के दर्शन करें। रोग-दोषरहित, मुक्ति के स्वामी की निर्विकार मुद्रा शोभित है।

यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि कर्मों पर क्रोध किए बिना उन्होंने किस प्रकार उनको समूल नष्ट कर दिया है!

केवलज्ञान होने पर उनकी निरक्षरी दिव्यध्वनि को सभी जीव-जन्तु अपनी-अपनी भाषा व मन्तव्य में समझ रहे हैं।

चारों दिशाओं में उनके श्रीमुख के दर्शन होते हुए भी वे पूर्व दिशा की ओर मुख करके आसीन हैं।

उनके केवलज्ञान सहित अनेक गुण प्रकट हो गए हैं, फिर भी उन्हें किसी प्रकार का कोई मान नहीं है।

उन प्रभु की महिमा का वर्णन समर्थ लोगों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। तब तुम्हारी व हमारी क्या बिसात है?

द्यानतराय कहते हैं कि हे सखी! तू ही बता नेमिनाथ के अलावा हमें कौन भवसागर के पार उतार सकता है?

(३५)

राग गौरी

जय-जय नेमिनाथ परमेश्वर॥ टेक॥

उत्तम पुरुषनिको अति दुर्लभ, बालशीलधरनेश्वर॥ जय.॥

नारायन बहु भूप सेव करैं, जय अघतिमिरदिनेश्वर।
तुम जस महिमा हम कहा जानैं, भाखि न सकत सुरेश्वर॥ जय.॥ १॥

इन्द्र सबै मिल पूजैं ध्यावैं, जय भ्रमतपतनिशेश्वर।
गुन अनन्त हम अन्त न पावैं, वरन न सकत गनेश्वर॥ जय.॥ २॥

गणधर सकल करैं थुति ठाढ़े, जय भव-जल-पोतेश्वर।
द्यानत हम छद्मस्थ कहा कहैं, कह न सकत सरवेश्वर॥ जय.॥ ३॥

हे नेमिनाथ, हे परमेश्वर, आपकी जय हो। आप बालयति हैं अर्थात् बालब्रह्मचारी हैं जो उत्तम पुरुषों का एक दुर्लभ गुण है।

नारायण व अनेक राजा आपकी सेवा करते हैं। आप पापरूपी अंधकार को नाश करनेवाले सूर्य के समान हो। इन्द्र आदि आपका यश, आपकी महिमा का वर्णन करने में समर्थ नहीं तब हम उस महिमा को क्या जान सकते हैं? अर्थात् नहीं जानते हैं।

इन्द्र आदि सब मिलकर आपकी पूजा करते हैं। आप भ्रमरूपी तपन को नष्ट करनेवाले चन्द्रमा के समान शीतल हैं। गणधर भी आपके अनन्त गुणों का वर्णन कर सकने में असमर्थता अनुभव करते हैं तब हम आपके गुणों का वर्णन कर सकने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं?

सब गणधर खड़े होकर आपकी स्तुति करते हैं। आप भव-समुद्र से बाहर निकालनेवाले पोत (जहाज) के समान हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जिसे ईश्वर भी कहने में असमर्थ है, अर्थात् समर्थ नहीं हैं उसे हम छद्मस्थ किस प्रकार कह सकते हैं?

(३६)

तजि जो गये पिय मोहे अनाहक, यह दुख कैसैं भरिहौं री ॥ टेक ॥

मोसौं मोह रंच नहिं कीनों, मैं जा पाँयनि परिहौं री ॥ तजि. ॥ १ ॥

और ठौर मोहि दोष लगैगो, पीतमको संग करिहौं री ॥ तजि. ॥ २ ॥

'द्यानत' कृपा करैं स्वामी जब, तब भवसागर तरिहौं री ॥ तजि. ॥ ३ ॥

हे सखी! मेरे प्रियतम ने अकारण ही मुझे त्याग दिया, छोड़ दिया अर्थात् मुझको छोड़कर चले गए। मैं इस दुःख को कैसे भोगूँ? कैसे सहन करूँ?

उन्होंने मुझसे तनिक भी राग-मोह नहीं किया। मैं तो जाकर उनके चरणों में भी पड़ गई।

उनकी इस राह को छोड़कर अन्यत्र कहीं जाने पर मुझे दोष लगेगा। मैं तो अपने प्रियतम के ही साथ रहूँगी।

द्यानतराय कहते हैं कि मेरे स्वामी जब मुझ पर कृपा करेंगे तब मैं भी इस भवसागर को पार कर सकूँगी।

अनाहक - अकारण, व्यर्थ में।

देख्या मैंने नेमिजी प्यारा॥ टेक॥
मूरति ऊपर करों निछावर, तन धन जीवन जोवन सारा॥ देख्या.॥

जाके नखकी शोभा आगैं, कोटि काम छवि डारौं वारा।
कोटि संख्य रवि चन्द छिपत हैं, वपुकी द्युति है अपरंपारा॥ देख्या.॥ १॥

जिनके वचन सुनें जिन भविजन, तजि गृह मुनिवरको व्रत धारा।
जाको जस इन्द्रादिक गावैं, पावैं सुख नासैं दुख भारा॥ देख्या.॥ २॥

जाके केवलज्ञान विराजत, लोकालोक प्रकाशन हारा।
चरन गहेकी लाज निवाहो, प्रभुजी 'द्यानत' भगत तुम्हारा॥ देख्या.॥ ३॥

अहो! मैंने भगवान नेमिनाथ के दर्शन किए। उस मुद्रा पर मेरा तन, धन, यौवन, जीवन सब न्यौछावर है, अर्पित है, समर्पित है।

जिनके चरणनखों से निसृत (निकलनेवाले) तेज की शोभा पर करोड़ों कामदेव की शोभा वारी जाये। उनके शरीर का तेज अपरंपार है, जिसका पार न पाया जा सके ऐसे उनके शरीर के तेज व आभा के समक्ष करोड़ों सूर्य और चन्द्र की ज्योति भी फीकी लगती हैं, वे उनके के प्रकाश में खो गए-से, छिप गए-से लगते हैं।

जिनके वचन सुनकर भव्यजन घरबार छोड़कर मुनि होकर महाव्रत धारण करते हैं। जिनका यश इन्द्रादिक देव गाते हैं, भक्ति में मग्न हो जाते हैं और उस सुख में अपने तीव्र दु:ख के, पीड़ा के वेदना के भार को नष्ट कर देते हैं।

जो अरहन्त स्वरूप में केवलज्ञान सहित विराजते हैं व लोक-अलोक को प्रकाशित करते हैं, आलोकित करते हैं, देखते हैं, जानते हैं। द्यानतराय विनती करते हैं कि मैं आपका भक्त हूँ, मैंने आपके चरणों की शरण ली है, आप मेरी लाज रखिए - मेरा निर्वाह कीजिए, मुझे निबाहिए अर्थात् मुझे भी भवसागर से पार लगाइये।

(३८)

राग विलावल

भजि मन प्रभु श्रीनेमिको, तजी राजुल नारी ॥ टेक ॥
जाके दरसन देखतैं, भाजै दुख भारी ॥ भजि. ॥

ज्ञान भयो जिनदेवको, इन्द्र अवधि विचारी।
धनपतिने समोसरनकी, कीनी विधि सारी ॥ भजि. ॥ १ ॥

तीन कोट चहुं थंभश्री, देखैं दुखहारी।
द्वादश कोठे बीचमें, बेदी विस्तारी ॥ भजि. ॥ २ ॥

तामैं सोहैं नेमिजी, छयालिस गुणधारी।
जाकी पूजा इन्द्रने, करी अष्टप्रकारी। भजि. ॥ ३ ॥

सकल देव नर जिहिं भजैं, बानी उच्चारी।
जाको जस जम्पत मिलै, सम्पत अविकारी ॥ भजि. ॥ ४ ॥

जाकी बानी सुनि भये, केवल दुतिकारी।
गनधर मुनि श्रावक सुधी, ममताबुधि डारी ॥ भजि. ॥ ५ ॥

राग-दोष मद मोह भय, जिन तिस्ना टारी।
लोक-अलोक त्रिकालकी, परजाय निहारी ॥ भजि. ॥ ६ ॥

ताको मन वच कायसों, वन्दना हमारी।
'द्यानत' ऐसे स्वामिकी, जइये बलिहारी ॥ भजि. ॥ ७ ॥

हे मन! तू श्री नेमिनाथ की भजन वंदना कर, उन्होंने अपनी होनेवाली पत्नी· स्त्री का नेह छोड़ दिया। उनके दर्शन मात्र से ही कठिन दु:ख भी दूर हो जाते हैं।

उन नेमिनाथ जिनदेव को केवलज्ञान हुआ। तब इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से यह जाना और कुबेर ने आकर समवसरण की रचना की और सारे नियोगों (निर्धारित कर्तव्यों) का निर्वाह किया।

तीन कोट बनाए, उनमें चारों ओर स्तंभ-थंभे लगाए, जिन्हें देखने मात्र से ही प्रसन्नता होती है, दुःख दूर हो जाता है। उनके बीच में बारह कोठे बनाए और बीच में गंधकुटी/वेदी बनाई।

उस गंधकुटी में अर्हंत के छियालीस गुणों के धारी भगवान नेमिनाथ विराजमान हैं। इन्द्र ने उन नेमिनाथ की अष्टद्रव्य से पूजा की।

सब देव व मनुष्य जिसका गुणगान करते हैं वह दिव्यध्वनि खिरी (प्रकट हुई)। जिसका यश गाने से, जिसका ध्यान-चिन्तन करने से ही दोषरहित/निर्दोष सम्पत्ति (शुद्ध आत्मोपलब्धि रूपी सम्पत्ति) की प्राप्ति होती है।

उस वाणी को सुन करके गणधर प्रकाशवान केवलज्ञान के धारी हो जाते हैं, केवली हो जाते हैं; मुनि, श्रावक आदि सब ज्ञान में निमग्न होकर ममता को त्याग देते हैं, छोड़ देते हैं। उस वाणी को सुनने से राग-द्वेष-मोह, भय-तृष्णा आदि सब मिट जाते हैं तथा लोक-अलोक के सभी द्रव्यों की त्रिकाल की पर्यायें युगपत (एकसाथ) दीखने लगती हैं।

ऐसे भगवान नेमिनाथ की हम मन, वचन, काय से वंदना करते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे प्रभु के चरणों में मैं समर्पित होता हूँ।

जंपत - गाना।

तैं कहुँ देखे नेमिकुमार॥ टेक॥

पशुगन बंध छुड़ावनिहारे, मेरे प्रानअधार॥ तैं.॥ १॥

बालब्रह्मचारी गुनधारी, कियो मुकतिसों प्यार॥ तैं.॥ २॥

'द्यानत' कब मैं दरसन पाऊं, धन्य दिवस धनि वार॥ तैं.॥ ३॥

राजुल जन-जन से पूछ रही है - क्या तुमने कहीं नेमिकुमार को देखा? जो पशुओं को बंधन से मुक्त करानेवाले हैं, जो मेरे प्राणों के आधार हैं, सहारा हैं!

वे नेमिकुमार जो बालब्रह्मचारी हैं, गुणों को धारण करनेवाले हैं, जिनने मुक्ति से प्यार किया है।

द्यानतराय कहते हैं (राजुल कह रही है) कि मैं जब उनके दर्शन पाऊँ वह ही दिन और वह ही वार धन्य हो जावेगा/होगा।

पिय वैराग्य लियो है, किस मिस देखन जाऊं ॥ टेक ॥

ब्याहन आये पशु छुटकाये, तजि रथ बन पुर गांऊ ॥ पिय. ॥ १ ॥

मैं सिंगारी वे अविकारी, क्यों नभ मुठिय समाऊं ॥ पिय. ॥ २ ॥

'द्यानत' जोगनि ह्वै विरमाऊं, कृपा करैं निज ठाऊं ॥ पिय. ॥ ३ ॥

राजुल अपनी सखी से कह रही है कि हे सखी! मेरे प्रियतम को वैराग्य हुआ है। मैं उन्हें देखने अब किस बहाने से जाऊँ?

वे ब्याह करने आए तो पशुओं को उन्होंने छुड़ाया, बंधनमुक्त करवाया। फिर स्वयं ने रथ, शहर व गाँव को छोड़ दिया।

मैं शृंगार में रत और वे इन सब विकारों से मुक्त हैं। उन्हें अपनी ओर मोड़ना आकाश को मुट्ठी में समेटने जैसा असंभव कार्य है। बताओ मैं किस प्रकार आकाश को मुट्ठी में बंद करूँ? अर्थात् कैसे उन्हें मनाऊँ?

द्यानतराय कहते हैं कि राजुल प्रार्थना करती है कि हे प्रभु! मैं भी योगिनी होकर, साध्वी होकर रम जाऊँ। ऐसी कृपा कीजिए कि मैं भी स्व-स्थान में (निज में) ठहर जाऊँ, स्थित हो जाऊँ!

गांऊ - गाँव।

(४१)

पिय वैराग्य लियो है, किस मिस लेहुं मनाई॥ टेक॥

मो मन वे उन मनमें मैं ना, काज होय क्यों माई॥ पिय.॥ १॥

सब सिंगार उतार सखी री, तिन विन कछु न सुहाई॥ पिय.॥ २॥

'द्यानत' जा विधितैं वर रीझैं, सो विधि मोहि बताई॥ पिय.॥ ३॥

राजुल कह रही हैं - हे सखी! मेरे प्रियतम को वैराग्य हो गया। अब उन्हें किस बहाने से मनाऊँ?

मेरे मन में तो वे बसे हैं, पर मैं उनके मन में नहीं हूँ। हे माई! तब मेरा कार्य कैसे हो?

हे सखी, मेरे सब शृंगार उतार दे। उनके बिना मुझे ये कुछ नहीं भा रहे हैं, नहीं सुहा रहे हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि जिस विधि से नेमीश्वर रीझ सकें मुझे वह विधि, वह तरीका, वह व्यवस्था बताओ जिससे मैं उन्हें रिझा सकूँ!

प्यारे नेमसों प्रेम किया रे॥ टेक॥

उनहीके अरचैं चरचैं, परचैं सुख होत हिया रे॥ प्यारे.॥ १॥

उनहीके गुनको सुमरौं, उनही लखि जीय जिया रे॥ प्यारे.॥ २॥

'द्यानत' जिन प्रभु नाम रट्यो तिन, कोटिक दान दिया रे॥ प्यारे.॥ ३॥

राजुल कहती हैं कि मैंने प्रिय नेमिनाथ से ही प्रेम किया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उन्हीं की पूजा, उन्हीं की चर्चा, उन्हीं का अतिशय सुन-सुनकर अपने चित्त में अत्यन्त प्रसन्नता होती है, अर्थात् श्रद्धा व बहुमान होता है।

उन्हीं के गुणों का सुमिरन से, उन गुणों के ध्यान से यह जीवन जी रही हूँ।

द्यानतराय कहते हैं कि जिन्होंने ऐसे प्रभु का नाम जपा है, उनकी भक्ति की है, उन्हें कोटि-कोटि दान देने का पुण्यफल प्राप्त होता है।

(४३)

बन्दौ नेमि उदासी, मद मारिवेकौं ॥ टेक ॥

रजमतसी जिन नारी छाँरी, जाय भये वनवासी ॥ बन्दौं. ॥

हय गय रथ पायक, सब छांडे, तोरी ममता फाँसी।
पंच महाव्रत दुद्धर धारे, राखी प्रकृति पचासी ॥ बन्दौं. ॥ १ ॥

जाकै दरसन ज्ञान विराजत, लहि वीरज सुखरासी।
जाकौं वंदत त्रिभुवन-नायक, लोकालोकप्रवासी ॥ बन्दौं. ॥ २ ॥

सिद्ध शुद्ध परमातम राजैं, अविचल थान निवासी।
'द्यानत' मन अलि प्रभु पद-पंकज, रमत रमत अघ जासी ॥ बन्दौं. ॥ ३ ॥

मैं नेमिनाथ भगवान के उस वैराग्य को, जो समस्त प्रकार के मदों से विरक्त है, मदों का नाश करने में समर्थ है, वन्दन करता हूँ। जिस वैराग्य के प्रभाव से उन्होंने राजमती जैसी नारी के मोह को छोड़कर, विरक्त होकर बनवासी हो जाना स्वीकार किया अर्थात् गृह त्यागकर तप हेतु वन को चले गए उस वैराग्य को वन्दन करता हूँ।

जिस वैराग्य के प्रभाव से उन्होंने हाथी, गायें, रथ, पैदल सिपाही आदि सभी को छोड़कर मोह-ममता की फाँसी को तोड़ दिया। पाँच महाव्रत धारण कर दुर्लभ तप किया और तिरेसठ प्रकृति का नाशकर अर्हंत पद प्राप्त किया, जहाँ अघातिया कर्मों की केवल ८५ प्रकृतियाँ ही शेष रह जाती हैं भगवान नेमिनाथ के उस वैराग्य की वंदना करता हूँ।

जिनके अनन्त चतुष्टय [अनन्त दर्शन-ज्ञान, सुख-वीर्य (बल)] प्रकट हो गए हैं, जो तीन लोक के नेता हैं, जो लोक-अलोक को जानते हैं अर्थात् प्रकाशित करते हैं उन नेमिनाथ के वैराग्य की वंदना करता हूँ।

जो सिद्धपद प्राप्तकर शुद्ध परमार्थ रूप में, सिद्धशिला पर अविचल रूप से सदा-सदैव के लिए विद्यमान व आसीन हैं, स्थिर हैं। द्यानतराय कहते हैं कि पुष्प पर निरन्तर मँडरानेवाले भँवरे की भाँति मेरा यह मन आपके चरणों के ध्यान में निरंतर रत रहे, रमता रहे।

(४४)

मूरतिपर वारीरे नेमि जिनिंद॥ टेक॥

छपन कोटि यादवकुलमंडन, खंडन कामनरिंद॥ मूरति.॥ १॥

जाको जस सुरनर सब गावैं, ध्यावैं ध्यान मुनिंद॥ मूरति.॥ २॥

'द्यानत' राजुल-प्रानन-प्यारे, ज्ञान-सुधाकर-इंद॥ मूरति.॥ ३॥

मैं नेमिनाथ जिनेन्द्र की छवि पर बलिहारी हूँ।

जो छप्पन प्रकार के यादव कुलों के राजा थे, यादव कुलों के आभूषण थे, जो कामदेव को लजाते थे; जिनका यश देव, मनुष्य सभी गाते हैं और मुनि जिनका ध्यान करते हैं मैं नेमिनाथ जिनेन्द्र की उस छवि पर बलिहारी हूँ।

द्यानतराय कहते हैं कि राजुल के प्राणों के प्यारे वे नेमिनाथ ज्ञानरूपी समुद्र के इंद्र हैं मैं उनकी छवि पर बलिहारी हूँ।

(४५)

राग ख्याल

मैं नेमिजीका बंदा, मैं साहबजीका बंदा॥ टेक॥
नैन चकोर दरसको तरसैं, स्वामी पूरनचंदा॥ मैं नेमिजी.॥

छहौं दरबमें सार बतायो, आतम आनंदकन्दा।
ताको अनुभव नित प्रति कीजे, नासै सब दुख दंदा॥ मैं नेमिजी.॥ १॥

देत धरम उपदेश भविक प्रति, इच्छा नाहिं करंदा।
राग दोष मद मोह नहीं नहिं, क्रोध लोभ छल छंदा॥ मैं नेमिजी.॥ २॥

जाको जस कहि सकैं न क्योंही, इंद फनिंद नरिन्दा।
सुमरन भजन सार है 'द्यानत', और बात सब धंदा॥ मैं नेमिजी.॥ ३॥

मैं भगवान नेमिनाथ का सेवक हूँ। मैं अपने स्वामी का सेवक हूँ, बंदा हूँ। वे पूर्णचन्द्र के समान हैं, जिनके दर्शन के लिए चकोर की भाँति मेरे नयन तरस रहे हैं।

जिन्होंने बताया कि अपना यह आत्मा ही छह द्रव्यों में सारभूत द्रव्य है, आनन्द का देनेवाला है। इसका नित्य प्रति ध्यान, स्मरण तथा अनुभूति कर, इसी में सारे दुःख व द्वंद नष्ट हो जाते हैं।

हे भगवन्! अरहंत रूप में बिराजमान, आप भव्यजनों के कल्याण के लिए दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करते हो, पर उस उपदेश को देने हेतु भी आपकी कोई इच्छा नहीं होती, नियोगवश ही वह खिरती है। उसमें राग नहीं है, मोह नहीं है, मद-अभिमान नहीं है, न ही कोई क्रोध अथवा लोभ है, न माया व छल आदि हैं।

जिनके यश का वर्णन इन्द्र, फणीन्द्र, नरेश आदि भी किसी भी प्रकार कर सकने में समर्थ नहीं हैं। द्यानतराय कहते हैं कि आप का सुमिरण ही सारे गुणगान का सार है। इसके अलावा सभी बातें मात्र उलझन हैं, फंदा हैं।

(४६)

नेमिजी तो केवलज्ञानी, ताहीको ध्याऊं ॥ टेक ॥

अमल अखंडित चेतनमंडित, परमपदारथ पाऊं ॥ नेमिजी. ॥ १ ॥

अचल अबाधित निज गुण छाजत, वचनमें कैसे बताऊं ॥ नेमिजी. ॥ २ ॥

'द्यानत' ध्याइये शिवपुर जाइये, बहुरि न जगमें आऊं ॥ नेमिजी. ॥ ३ ॥

श्री नेमिनाथ भगवान केवलज्ञानी हैं। मैं उनका ही स्मरण-चिन्तन व ध्यान करता हूँ।

वे निर्मल, अखण्ड, पूर्ण चैतन्यस्वरूप हैं। ऐसे परम पदार्थ अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति मुझे भी हो।

वे निज गुणों से भरपूर, चंचलता-विहीन, स्थिर, सर्वबाधारहित हैं, मैं वचनों द्वारा उनका गुणगान कैसे करूँ?

द्यानतराय कहते हैं कि जो उनका ध्यान करता है, उनको ध्याता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है। मैं भी वह मोक्षपद पाऊँ और फिर इस संसार में कभी भी न आऊँ इसलिए उनका ध्यान करता हूँ।

(४७)

राग सोरठ

नेमि नवल देखें चल री। लहैं मनुष भवको फल री॥ टेक॥

देखनि आत जात दुख तिनको, भान जथा तम-दल दल री।
जिन उर नाम बसत है जिनको, तिनको भय नहिं जल थल री॥ नेमि.॥ १॥

प्रभुके रूप अनूपम ऊपर, कोट काम कीजे बल री।
समोसरनकी अद्भुत शोभा, नाचत शक्र सची रल री॥ नेमि.॥ २॥

भोर उठत पूजत पद प्रभुके, पातक भजत सकल टल री।
'द्यानत' सरन गही मन! ताकी, जै हैं भवबंधन गल री॥ नेमि.॥ ३॥

हे सखी! चल, श्री नेमिनाथ की उज्ज्वल छवि को देखें, उनके दर्शन करें और मनुष्य भव पाने का फल पायें, अर्थात् मनुष्य भव को सार्थक करें।

जो जाकर उनका दर्शन करते हैं, उनके सब दु:ख इस प्रकार दूर हो जाते हैं जैसे सूर्य के आते ही अन्धकार का समूह नष्ट हो जाता है, नाश को प्राप्त होता है। जिस भव्य के हृदय में उनके नाम का स्मरण आता है उनको पृथ्वी व समुद्र में अर्थात् जगत में कहीं भी कोई भय नहीं रहता।

ऐसे प्रभु के अनुपम सुन्दर रूप पर, करोड़ों कामदेव बलिहारी हैं अर्थात् करोड़ों कामदेव भी न्यौछावर होते हैं। जिनके समवशरण की अद्भुत शोभा है, जहाँ इन्द्र और इन्द्राणी के समूह भक्तिपूर्वक नृत्य कर रहे हैं।

जो प्रातः उठकर प्रभु के चरणों की पूजा-वन्दना करता है उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा टल जाते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि उनको अर्थात् भगवान नेमिनाथ को सदैव अपने मन में धारण करो, ग्रहण करो जिससे भव-भव के बंधन ढीले होकर नष्ट हो जाएँगे अर्थात् पाप-पुण्य रूपी बँधे कर्म भी गल जाएँगे, नष्ट हो जाएँगे।

बल बलि = न्योछावर।

(४८)

राग परज

नेमि! मोहि आरति तेरी हो॥ टेक॥

पशू छुड़ाये हम दुख पाये, रीत अनेरी हो॥ नेमि.॥ १॥

जो जानत हे जोग धरेंगे, मैं क्यों घेरी हो॥ नेमि.॥ २॥

'द्यानत' हम हूं संग लीजिये, विनती मेरी हो॥ नेमि.॥ ३॥

राजुल कह रही हैं - हे नेमिनाथ! मुझे आपके प्रति बहुत भक्ति है।

आपने पशुओं को छुड़ाकर उन्हें मुक्त करा दिया और हम (आपके भक्त) दुःख उठा रहे हैं। यह आपकी कैसी अनोखी रीति है!

जब आप जानते थे कि आप योग धारण करेंगे, तो मुझे क्यों इस सीमा में (इस सम्बन्ध में) बाँधा?

द्यानतराय कहते हैं कि मेरी तो इतनी ही विनती है कि मुझे भी अपने साथ ले लीजिए।

अनेरी - अनोखी, आरति - अधिक भक्ति (आ = सब ओर से, रति = भक्ति)।

(४९)

राग केदारो

सुन मन! नेमिजी के वैन॥ टेक॥
कुमतिनासन ज्ञानभासन, सुखकरन दिन रैन॥ सुन.॥

बचन सुनि बहु होंहिं चक्री, बहु लहैं पद मैन।
इंद चंद फनिंद पद लैं, शुद्ध आतम ऐन॥ सुन.॥ १॥

वैन सुन बहु मुकत पहुँचे, बचन बिनु एकै न।
हैं अनक्षर, रूप अक्षर, सब सभा सुखदैन॥ सुन.॥ २॥

प्रगट लोक अलोक सब किय, हरिय मिथ्या-सैन।
वचन सरधा करौ 'द्यानत', ज्यों लहौ पद चैन॥ सुन.॥ ३॥

हे मन! श्री नेमिनाथ के दिव्य वचनों को सुन। वे कुमति को नष्टकर, दिन-रात ज्ञान का प्रकाशन करते हुए सुख उपजाते हैं।

उनके दिव्य वचन सुनकर (अपने परिणामों के अनुसार पुण्य के फल से) कुछ चक्रवती-पद धारण करते हैं, कुछ कामदेव पद की प्राप्ति करते हैं। कुछ इन्द्र, चन्द्र, फणीन्द्र पद भी प्राप्त करते हैं और कुछ शुद्ध आत्मा की ओर नम/झुक जाते हैं।

उनके दिव्य वचन सुनकर अनेक जन मुक्तिश्री का वरण कर चुके हैं। जो उनके बचन, जिनवाणी नहीं सुनते उनमें से एक भी मुक्त नहीं होता। वह ध्वनि निरक्षरी होकर भी अक्षररूप सारी सभा को सुख प्रदान करनेवाली होती है।

वह दिव्यवाणी सारे लोक और अलोक का प्रत्यक्ष बोध कराती है और सभी मिथ्या चिह्नों को हरनेवाली है। द्यानतराय कहते हैं कि उनके वचनों की श्रद्धा करो। सब पद व सब सुख-चैन उसी से प्राप्त होते हैं।

मैन - कामदेव।

(५०)

राग पंचम

सुन री! सखी! जहाँ नेम गये तहाँ, मोकहँ ले पहुँचावो री-हाँ॥ टेक॥

घर आँगन न सुहाय खिनक मुझ, अब ही पीव मिलावो री-हाँ॥ सुन.॥ १॥

धन जोवन मेरे काम न ऐहैं, प्रभुकी बात सुनावो री-हां॥ सुन.॥ २॥

'द्यानत' दरस दिखाय स्वामिको, भवआताप बुझावो री-हां॥ सुन.॥ ३॥

राजुल अपनी सखी से कहती है कि हे सखी! मुझे वहाँ पहुँचा दो जहाँ नेमिनाथ चले गए हैं।

मुझको यह घर, यह आँगन एक क्षण के लिए भी अच्छा नहीं लगता। अब तो मुझे अपने पिया, अपने प्रीतम से मिला दो।

यह धन, यह यौवन मेरे किसी काम में नहीं आने वाले हैं। मुझे तो प्रभु की बात-कथा सुनाओ।

द्यानतराय कहते हैं - राजुल कह रही है कि ऐसे मेरे स्वामी के दर्शन मुझे करावो जिससे भवभ्रमण की पीड़ा दूर हो जाये, मिट जाये।

हां चल री! सखी जहाँ आप बिराजत, नेमि नवल व्रतधारी री! ॥ टेक ॥

जाय कहैं प्रभुसों बिनती करि, छिमिहिं औगुन जु बिसारी री! ॥ १ ॥

रजमति कहत बात मैं जानी, करी मुकतसों यारी री!
'द्यानत' ता बनिताके ऊपर, तन मन वारौं डारी री! ॥ २ ॥

हे मेरी सखी! मुझे वहाँ ले चल जहाँ मेरे स्वामी नेमिनाथ नवीन दीक्षा लेकर व्रतों को धारण किए हुए विराज रहे हैं। अर्थात् नवदीक्षित नेमिनाथ जहाँ व्रतसहित विराजमान हैं।

हम जाकर वहाँ प्रभु से विनती करें कि मेरे जो भी कुछ अवगुण थे उन्हें आप भुला दें, क्षमा करें।

राजुल कहती है कि मैं तो इतना ही जानती हूँ कि आपने मुक्ति प्रिया से प्रेम किया है। द्यानतराय कहते हैं कि उस मुक्तिरूपी नारी के ऊपर हम भी तन-मन न्यौछावर करते हैं।

(५२)

ज्ञानी ज्ञानी ज्ञानी, नेमिजी! तुम ही हो ज्ञानी ॥ टेक ॥
तुम्हीं देव गुरु तुम्हीं हमारे, सकल दरब जानी ॥

तुम समान कोउ देव न देख्या, तीन भवन छानी।
आप तरे भविजीवनि तारे, ममता नहिं आनी ॥ ज्ञानी. ॥ १ ॥

और देव सब रागी द्वेषी, कामी कै मानी।
तुम हो वीतराग अकषायी, तजि राजुल रानी ॥ ज्ञानी. ॥ २ ॥

यह संसार दुःख ज्वाला तजि, भये मुकतथानी।
'द्यानत'-दास निकास जगततैं, हम गरीब प्रानी ॥ ज्ञानी. ॥ ३ ॥

हे नेमिनाथ भगवान! आप ज्ञानी हो।

आप ही हमारे देव हैं, आप ही गुरु हैं। आप सभी द्रव्यों को उनके गुणों और पर्यायों सहित जानते हैं।

तीन लोक में आपके समान वीतरागी कोई देव नहीं है यह सत्य भली प्रकार जान लिया है। आप स्वयं इस भवसागर से तिर गए, यह औरों को भी इस भवसागर से पार हो जाने में निमित्त (बनता) है, सहायक है, परन्तु इसमें मोह-ममता नहीं है। आप वीतराग है।

अन्य सभी देव राग-द्वेष सहित हैं। या तो वे कामनायुक्त अथवा मान से पीड़ित हैं। परन्तु आप वीतरागी हैं, कषायरहित हैं, आपने अपनी होनेवाली रानी राजुल को छोड़कर तप किया है।

आप इस संसार के दुःखों की अग्नि को छोड़कर मोक्ष के वासी हो गये।

द्यानतराय कहते हैं कि भगवन्! हम दीन हैं, असहाय हैं, बेबस हैं, हमें इस जगत से बाहर निकालिए, जगत से मुक्त कीजिए।

(५३)

री मा! नेमि गये किंह ठाऊं ॥ टेक ॥

दिल मेरा कित हू लगता नहिं, ढूंढौ सब पुर गाऊं ॥ री मा. ॥ १ ॥

भूषण वसन कुसुम न सुहावैं, कहा करूं कित जाऊं ॥ री मा. ॥ २ ॥

'द्यानत' कब मैं दरसन पाऊं, लागि रहौं प्रभु पाऊं ॥ री मा. ॥ ३ ॥

हे मां! नेमिनाथ कहाँ - किस स्थान पर चले गए?

मेरा मन कहीं भी नहीं लगता है। मैंने उन्हें सारे नगर और गाँवों में ढूँढ लिया है।

मुझे वस्त्र-आभूषण-फूल आदि कुछ भी नहीं सुहाते। मैं कहाँ जाऊँ? किधर जाऊँ? क्या करूँ?

द्यानतराय कहते हैं कि राजुल कहती है कि वह समय कब होगा जब मैं उनके दर्शन प्राप्त करूँ और प्रभु के चरणों से लगन लगाये रहूँ।

(५४)

काम सरे सब मेरे, देखे पारसस्वाम॥ टेक॥

सपत फना अहि सीस विराजै, सात पदारथ धाम॥ काम.॥ १॥

पदमासन शुभ बिंब अनूपम, श्यामघटा अभिराम॥ काम.॥ २॥

इंद फनिंद नरिंदनि स्वामी, 'द्यानत' मंगलठाम॥ काम.॥ ३॥

भगवान पार्श्वनाथ के दर्शन से मेरे सब मनोरथ, सब कामनाएँ सिद्ध हो जाती हैं, सफल हो जाती हैं।

उनके मस्तक पर सातफणधारी सर्प हैं अर्थात् वे सात पदार्थ- तत्वों के ज्ञानी हैं, उनके धाम हैं।

पद्मासन मुद्रा में आसीन उनकी यह प्रतिमूर्ति-बिम्ब उपमा से परे है, अत्यन्त सुन्दर है तथा काले मेघ की घटा के समान सुन्दर शोभित होती है, दिखाई देती है।

वे इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, सभी के स्वामी हैं। द्यानतराय कहते हैं कि वे सर्व मंगल के धाम (घर) हैं अर्थात् सर्व मंगलकारी हैं।

सपत = सात, सप्त।

(५५)

चल पूजा कीजे, बनारसमें आय॥ टेक॥

पूजा कीजे सब सुख लीजे, आनँद मंगल गाय॥ चल.॥ १॥

पारसनाथ सुपारस राजैं, देखत दुख मिट जाय॥ चल.॥ २॥

गंगाने परदक्षिण दीनी, ता पुरकी हित लाय॥ चल.॥ ३॥

'द्यानत' औसर आज हि आछो, वंदे प्रभुके पाय॥ चल.॥ ४॥

हे भव्यजीवो! आओ, बनारस में आकर पूजा करो। पूजा करके सब सुख को प्राप्त करो। आनंद और मंगल के गीत गाओ।

यहाँ पारस के समान पार्श्वनाथ सुशोभित हैं जिन्हें देखते ही सब दु:ख मिट जाते हैं।

गंगानदी ने इस नगरी की प्रदक्षिणा दी है, इस नगर (बनारस) की छवि/स्थिति अत्यन्त मनोहारी व सुखकारी है।

द्यानतराय कहते हैं कि आज अच्छा अवसर है कि प्रभु के वंदन का अवसर मिला है।

(२५)

भज रे मन या प्रभु पारसको॥ टेक॥

मन वच काय लाय लौं इनकी, छांड़ि सकल भ्रम आरसको॥ भज.॥ १॥

अभयदान दै दुख सब हर लै, दूर करै भव कारसको॥ भज.॥ २॥

'द्यानत' गावै भगति बढ़ावै, चाहै पावै ता रसको॥ भज.॥ ३॥

हे मेरे मन! तू सब भ्रम, संशय व आलस्य को छोड़कर भगवान पारसनाथ का स्मरण कर, भजन कर।

वे अभयदान देनेवाले हैं, दु:ख को हरनेवाले हैं और भव की कालिमा को दूर करनेवाले हैं, उसका उन्मूलन करनेवाले हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि जो उनका भक्तिपूर्वक गुणगान करता है, भक्तिरस में डूबता है वह उनके समान ही आनन्द रस को पाता है।

कारस - कालिमा।

(५७)

भोर भयो भज श्रीजिनराज, सफल होंहिं तेरे सब काज॥ टेक॥
धन सम्पत मनवांछित भोग, सब विधि आन बनैं संजोग॥ भोर.॥

कल्पवृच्छ ताके घर रहै, कामधेनु नित सेवा बहै।
पारस चिन्तामनि समुदाय, हितसौं आय मिलैं सुखदाय॥ भोर.॥ १॥

दुर्लभतैं सुलभ्य ह्वै जाय, रोग सोग दुख दूर पलाय।
सेवा देव करैं मन लाय, विघन उलट मंगल ठहराय॥ भोर.॥ २॥

डायन भूत पिशाच न छलै, राज चोरको जोर न चलै।
जस आदर सौभाग्य प्रकास, 'द्यानत' सुरग मुकतिपदवास॥ भोर.॥ ३॥

हे भव्य! भोर (प्रभात) हो गई है, अब तू श्री जिनराज का भजन कर, उनका स्मरण कर, जिससे तेरे सारे कार्य सुलझ जाएँगे, सफल हो जाएँगे। जिनराज के भजन से धन, सम्पत्ति, सुख-साता की वांछित वस्तुएँ और उन्हें भोगने का अवसर सभी के संयोग जुट जाते हैं, बन जाते हैं।

जो जिनराज का भजन करता है उसके घर पर मानो कल्पवृक्ष ही लग जाता है, मानो कामधेनु की सेवा जैसा सुख-सौभाग्य प्राप्त हो जाता है अर्थात् मनवांछित वस्तुएँ आसानी से सुलभ हो जाती हैं। पारसनाथरूपी चिंतामणि रत्न का सुलभ होना ही सब वस्तु समूह के हितकारी होने का कारण है।

उन जिनराज के भजन से दुर्लभ भी सुलभ हो जाते हैं, रोग--शोक, दु:ख दूर भाग जाते हैं। जो भव्य मन लगाकर ऐसे देव की सेवा करते हैं उनके सभी विघ्न भी मंगलकारी सुख--रूप में पलट जाते हैं, संक्रमण कर जाते हैं।

जो जिनराज का भजन करते हैं उनको भूत, पिशाच, डायन आदि के प्रकोप का भय नहीं रहता। राजा व चोर का भय नहीं होता। उन्हें यश और सम्मान की प्राप्ति होती है, सौभाग्य प्रकट होता है। द्यानतराय कहते हैं कि इससे ही स्वर्ग और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है।

(५८)

मोहि तारि लै पारस स्वामी ॥ टेक ॥

पारस परस कुधातु कनक है, भयो नाम तैं नामी ॥ मोहि. ॥ १ ॥

पदमावति धरनिंद रिधि तुमतैं, जरत नाग जुग पामी ॥ मोहि. ॥ २ ॥

तुम संकटहर प्रगट सबनिमें, कर 'द्यानत' शिवगामी ॥ मोहि. ॥ ३ ॥

हे पार्श्वनाथ! मुझे तार लेओ, पार लगा दो।

पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है, ऐसा तेरा नाम प्रसिद्ध है।

दोनों नाग (युगल) जो जल रहे थे उन्होंने भी आपके कारण पद्मावती व धरणेन्द्र की ऋद्धि प्राप्त की।

आप ही संकट से मुक्त करनेवाले हो यह सर्वत्र प्रगट है, यह सब जानते हैं। द्यानतराय विनती करते हैं कि मुझे भी मोक्षमार्ग पर आरूढ़ करो।

लगन मोरी पारससों लागी॥ टेक॥

कमठ-मान-भंजन मनरंजन, नाग किये बड़भागी॥ लगन.॥ १॥

संकट चूरत मंगल मूरत, परम धरम अनुरागी॥ लगन.॥ २॥

'द्यानत' नाम सुधारस स्वादत, प्रेम भगति मति पागी॥ लगन.॥ ३॥

मेरी भगवन् पारसनाथ से लगन लगी है। उनके प्रति शुभ अनुराग हुआ है। वे कमठ का मान भंग करनेवाले हैं, मन को भानेवाले हैं और नाग-नागिनी के भाग्य का उद्धार करनेवाले हैं।

वे सर्व संकट दूर करनेवाले हैं। मंगल कार्यों को सम्पन्न करनेवाले हैं। श्रेष्ठधर्म अर्थात् आत्मधर्म में रत रहनेवाले हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि जिसने उनके नामरूपी अमृत का आस्वादन किया, उसकी बुद्धि उनके प्रति भक्ति व प्रेम से भर गई।

हमको प्रभु श्रीपास सहाय॥ टेक॥
जाके दरसन देखत जब ही, पातक जाय पलाय॥ हमको.॥

जाको इंद फनिंद चक्रधर, बंदैं सीस नवाय।
सोई स्वामी अन्तरजामी, भव्यनिको सुखदाय॥ हमको.॥ १॥

जाके चार घातिया बीते, दोष जु गये बिलाय।
सहित अनन्त चतुष्टय साहब, महिमा कही न जाय॥ हमको.॥ २॥

तकिया बड़ो मिल्यो है हमको, गहि रहिये मन लाय।
'द्यानत' औसर बीत जायगो, फेर न कछू उपाय॥ हमको.॥ ३॥

प्रभु श्री पार्श्वनाथ ही हमारे सहायक हैं। उनके दर्शन से सभी विभावों की ओर से चित्त हट जाता है और अपने में ही केन्द्रित हो जाता है, जिससे सारे पातक-पाप भाग जाते हैं, दूर हो जाते हैं।

इन्द्र, फणीन्द्र, चक्रवर्ती आदि शीश नमाकर ऐसे प्रभु की वंदना करते हैं। वे ही अंतरंग की सभी बातों के ज्ञाता हैं और भव्यजनों को सुख देनेवाले हैं।

जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो गए, सभी दोष रसविहीन हो गए। उनके अनन्त चतुष्टय, अर्थात् अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य और सुख प्रगट हुआ है। कोई उनकी महिमा का वर्णन नहीं कर सकता है अर्थात् वे अवर्णनीय हैं।

हमको पार्श्वप्रभु का बहुत बड़ा सहारा मिला है। उनको हृदय-आसन पर आसीन करो, अंतरंग में अंकित करो। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसा सुअवसर हाथ से निकल जाने पर फिर कोई उपाय शेष नहीं रहेगा।

पातक = पाप; तकिया - सहारा।

राग गोरी

अब मोहि तार लेहु महावीर॥ टेक॥

सिद्धारथनन्दन जगवन्दन, पापनिकन्दन धीर॥ अब.॥

ज्ञानी ध्यानी दानी जानी, बानी गहर गंभीर।
मोषके कारन दोषनिवारन, रोषविदारन वीर॥ अब.॥ १॥

आनंदपूरत समतासूरत, चूरत आपद पीर।
बालजती दृढ़व्रती समकिती, दुखदावानलनीर॥ अब.॥ २॥

गुन अनन्त भगवन्त अन्त नहिं, शशि कपूर हिम हीर।
'द्यानत' एक हु गुन हम पावैं, दूर करैं भवभीर॥ अब.॥ ३॥

हे भगवान महावीर! अब मुझे इस भवसागर से पार उतारिए, बाहर निकालिए। हे सिद्धार्थनन्दन! आप जगत के द्वारा पूजनीय हैं, पापों का नाश करनेवाले हैं, अत्यन्त धीर हैं।

जो भी ज्ञानी हैं, ध्यानी हैं, दानी हैं, वे सब आपकी दिव्यध्वनि की गहराई व गंभीरता को जानते हैं। आप मोक्षरूपी कार्य की सिद्धि के लिए अद्भुत कारण हैं। दोषों का नाश करनेवाले हैं तथा क्रोध का नाशकर क्षमा को धारण करनेवाले हैं।

आप समता की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। आनन्द के देनेवाले हैं। सभी आपदाओं को नष्ट करनेवाले हैं। बाल ब्रह्मचारी हैं, दृढ़व्रती हैं और दुःखरूपी आग को शमन करने के लिए समताधारी वीर हैं। परम सम्यक्त्वी हैं।

आपके अनन्त गुणों का कोई पार नहीं है। आप चन्द्रमा, कपूर, हीरे व हिम-बर्फ के समान निर्मल, उज्ज्वल व शीतल हैं। द्यानतराय कहते हैं इन गुणों में से हम एक गुण भी पा जायें तो इस भव-बाधा को दूर करलें।

देखे धन्य घरी, आज पावापुर महावीर ॥ टेक ॥

गौतमस्वामि चंदना मेंढक, श्रेणिकसुखकर धीर ॥ देखे. ॥ १ ॥

चार ओर भवि कमल विराजैं, भक्ति फूल सुख नीर ॥ देखे. ॥ २ ॥

'द्यानत' तीरथनायक ध्यावै, मिट जावै भव भीर ॥ देखे. ॥ ३ ॥

आज पावापुर में महावीर की निर्वाणस्थली पर प्रभु के दर्शन किए। यह घड़ी, यह समय, अत्यन्त शुभ है, धन्य है। वे महावीर गौतम गणधर, चंदना, मेंढक और श्रेणिक आदि को सुखकारी हैं, संतोष प्रदान करनेवाले हैं।

चारों ओर सुखदायक जल में खिले सुन्दर कमलदल में भक्तिरूपी पुष्प खिले हैं, जिनके बीच में प्रभु विराजित हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे तीर्थ के नायक भगवान महावीर को जो ध्याता है, जो उनका स्तवन व सुमिरण करता है उसके भव-भव के कष्ट नष्ट हो जाते हैं।

(६३)

पावापुर भवि बंदो जाय॥ टेक॥

परम पूज्य महावीर गये शिव, गौतम ऋषि केवलगुन पाय॥ १॥

सो दिन अब लगि जग सब मानैं, दीवाली सम मंगल काय॥ २॥

कातिक मावस निस तिस जागे, 'द्यानत' अद्भुत पुन्य उपाय॥ ३॥

हे भव्य! तुम पावापुर में जाकर वंदना करो जहाँ से परमपूज्य भगवान महावीर का निर्वाण हुआ है और गौतम गणधर को कैवल्य (गुण) की प्राप्ति हुई है।

तब से अब तक उस दिन को सब विशेष मानने लगे हैं। वह दिन मंगल-उत्सव के समान मनाया जाता है, उस दिन दीपावली मनाते हैं जो मंगलकारी है - मंगल को करनेवाला है।

द्यानतराय कहते हैं कि जो कार्तिक मास की अमावस्या को रात्रि में जागते हैं, आत्मरुचि जागृत करते हैं वे अद्भुत पुण्य के भागी होते हैं।

(६४)

राग जैजैवन्ती

महावीर जीवाजीव खीर निरपाप ताप, नीर तीर धरमकी जर हैं ॥ टेक ॥

आश्रव स्रवत नाहिं, बँधत न बंधमाहिं,
निरजरा निजरत, संवरके घर हैं ॥ महावीर. ॥ १ ॥

तेरमौं है गुनथान, सोहत सुकल ध्यान,
प्रगट्यो अनन्त ज्ञान, मुकतके वर हैं ॥ महावीर. ॥ २ ॥

सूरज तपत करै, जड़ता हू चंद धरै,
'द्यानत' भजो जिनेश, दोऊ दोष न रहैं ॥ महावीर. ॥ ३ ॥

जीव-अजीव मिश्रित इस संसार में, महावीर का द्रव्यस्वरूप (का सिद्धान्त) खीर के समान मिष्ठ - मीठा है, श्रेष्ठ है, पापरहित - निष्पाप है व दुखरूपी दाह के लिए नीर के समान शीतल है। धर्म की जड़ है, आधार है, इस संसार-सागर से पार उतरने के लिए तीर है - किनारा है।

जिन्हें कर्मों का आश्रव ही नहीं होता है, जिससे बँधे हुए कर्मों में वृद्धि या प्रगाढ़ता नहीं होती है। कर्म-निर्जरा में निज की लगन लगी है, ऐसा संवर ही उनको होता है।

तेरहवें गुणस्थान अर्थात् अर्हंत पद में, शुक्लध्यान द्वारा अनन्तज्ञान प्रगट हो गया है, अब वे मुक्ति के वर हैं, श्रेष्ठ हैं।

जब तक सूर्य में ताप रहे, चन्द्र में शीतलता - ठंडक रहे, द्यानतराय कहते हैं कि तुम जिनेन्द्र की वंदना करो, तो कोई दोष दोषरूप नहीं रहेगा अर्थात् दोष गुणरूप संक्रमण हो जावेगा - परिवर्तित हो जाएगा, बदल जाएगा।

री चल बंदिये चल बंदिये, री, महावीर जिनराय॥
पाप निकन्दिये महावीर जिनराय, वारी वारी महिमा कहिय न जाय॥ टेक॥

विपुलाचल परवतपर आया, समवसरन बहु भाय॥ री चल.॥ १॥

गौतमरिखसे गनधर जाके, सेवत सुरनर पाय॥ री चल.॥ २॥

बिल्ली मूसे गाय सिंहसौं, प्रीति करै मन लाय॥ री चल.॥ ३॥

भूपतिसहित चेलना रानी, अंग अंग हुलसाय॥ री चल.॥ ४॥

'द्यानत' प्रभुको दरसन देखैं, सुरग मुकति सुखदाय॥ री चल.॥ ५॥

अरे! चलकर श्री महावीर जिनेन्द्र का वंदन करो। जिनकी वंदना से पापों का नाश होता है, उसकी महिमा अकथनीय है। मैं उस पर वारि जाता हूँ।

विपुलाचल पर्वत पर भगवान का समवसरण आया है, जो मन को बहुत भा रहा है, अच्छा लग रहा है।

गौतम-से विद्वान ऋषि जिनके गणधर हैं। देव व मनुष्य सभी जिनके चरणों की सेवा करते हैं।

जाति विरोध तजकर बिल्ली और चूहा, गाय और सिंह सभी में आपस में मैत्री स्थापित हो गई है।

रानी चेलनासहित राजा श्रेणिक के रोम-रोम अति प्रसन्नता से पुलकित हो रहे हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे प्रभु के दर्शन से स्वर्ग व मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। दोनों सुलभ होते हैं।

कहा री कहूं कछु कहत न आवै, बाहूबल बल धीरज री॥ टेक॥

जल मल दिष्ट जुद्धमें जीत्यो, भरत चक्रको वीरज री॥ कहा.॥ १॥

जोग लियो तन फननि घर कियो, शोभा ज्यों अलि-नीरज री॥ कहा.॥ २॥

'द्यानत' बहुत दान तब दै हौं, पै हौं चरननकी रज री॥ कहा.॥ ३॥

भगवान बाहुबली के बल व धैर्य के विषय में क्या कहूँ, कुछ कहते हुए नहीं बनता।

जल, मल्ल और दृष्टि युद्ध में जिसने भरत चक्रवर्ती के वीर्य को परास्त कर विजय प्राप्त की थी।

फिर मुनिपद धारण किया तो साधनाकाल में सर्पों ने जिनके शरीर पर बांबियाँ बनालीं, वे कमल पर मँडराते भँवरे के समान शोभायमान हो रहे हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि बहुत दान देनेवाले को उनके चरणों की रज की प्राप्ति होती है अर्थात् उनके दर्शन का अवसर मिलता है।

(६७)

भज जम्बूस्वामी अन्तरजामी, सब जग नामी शुभवानी॥ टेक॥

मथुरा-नगर मुकतमें पहुँचे, अंतकेवली शिवथानी॥ भज.॥ १॥

सहित अनन्त चतुष्टय साहिब, रहित आठ दश सुखदानी॥ भज.॥ २॥

'द्यानत' वन्दों पाप निकन्दों, भव-दुख-पावक-हर-पानी॥ भज.॥ ३॥

हे भव्य! तू अन्तर्यामी अर्थात् सर्वज्ञ जम्बूस्वामी का भजन कर। जिनकी शुभवाणी, सारे जगत में प्रसिद्ध है।

मथुरा नगर से वे निर्वाण को प्राप्त हुए अर्थात् मोक्ष सिधारे। वे इस काल में मोक्ष को जानेवाले अन्तिम केवली थे।

वे अठारह दोषरहित हैं, अनन्तचतुष्टय सहित हैं और सुखदाता हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि उनकी वन्दना पापों का नाश करनेवाली है और भव-भ्रमण की दु:खरूपी अग्नि की तपन को मिटाने के लिए जल के समान है।

(६८)

अब मैं जाना आतमराम ॥ टेक ॥

इह परलोक थोक सुख साधै, तज चिन्ता धन धाम ॥ अब. ॥ १ ॥

जनम मरन भय दूर भगाया, पाया अमर मुकाम ॥ अब. ॥ २ ॥

'द्यानत' ज्ञान सुधारस चाखो, नाखो विष दुख ठाम ॥ अब. ॥ ३ ॥

अब मैंने अपने आत्मस्वरूप को जान लिया है अर्थात् आत्मा को जान लिया है, पहचान लिया है।

इस ज्ञान से धन व घर की चिन्ता को छोड़कर इस लोक और परलोक दोनों में सुख की साधना होती है।

उसे (आत्मा को) जानने पर उस देह की जन्म और मरण की क्रिया का भय दूर हो जाता है और वह स्थान जहाँ कभी मृत्यु नहीं होती उसकी प्राप्ति होती है अर्थात् मोक्षपद मिलता है।

द्यानतराय कहते हैं कि उस ज्ञानामृत को पीकर, सारे दुःखरूपी हलाहल यानी विष को वमन करनेवाली, छोड़नेवाली स्थिति को प्राप्त करो।

अब मैं जान्यो आतमराम ।। टेक ।।

काम न आवै गोधन धाम ।। अब. ।।

जिहँ जान्या बिन दुख बहु सह्यो, सो गुरुसंगति सहजैं लह्यो ।। अब. ।। १ ।।

किये अज्ञानमाहिं जे कर्म, सब नाशे प्रगट्यो निज धर्म ।। अब. ।। २ ।।

जास न रूप गंध रस फास, देख्यो करि अनुभौ अभ्यास ।। अब. ।। ३ ।।

जो परमातम सो ममरूप, जो मम सो परमातम भूप ।। अब. ।। ४ ।।

सर्व जीव हैं मोहि समान, मेरे बैर नहीं तिन-मान ।। अब. ।। ५ ।।

जाको ढूंढै तीनौं लोक, सो मम घटमें है गुण थोक ।। अब. ।। ६ ।।

जो करना था सो कर लिया, 'द्यानत' निज गह पर तज दिया ।। अब. ।। ७ ।।

अब मैंने अपने आत्मस्वरूप को जान लिया है। इसे जानने के पश्चात् पशुधन, घर आदि कोई काम नहीं आते।

जिसे जाने बिना मैं अब तक बहुत दु:ख सहता रहा, वह ज्ञान गुरु की संगति से मुझे सहज ही मिल गया।

अज्ञानवश मैंने जो कर्म किए, वे सब अब निज स्वभाव प्रकट होने से नष्ट हो गये हैं। अर्थात् शुद्ध भावों के होने पर विभाव स्वत: ही मिट जाते हैं।

अभ्यास और अनुभव करके मैंने यह जान लिया है कि इसके अर्थात् आत्मा के रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, ये तो पुद्‌गल के गुण हैं।

जो परमात्मा का स्वरूप है, वह ही मेरा स्वरूप है। इसलिए मैं ही अपना परमात्मा हूँ - स्वामी हूँ।

सब जीव मेरे समान हैं, मेरा किसी से तनिक भी द्वेष नहीं है। जिसे तीन लोक में ढूँढा जाता है, वह गुण का पुंज मेरे अपने ही अन्दर में विराजमान है।

जो करना था अब कर लिया। द्यानतराय कहते हैं कि निज को ग्रहण कर लिया व पर का त्याग कर दिया है।

राग आसावरी

अब हम अमर भये न मरैंगे ॥ टेक ॥
तन-कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे ॥ अब. ॥

उपजै मरै कालतैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे।
राग दोष जग बंध करत हैं, इनको नाश करैंगे ॥ अब. ॥ १ ॥

देह विनाशी मैं अविनाशी, भेदज्ञान पकरैंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे हो निखरैंगे ॥ अब. ॥ २ ॥

मरे अनन्त बार बिन समझैं, अब सब दुख बिसरैंगे।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरैंगे ॥ अब. ॥ ३ ॥

द्रव्य स्वरूप की प्रतीति, श्रद्धान होने पर साधक कहता है कि द्रव्य अक्षय है, अविनाशी है, मैं जीव द्रव्य हूँ - सदा जीव हूँ, जीव का विनाश नहीं होगा, ऐसा मेरा आत्मा अमर है। ऐसी बोधि होने पर वह कहता है कि अब हम अमर हैं, अब हमारा मरण नहीं होगा, क्योंकि देह धारण करने का मुख्य कारण मिथ्यात्व है, जिसे हमने छोड़ दिया है। सम्यक्त्व की प्राप्ति ही देह धारण से मुक्त कराने में कारण है। मिथ्यात्व तजने और सम्यक्त्व होने पर फिर देह क्यों धारण करेंगे?

काल द्रव्य के परिणमन के कारण प्राणी जीवन-मरण करता है। हम अब अपने निज शुद्ध स्वरूप में ठहरकर काल की इस आश्रितता से, जन्म-मरण से मुक्त हो जाएँगे। राग-द्वेष जगत में बंध के कारण हैं, उनका हम नाश करेंगे।

यह देह विनाशी है; मैं आत्मा हूँ, अविनाशी हूँ - हम इस भेदज्ञान को समझेंगे। देह जो नाशवान है, वह नष्ट हो जायेगी और यह आत्मा सदा एक-सा रहनेवाला है, ऐसे शुद्ध रूप में हम निखर जायेंगे।

अब तक बिना समझे हमने अनन्त बार जन्म-मरण किया। अब उन सब दुःखों को भूलकर द्यानतराय कहते हैं कि हम केवल दो अक्षर 'सोऽहं' (मैं वह सिद्धरूप हूँ) को स्वभाव से निरंतर ध्याते रहेंगे अर्थात् उस रूप की शाश्वत पहचान व प्रतीति करेंगे।

(७१)

राग काफी

अब हम आतमको पहचानाजी॥ टेक॥

जैसा सिद्धक्षेत्रमें राजत, तैसा घटमें जानाजी॥ अब हम.॥ १॥

देहादिक परद्रव्य न मेरे, मेरा चेतन बानाजी॥ अब हम.॥ २॥

'द्यानत' जो जानै सो स्याना, नहिं जानैं सो दिवानाजी॥ अब हम.॥ ३॥

अब हमने अपनी आत्मा को जान लिया है, पहचान लिया है।

सिद्धशिला पर ज्ञानाकारी चैतन्य अपने-अपने अन्तिम देहाकार में अरूपी, सूक्ष्म व शुद्ध होकर निर्बाध रूप से जैसे आसीन होता है, मैंने आत्मा को उसीप्रकार मेरे अन्तर्मन पर आसीन रूप में जान लिया है।

देह आदि सभी द्रव्य मेरे से भिन्न हैं, पर हैं, अन्य हैं। मेरा अपना तो यह चैतन्य स्वरूप ही है।

द्यानतराय कहते हैं कि जिसने इस रूप को जान लिया वह सयाना है, जागृत है और जिसने नहीं जाना वह उन्मत्त है, सुप्त है।

अब हम आतमको पहिचान्यौं ॥ टेक ॥
जबहीसेती मोह सुभट बल, खिनक एकमें भान्यौ ॥ अब. ॥

राग-विरोध-विभाव भजे झर, ममता भाव पलान्यौ।
दरसन ज्ञान चरनमें चेतन, भेदरहित परवान्यौ ॥ अब. ॥ १ ॥

जिहि देखें हम अवर न देख्यो, देख्यो सो सरधान्यौ।
ताकौ कहो कहैं कैसैं करि, जा जानै जिन जान्यौ ॥ अब. ॥ २ ॥

पूरब भाव सुपनवत देखे, अपनो अनुभव तान्यौ।
'द्यानत' ता अनुभव स्वादत ही, जनम सफल करि मान्यौ ॥ अब. ॥ ३ ॥

अहो! अब हमने आत्मा को पहिचान लिया है जब से हमने मोह नाम के प्रबल शत्रु को एक क्षण में जान लिया है।

राग-द्वेषरूपी विभावों को क्षयकर मोहरूपी भाव का हमने नाश कर दिया है और अब अपने चित्त में सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और चारित्र द्वारा भेदरहित एकमात्र अपने चैतन्य स्वरूप को जान लिया है।

इसे देखने-जानने के बाद अब इसके अतिरिक्त हमने किसी को भी नहीं देखा और जो अपने इस चैतन्य स्वरूप को देखा-जाना-पहचाना, उसका ही श्रद्धान/विश्वास किया है।

वह अवर्णनीय है, उसका कोई वर्णन नहीं किया जा सकता। जो उसे जानता है बस वही जानता है।

अब तक रहे भाव सब स्वप्न के समान थे। अब मात्र अपनी आत्मा का अनुभव है। द्यानतराय कहते हैं कि उस अनुभव के स्वाद में, रस ही में शान्ति है, उसी में अपना जन्म सफल माना गया है।

(७३)

अनहद शबद सदा सुन रे ॥ टेक ॥

आपहि सुनै और न जानै, कान बिना सुनिये धुन रे॥ अनहद. ॥ १ ॥

भ्रमर गुंज सम होत निरन्तर, ता अन्तरगत चित चुन रे॥ अनहद. ॥ २ ॥

'द्यानत' तब लौं जीवनमुक्ता, लागत नाहिं करम-घुन रे॥ अनहद. ॥ ३ ॥

हे भव्य! तू इस लोक में उस अक्षय - कभी न क्षय होनेवाले शब्द के नाद को सुन।

उसका नाद, तुझे स्वयं को ही प्रतिपल, बिना कर्ण इन्द्रिय के सहयोग के सुनाई में आ सकता है और तू ही उसे जान सकता है।

वह भँवरे की भन-भन धुन के समान बजता रहता है जो जब तू शान्तचित्त होकर, निश्चिन्त होकर अपने भीतर चित्त में देखता है तभी सुनाई पड़ सकता है।

द्यानतराय कहते हैं कि जब ऐसी जीवनमुक्त स्थिति से सात्म्य होता है तब कर्मों का घुन नहीं लगता है।

अनहद शब्द (नाद) = योगियों को सुनाई देनेवाली आन्तरिक ध्वनि, अनाहत ध्वनि।

आतम अनुभव करना रे भाई ॥ टेक ॥
जबलों भेद-ज्ञान नहिं उपजै, जनम मरन दुख भरना रे॥ भाई. ॥

आतम पढ़ नव तत्त्व बखानै, व्रत तप संजम धरना रे।
आतम-ज्ञान बिना नहिं कारज, जोनी-संकट परना रे॥ भाई. ॥ १ ॥

सकल-ग्रंथ दीपक हैं भाई, मिथ्यातमको हरना रे।
कहा करैं ते अंध पुरुषको, जिन्हैं उपजना मरना रे॥ भाई. ॥ २ ॥

'द्यानत' जे भवि सुख चाहत हैं, तिनको यह अनुसरना रे।
'सोहं' ये दो अक्षर जपकै, भव-जल-पार उतरना रे॥ भाई. ॥ ३ ॥

अरे भाई! अपनी आत्मा का स्मरण करो, उसके चिंतन में लीन रहो, उसकी अनुभूति करो।

जब तक भेद-ज्ञान अर्थात् जीव व पुद्गल के स्वरूप का भेदरूप ज्ञान नहीं हो तब तक जन्म और मरण की शृंखला चलती ही रहेगी, उसके दुःख होते ही रहेंगे।

आत्म-चिन्तन के लिए नवतत्व अर्थात् जीव-पुद्गल और उनका एक-दूसरे की ओर आकर्षण-विकर्षण, उसके कारण होनेवाली आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा की स्थितियाँ और तत्पश्चात् मोक्ष की स्थिति - इन सबका विचार-चिन्तन करते हुए अणुव्रत, तप और संयम का पालन करो। आत्मज्ञान के बिना किया गया कोई कार्य मुक्ति की ओर अग्रसर नहीं करता। आत्मज्ञान के अभाव में भव-भव में, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

सारे ग्रन्थ दीपक के समान प्रकाशक हैं। उनका स्वाध्याय ज्ञानार्जन का साधन है जिससे मिथ्यात्व का अंधकार दूर होता है, मिटता है। वे अन्धे हैं जो उन ग्रन्थों में निहित ज्ञान का उपयोग नहीं करते, वे नियम से जन्म-मरण करते ही रहेंगे।

द्यानतराय कहते हैं कि हे भव्य! यदि तुम सुख चाहते हो तो इस क्रम का अनुसरण करो। मैं जो हूँ – सो मैं हूँ, ऐसे 'सोऽहं' नाम के दो अक्षरों का जाप करके, हृदय में उसकी अनुभूति करके अपने में स्थिर होना ही इस संसार-समुद्र के पार होना है, अर्थात् मुक्ति का यही एकमात्र मार्ग है।

आतम अनुभव कीजै हो॥ टेक॥
जनम जरा अरु मरन नाशकै, अनत काल लौं जीजै हो॥ आतम.॥

देव धरम गुरुकी सरधा करि, कुगुरु आदि तज दीजै हो।
छहौं दरब नव तत्त्व परखकै, चेतन सार गहीजै हो॥ आतम.॥ १॥

दरब करम नो करम भिन्न करि, सूक्षमदृष्टि धरीजै हो।
भाव करमतैं भिन्न जानिकै, बुधि विलास न करीजै हो॥ आतम.॥ २॥

आप आप जानै सो अनुभव, 'द्यानत' शिवका दीजै हो।
और उपाय बन्यो नहिं बनि है, करै सो दक्ष कहीजै हो॥ आतम.॥ ३॥

हे भव्य! तुम अपनी आत्मा का अनुभव करो जिससे जन्म-बुढ़ापा-मरणरूपी रोग का नाशकर तुम अनन्तकाल के लिए अपने आत्म-स्वभाव में स्थिर हो जावो।

देव, गुरु और शास्त्र में पूर्ण श्रद्धाकर, विश्वास कर, उसके विपरीत कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का त्याग करो। छह द्रव्य, नवतत्त्व को भी भली प्रकार जानकर, परखकर इस चेतन का सार-ज्ञान को पूर्णरूप से ग्रहण करो, अंगीकार करो।

द्रव्यकर्म और नोकर्म को अपने से भिन्न जानकर अपने शुद्ध स्वरूप को अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् गहरी दृष्टि से धारण करो। सभी द्रव्यकर्मों को भावकर्मों से भिन्न जानकर मात्र बुद्धि के विलास में तर्क-कुतर्क मत करो।

स्वयं, अपने आप जो कुछ जाना जाए वह ही अनुभव कहलाता है। द्यानतरायजी कहते हैं, मुझे मोक्ष का, शिव का ऐसा ही अनुभव मिले। मोक्ष-प्राप्ति के लिए आत्म-अनुभव के अतिरिक्त और कोई उपाय है ही नहीं। जो ऐसा उपाय कर लेता है, आत्म-अनुभव कर लेता है वह ही मोक्ष पाता है, वही दक्ष कहलाता है, निपुण कहलाता है।

आतम अनुभव कीजिये, यह संसार असार हो॥ टेक॥
जैसो मोती ओसको, जात न लागै बार हो॥ आतम.॥

जैसैं सब वनिजौंविषैं, पैसा उतपत सार हो।
तैसैं सब ग्रंथनिविषैं, अनुभव हित निरधार हो॥ आतम.॥ १॥

पंच महाव्रत जे गहैं, सहैं परीषह भार हो।
आतमज्ञान लखैं नहीं, बूड़ैं कालीधार हो॥ आतम.॥ २॥

बहुत अंग पूरब पढ़्यो, अभयसेन गँवार हो।
भेदविज्ञान भयो नहीं, रुल्यो सरब संसार हो॥ आतम.॥ ३॥

बहु जिनवानी नहिं पढ़्यो, शिवभूती अनगार हो।
घोष्यो तुष अरु माषको, पायो मुकतिदुवार हो॥ आतम.॥ ४॥

जे सीझे जे सीझ हैं, जे सीझैं इहि बार हो।
ते अनुभव परसादतैं, यों भाष्यो गनधार हो॥ आतम.॥ ५॥

पारस चिन्तामनि सबै, सुरतरुआदि अपार हो।
ये विषयसुखको करैं; अनुभवसुख सिरदार हो॥ आतम.॥ ६॥

इंद फनिंद नरिंदके, भाव सराग विथार हो।
'द्यानत' ज्ञान विरागतैं, तद्भव मुकतिमँझार हो॥ आतम.॥ ७॥

हे साधो! आत्मा का अनुभव कीजिए, चिन्तन कीजिए। यह संसार असार है, सार रहित है, विनाशीक है, प्रतिपल नष्ट होनेवाला है। जैसे ओस के मोती क्षणिक हैं-अस्थायी हैं, उसको नष्ट होने में देर नहीं लगती, उसीप्रकार यह संसार भी क्षणिक है, अस्थायी है।

जैसे वणिक-व्यवहार में पैसा कमाना, द्रव्य-अर्जन करना ही सार है, वैसे ही सब ग्रन्थों में अपने हित की बात का निर्धारण ही श्रेष्ठ है।

जो पाँच महाव्रतों को ग्रहण कर उनका पालन करते हैं और सब परीषहों को सहन करते हैं, परन्तु आत्मा को देखते ही नहीं, जिनको आत्मस्वरूप का ज्ञान ही नहीं है, वे व्रत धारण करके भी अंधकार की कालिमा में ही डूबे रहते हैं।

अभयसेन ने बहुत अंगों और पूर्वों का अध्ययन किया पर फिर भी अज्ञानी ही रहा, उसको भेद-विज्ञान नहीं हुआ और इस कारण संसार में ही रुलता (भटकता) रहा, भ्रमण करता रहा।

दूसरी ओर मुनि शिवभूति ने अधिक शास्त्र नहीं पढ़े, परन्तु उनको भेदज्ञान हो गया। उन्होंने तुष-माष की भिन्नता को देख चेतन और जड़ की भिन्नता को जाना और वे मुक्त हो गए।

अब तक जो भी सिद्ध हुए हैं, जो सिद्ध हो रहे हैं तथा जो अब सिद्ध होंगे वे सब अपनी आत्मा को अनुभव करने के परिणामस्वरूप ही सिद्ध हुए हैं - गणधर ने इस प्रकार स्पष्ट बताया है।

पारस, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न आदि सब सुखदाता हैं परन्तु ये सब विषयसुख के दाता हैं जो कि नष्ट होनेवाले होते हैं पर अनुभव से उपजा (उत्पन्न होनेवाला) सुख इन सबमें सर्वोपरि है जो कभी नहीं विनशता।

इन्द्र, नरेन्द्र, फणीन्द्र द्वारा की गई भक्ति सराग भक्ति है, उसका विस्तार है। द्यानतराय कहते हैं कि ज्ञान और वैराग्य से उसी भव से/में मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

तुष = उड़द आदि दालों का ऊपर का छिलका; माष = उड़द।

आतम अनुभव सार हो, अब जिय सार हो, प्राणी ॥ टेक ॥

विषयभोगफणिने तोहि काट्यो, मोह लहर चढ़ी भार हो॥ आतम. ॥ १ ॥

याको मंत्र ज्ञान है भाई, जप तप लहरिउतार हो॥ आतम. ॥ २ ॥

जनमजरामृत रोग महा ये, तैं दुख सह्यो अपार हो॥ आतम. ॥ ३ ॥

'द्यानत' अनुभव-औषध पीके, अमर होय भव पार हो॥ आतम ॥ ४ ॥

आत्मा का अनुभव होना सार है, महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हे जीव! यह ही जीवन का सार है।

विषय भोगरूपी सर्पों के फणों से काटे जाने के कारण तुझ पर मोह की गहल/नशा, एक लहर चढ़ रही है।

इसका किस प्रकार निवारण किया जाए - इसके लिए एकमात्र सशक्त उपाय ज्ञान है, जिसके अनुरूप जप-तप से मोहरूपी/विषय-भोगरूपी सर्पदंश का जहर उतर जाता है।

जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु - ये महान रोग हैं। इनके कारण मैंने बहुत दुःख सहे हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि अनुभव-ज्ञानरूपी औषधि पीकर तू भवसागर के पार होकर अमर हो जा।

(७८)

राग बिलावल

आतम काज सँवारिये, तजि विषय किलोलैं॥ टेक॥
तुम तो चतुर सुजान हो, क्यों करत अलोलैं॥ आतम.॥

सुख दुख आपद सम्पदा, ये कर्म झकोलैं।
तुम तो रूप अनूप हो, चैतन्य अमोलैं॥ आतम.॥ १॥

तन धनादि अपने कहो, यह नहिं तुम तोलैं।
तुम राजा तिहुँ लोकके, ये जात निठोलैं॥ आतम.॥ २॥

चेत चेत 'द्यानत' अबै, इमि सद्‌गुरु बोलैं।
आतम निज पर-पर लखौ, अरु बात ढकोलैं॥ आतम.॥ ३॥

अरे भाई! तू इन्द्रिय-भोग और विषय-वासना की लहरों में अपनी आमोद-प्रमोद की क्रिया को छोड़कर अपनी आत्मा को सँभालने-सँवारने के कार्य में रत हो जा अर्थात् उस व्यवस्था को सुधार ले जिससे तेरी आत्मा का कल्याण हो। अरे, तुम तो चतुर हो, ज्ञानी हो, फिर क्योंकर जड़ के समान व्यवहार करते हो?

सुख-दुख, आपदाएँ व सम्पत्तियाँ – ये सब तो झकोरे हैं। (पेन्डुलम की भाँति) एक दिशा से दूसरी और दूसरी से पहली के बीच ही धकमपेल है। पर तुम अनुपम रूप के धारी चैतन्य हो, जो अमूल्य है।

तुम जिस धन आदि वैभव को अपना कहते हो, उससे तुम्हारी कोई समानता नहीं है। तुम तीन लोक के राजा हो, स्वामी हो। ये सारी बातें तो अकार्य की, बेकार की, निरर्थक बातें हैं। ये सब निठल्लेपन की बातें हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि अब सद्‌गुरु समझाते हैं कि अब तू चेत जा। आत्मा को आत्मा जान, निज को निज व पर को पर जान। इस भेदज्ञान के अलावा सब बातें व्यर्थ हैं।

अलोल = स्थिर (जड़); निठोल = निठल्ले; ढकोलै → ढंकोल = व्यर्थ, ज्वार बाजरा का ठूँठ।

(७९)

राग ख्याल

आतम जान रे जान रे जान॥ टेक॥

जीवनकी इच्छा करै, कबहुँ न मांगै काल। (प्राणी!)
सोई जान्यो जीव है, सुख चाहै दुख टाल॥ आतम.॥ १॥

नैन बैनमें कौन है, कौन सुनत है बात। (प्राणी!)
देखत क्यों नहिं आपमें, जाकी चेतन जात॥ आतम.॥ २॥

बाहिर ढूंढ़ैं दूर है, अंतर निपट नजीक। (प्राणी!)
ढूंढनवाला कौन है, सोई जानो ठीक॥ आतम.॥ ३॥

तीन भुवनमें देखिया, आतम सम नहिं कोय। (प्राणी!)
'द्यानत' जे अनुभव करैं, तिनकौं शिवसुख होय॥ आतम.॥ ४॥

हे भव्यजीव! अपनी आत्मा को जानो, पहचानो, समझो।

जो सदैव जीवन की कामना करता है, कभी मृत्यु की माँग नहीं करता, दु:ख को टालकर, छोड़कर सदैव सुख चाहता है, जो ऐसा चाहता है वह ही जीव है यह जाना जाता है।

आँखों से कौन देखता है, वचन से कौन बोलता है, कानों से बात कौन सुनता है? यह जान! अरे, जो देखता है, बोलता है, सुनता है वही आत्मा है, वही चेतनस्वरूप है, उसे जान। वह तेरे भीतर ही है। तू अपने आप में अपने चेतन स्वरूप को क्यों नहीं निहारता? क्यों नहीं देखता? जिसकी जाति ही चेतन है!

तू उसे बाहिर ढूँढ़ता है, जहाँ से वह बहुत दूर है जबकि वह तो सदा तेरे बिल्कुल निकट है, पूर्णत: समीप है। अरे यह ढूँढ़नेवाला कौन है? तू उसे ही भली प्रकार जान ले, वह ही आत्मा है।

तीन लोक में अच्छी तरह देख ले, आत्मा के समान अन्य कोई तत्व/द्रव्य/पदार्थ नहीं है। द्यानतराय कहते हैं कि जो आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें शिवसुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आतम जाना, मैं जाना ज्ञानसरूप ॥ टेक ॥

पुद्गल धर्म अधर्म गगन जम, सब जड़ मैं चिद्रूप ॥ आतम. ॥ १ ॥

दरब भाव नोकर्म नियारे, न्यारो आप अनूप ॥ आतम. ॥ २ ॥

'द्यानत' पर-परनति कब बिनसै, तब सुख विलसै भूप ॥ आतम. ॥ ३ ॥

मैं ज्ञान स्वरूपी हूँ - मैंने अपना यह स्वरूप जान लिया है।

पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सब जड़ पदार्थ हैं और एक मैं जीव चैतन्य स्वरूप हूँ।

द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म ये सब मुझसे न्यारे हैं। मैं इनसे भिन्न, अलग ही अनुपम स्वरूप हूँ।

द्यानतराय कहते हैं कि तू पर की परिणति अर्थात् पुद्‌गल के साथ उसकी पर्याय धारणकर विनाश का नाटक करता रहता है। उस परणति का नाश करने में तुझे अनन्त सुख की प्राप्ति होगी अर्थात् तब तू तेरे अनन्तसुख का यथार्थ स्वामी होगा।

जम = काल।

(८१)

आतम जानो रे भाई! ॥ टेक ॥

जैसी उज्जल आरसी रे, तैसी आतम जोत।
काया-करमनसों जुदी रे, सबको करै उदोत ॥ आतम. ॥ १ ॥

शयन दशा जागृत दशा रे, दोनों विकलपरूप।
निरविकलप शुद्धातमा रे, चिदानंद चिद्रूप ॥ आतम. ॥ २ ॥

तन वचसेती भिन्न कर रे, मनसों निज लौं लाय।
आप आप जब अनुभवै रे, तहां न मन वच काय ॥ आतम. ॥ ३ ॥

छहौं दरब नव तत्त्वतैं रे, न्यारो आतमराम।
'द्यानत' जे अनुभव करैं रे, ते पावैं शिवधाम ॥ आतम. ॥ ४ ॥

हे भाई! अपनी आत्मा को जानो।

जैसे दर्पण उज्ज्वल, स्वच्छ व स्पष्ट होता है वैसे ही उज्ज्वल, स्वच्छ व स्पष्ट आत्मा होती है। जैसे स्वच्छ दर्पण स्पष्ट व उज्ज्वल छवि प्रकाशित करता है वैसे ही शरीर और कर्मों से भिन्न ज्योतिरूप यह आत्मा सबको प्रकाशित करनेवाली है।

निद्रित (सुप्त) होना व जागृत होना दोनों ही विकल्प हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं से परे है अपना यह शुद्ध आत्मा का स्वरूप, स्थिर व अचंचल, शान्त व निर्मल।

देह और वचन से भिन्न करके अपने मन से इसमें लौ लगाओ, रुचि जगाओ। जब तुम्हारे अनुभव में इसके अस्तित्व का भान हो, तो वहाँ मन, वचन और काय तीनों का अभाव हो जायेगा।

यह आत्मा द्रव्य छहों द्रव्य, सात तत्त्व व नोकर्म से सर्वथा भिन्न है। द्यानतराय कहते हैं कि जो इसका अनुभव करता है वह ही मोक्ष को पाता है।

आतम महबूब यार, आतम महबूब॥ टेक॥
देखा हमने निहार, और कुछ न खूब॥ आतम.॥

पंचिन्द्रीमाहिं रहै, पाचोंतैं भिन्न।
बादलमें भानु तेज, नहीं खेद खिन्न॥ आतम.॥ १॥

तनमें है तजै नाहिं, चेतनता सोय।
लाल कीच बीच पर्‌यो, कीचसा न होय॥ आतम.॥ २॥

जामें हैं गुन अनन्त, गुनमें है आप।
दीवेमें जोत जोतमें है दीवा व्याप॥ आतम.॥ ३॥

करमोंके पास वसै, करमोंसे दूर।
कमल वारिमाहिं लसै, वारिमाहिं जूर॥ आतम.॥ ४॥

सुखी दुखी होत नाहिं, सुख दुखकेमाहिं।
दरपनमें धूप छाहिं, घाम शीत नाहिं॥ आतम.॥ ५॥

जगके व्योहाररूप, जगसों निरलेप।
अंबरमें गोद धर्‌यो, व्योमको न चेप॥ आतम.॥ ६॥

भाजनमें नीर भर्‌यो, थिरमें मुख पेख।
'द्यानत' मनके विकार, टार आप देख॥ आतम॥ ७॥

हे मित्र! यह आत्मा ही प्रियतम है। हमने इसको देखा तो पाया कि इससे अधिक उत्तम कुछ भी नहीं है।

यह पाँचों इन्द्रियों के बीच में रहते हुए भी उनसे भिन्न है। जैसे बादलों के बीच में आने पर भी सूर्य का तेज यथावत रहता है, उसमें कोई कमी नहीं आती। जैसे रत्न कीचड़ के बीच में पड़ा होने पर भी वह कीचड़ नहीं हो जाता, उसी प्रकार देह में स्थित चैतन्य अपना चैतन्य गुण/चेतना नहीं खोता।

उस आत्मा में अनन्तगुण हैं, वह स्वयं गुणमय है, जैसे दिए में ज्योति है और ज्योति में दिया समाहित है, समाया हुआ है।

कमल का फूल जल में रहकर भी जल से भिन्न रहता है (सूखा ही रहता है) उसी भाँति यह आत्मा कर्मों के पास रहकर भी कर्म से सर्वथा भिन्न है।

जिस प्रकार दर्पण में दिखनेवाली धूप-छाँह में तपन या ठंडक नहीं होती, उसी प्रकार सुख-दुख में रहकर भी आत्मा स्वयं सुख-दुःखरूप नहीं होती।

आत्मा जगत के सब व्यवहार करते हुए भी जगत से निर्लिप्त है। यह आकाश में ठहरा हुआ भी आकाश से चिपका हुआ नहीं है।

जैसे बरतन में भरे जल के स्थिर होने पर उसमें अपना चेहरा दिखाई पड़ता है, द्यानतराय कहते हैं कि वैसे ही मन के विकारों को, चंचलता को हटाकर अपने शुद्ध स्वरूप को देख।

खूब = उत्तम; जूर = सूखना।

आतमरूप अनूपम है, घटमाहिं विराजै हो॥ टेक॥
जाके सुमरन जापसों, भव भव दुख भाजै हो॥ आतम.॥

केवल दरसन ज्ञानमैं, थिरतापद छाजै हो।
उपमाको तिहुँ लोकमें, कोऊ वस्तु न राजै हो॥ आतम.॥ १॥

सहै परीषह भार जो, जु महाव्रत साजै हो।
ज्ञान बिना शिव ना लहै, बहुकर्म उपाजै हो॥ आतम.॥ २॥

तिहूँ लोक तिहुँ कालमें, नहिं और इलाजै हो।
'द्यानत' ताकों जानिये, निज स्वारथकाजै हो॥ आतम.॥ ३॥

हे आत्मन्! इस देहरूपी घट में अनुपम आत्मा विराजता है, निवास करता है, उसके स्मरण-चिन्तन मात्र से, जप-तप से भव-भवान्तर के दु:ख दूर हो जाते हैं अर्थात् दु:खों की ओर से ध्यान हट जाता है।

यह आत्मा केवल अपने दर्शन और ज्ञान में स्थिर होने पर ही शोभित होता है। इसकी उपमा के लिए तीन लोक में कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

जो मुनिजन महान तप कर अनेक परीषहों को सहन करते हैं और महाव्रतों का पालन भी करते हैं, पर भेदज्ञान प्रतीति के अभाव में, अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होने के कारण मोक्ष-लक्ष्मी का वरण नहीं कर पाते और मोक्ष-प्राप्ति के अभाव में विविधप्रकार के कर्मों का ही उपार्जन करते हैं।

तीनलोक व तीनकाल में मोक्ष प्राप्ति अर्थात् संसार अवस्था की पीड़ा से मुक्त होने के लिए भेद-ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई इलाज या उपचार नहीं है। द्यानतराय कहते हैं कि मुक्त होना अपने ही लाभ के लिए है, स्व के लिए है; उसके लिए आत्मा का ज्ञान होना, आत्मा को जानना आवश्यक है।

(८४)

राग काफी

आपा प्रभु जाना मैं जाना॥ टेक॥
परमेसुर यह मैं इस सेवक, ऐसो भर्म पलाना॥ आपा.॥

जो परमेसुर सो मम मूरति, जो मम सो भगवाना।
मरमी होय सोइ तो जानै, जानै नाहीं आना॥ आपा.॥ १॥

जाकौ ध्यान धरत हैं मुनिगन, पावत हैं निरवाना।
अर्हत सिद्ध सूरि गुरु मुनिपद, आतमरूप बखाना॥ आपा.॥ २॥

जो निगोदमें सो मुझमाहीं, सोई है शिव थाना।
'द्यानत' निहचैं रंच फेर नहिं, जानै सो मतिवाना॥ आपा.॥ ३॥

मैंने अपने प्रभु/आत्मा को जान लिया है, और आत्मा को जानकर मैंने यह जान लिया है कि कोई एक परमेश्वर हैं और मैं उनका सेवक हूँ - यह एक भ्रम है, इसे दूर करो/दूर करना है।

ये जो परमेश्वर हैं, वह तो मेरी स्वयं की मूर्ति ही है। जो मैं हूँ - वह ही परमेश्वर हैं। जो अनुभवी है वह ही इस सत्य को जानता है, जो यह जानता वह ही वास्तव में ज्ञानी हैं। जो इससे भिन्न/अन्य जानता है वह वास्तव में कुछ नहीं जानता है।

जिसका (आत्मा का) ध्यान करके मुनिजन निर्वाण को प्राप्त करते हैं, अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये सब आत्म-स्वरूप के ही वर्णन हैं, ये सब आत्मा के ही विभिन्न रूप हैं।

जैसी मेरी अपनी आत्मा है, वैसी ही आत्मा निगोद पर्याय के जीवों में है और वैसी ही सिद्धों में है। इस प्रकार परस्पर में भेद से परे, जिसे आत्मस्वरूप का निश्चय है, जो यह नि:शंक रूप से जानता है, वह ही बुद्धिवान है, ज्ञानवान है।

आतमरूप सुहावना, कोई जानै रे भाई।
जाके जानत पाइये, त्रिभुवनठकुराई॥ टेक॥

मन इन्द्री न्यारे करौ, मन और विचारौ।
विषय विकार सबै मिटैं, सहजैं सुख धारौ॥ आतम.॥ १॥

बाहिरतैं मन रोककैं, जब अन्तर आया।
चित्त कमल सुलट्यो तहाँ, चिनमूरति पाया॥ आतम.॥ २॥

पूरक कुंभक रेचतैं, पहिलैं मन साधा।
ज्ञान पवन मन एकता, भई सिद्ध समाधा॥ आतम.॥ ३॥

जिनि इहि विध मन वश किया, तिन आतम देखा।
'द्यानत' मौनी व्है रहे, पाई सुखरेखा॥ आतम.॥ ४॥

ओ भव्य! जरा यह जान करके तो देख कि आत्म-स्वरूप कितना सुहावना है अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप को जान और उसमें रमण कर। उस स्वरूप को जानने मात्र से तीन लोक का स्वामित्व पा लेता है।

मन को इन्द्रिय-विषयों से अलग करो। फिर मन में ही विचार करो तो सब विषय-विकार के दूर होने से सहज ही सुख का आगमन होता है, प्रादुर्भाव होता है।

बाहर की वस्तुओं से अपना ध्यान हटाकर जब तू आत्म-स्वरूप का विचार करने लगेगा, उसी समय हृदय-कमल पर आसीन अपने चैतन्य रूप का दर्शन हो जायेगा।

श्वास को भरने की पूरक क्रिया, उसे रोके रखने की कुंभक क्रिया और श्वास को बाहर निकालने की रेचक क्रिया द्वारा पहले अपने मन को साधो अर्थात् बाहर के अन्य सभी आकर्षणों से अपने को अलग करो। जब ज्ञान, श्वास और मन एक

धारा में बहने लगता है, एकाग्र होता है तब ही समाधि की सिद्धि होती है।

जिसने इस प्रकार अपने मन को वश में किया, उन्होंने अपनी आत्मा को साक्षात् किया अर्थात् आत्मा के दर्शन किए हैं। द्यानतराय कहते हैं कि इस प्रकार मौन लेकर जिसने साधना की उन्हें अपने में ही सुख की प्राप्ति हुई है।

आतमज्ञान लखैं सुख होइ॥ टेक॥
पंचेन्द्री सुख मानत भोंदू, यामें सुखको लेश न कोइ॥ आतम.॥
जैसे खाज खुजावत मीठी, पीछैंतैं दुखतैं दे रोइ।
रुधिरपान करि जोंक सुखी है, सूँतत बहुदुख पावै सोई॥ आतम.॥ १॥
फरस-दन्तिरस-मीनगंध-अलि, रूप-शलभ मृग-नाद हि लोइ।
एक एक इन्द्रनितैं प्राणी, दुखिया भये गये तन खोइ॥ आतम.॥ २॥
जैसे कूकर हाड़ चचौरे, त्यों विषयी नर भोगै भोइ।
'द्यानत' देखो राज त्यागि नृप, वन वसि सहैं परीषह जोइ॥ आतम.॥ ३॥

हे ज्ञानी! ज्ञानस्वरूपी आत्मा के दर्शन, ज्ञान व चिन्तवन से सुख होता है। अरे भोंदू! अज्ञानी! तू पंचेन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है, जबकि इनमें तनिक भी सुख नहीं है। इनमें सुख का अंश भी नहीं है।

जैसे खुजली रोग से पीड़ित व्यक्ति खुजलाने लगता है, तब तनिक सा दु:ख का निवारण मानता है, पर जब खुजलाने के पश्चात् चमड़ी छिल जाती है तो उसकी पीड़ा को, उस दु:ख को सहन करना पड़ता है। उसी प्रकार जैसे खराब खून को चूसकर जौंक मोटी हो जाती है तब सुख मानती है, परन्तु जब उसे दबाकर खून बाहर निकलते हैं तब वेदना होने से अत्यन्त दु:खी होती है।

स्पर्श सुख के कारण हाथी, रसना सुख के लोभ में मछली, सुगंध के लोभ में भँवरा, रूप के लोभ में पतंगा तथा संगीत की धुन के कारण हरिण प्रारंभ में मस्ती व आनन्द का अनुभव करते हैं किन्तु इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय विषय के कारण ये प्राणी उसके वशीभूत हो, दु:खी होते हैं और प्राण भी गँवाते हैं।

जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है और उसमें/उस समय सुख मानता है, वैसे ही भोगी, विषयी मनुष्य इन्द्रिय भोग भोगने में सुख समझता है। द्यानतराय कहते हैं जो यह तथ्य समझ जाते हैं वे राजा होते हुए भी राज्य त्यागकर जोगी बनकर वन को चले जाते हैं और अनेक परीषह सहन कर आत्म-साधना करते हैं।

(८७)

आपमें आप लगा जी सु हौं तो ॥ टेक ॥

सुपनेका सुख दुख किसके, सुख दुख किसके,
मैं तो अनुभवमाहिं जगा जी सु हौं तो ॥ आप. ॥ १ ॥

पुदगल तो ममरूप नहीं, ममरूप नहीं,
जैसे का तैसा सगा जी सु हौं तो ॥ आप. ॥ २ ॥

'द्यानत' मैं चेतन वे जड़, वे जड़ हैं,
जड़सेती पगा जी, सु हौं तो ॥ आप. ॥ ३ ॥

हे जीव! तू अपने आप में अपने को केन्द्रित कर, उसमें ही अपने आपको लगा।

ये सुख-दु:ख तो स्वप्न के समान हैं। ये किसके हैं? मेरा अपना तो मात्र अनुभव है, जो स्वयं अपने में होता है।

जो जैसा होता है वैसे ही उसके सगे होते हैं। पुद्गल मेरा जैसा नहीं है इसलिए वह मेरा सगा नहीं है। अर्थात् समान गुण-धर्मवाले ही परस्पर सगे होते हैं, मैं जीव हूँ वह पुद्गल है अत: वह मेरा सगा नहीं हो सकता।

द्यानतराय कहते हैं कि मैं चेतन हूँ, यह देह जड़ है। जड़ के समान ही इसका व्यवहार है। इसलिए ये देह मेरी नहीं है।

इस जीवको, यों समझाऊं री! ॥ टेक ॥

अरस अफरस अगंध अरूपी, चेतन चिन्ह बताऊं री॥ इस.॥ १॥

तत तत तत तत, थेई थेई थेई थेई तन नन री री गाऊं री॥ इस.॥ २॥

'द्यानत' सुमत कहै सखियनसों, 'सोहं' सीख सिखाऊं री॥ इस.॥ ३॥

सुमति कहती है कि मैं इस जीव को इस प्रकार समझाती हूँ -

तू न तो रस है, न स्पर्श है, न गंध है और न रूप है अर्थात ये इन्द्रियाँ और इनके विषय तू नहीं है। तू तो चेतन है, यह ही तेरा चिह्न है, पहचान है।

और इस प्रकार समझाती हुई मैं तत तत, थेई थेई, तन तन गाती रहती हूँ।

द्यानतराय कहते हैं कि सुमति इसप्रकार अपनी सखियों को 'सोऽहं' की सीख, प्रतीति, ज्ञान सिखलाती है अर्थात् बताती है कि आत्मा का जो शुद्धरूप है 'वह मैं हूँ'।

एक ब्रह्म तिहुँलोकमँझार, ऐसैं कहैं बनै नहिं यार॥ टेक॥

और हुकमतैं मारै और, और पुकार करै उस ठौर॥ एक.॥ १॥

षट रस भोजन जीमैं धीर, भीख न पावै एक फकीर॥ एक.॥ २॥

धरमी सुरगमाहिं सुख करै, पापी नरक जाय दुख भरै॥ एक.॥ ३॥

एकरूप अविनाशी वस्त, खंड खंड क्यों भया समस्त॥ एक.॥ ४॥

शुद्ध निरंजन शुचि अविकार, क्यों कर लयो गरभ अवतार॥ एक.॥ ५॥

करम बिना इच्छा क्यों भई, इच्छा भई शुद्धता गई॥ एक.॥ ६॥

जीव अनन्त भरे भुविमाहिं, 'द्यानत' कर्म कटैं शिव जाहिं॥ एक.॥ ७॥

कहा जाता है कि तीन लोक में एक ही ब्रह्म है, वह सर्वत्र व्याप्त है। सो मित्र, ऐसा कहने से कुछ बात बनती नहीं है।

यदि कोई एक ही नियन्ता है तो जब कोई किसी को मारता है तब वह स्वयं नहीं मारता, वह अन्य की (ब्रह्मा की, नियन्ता की) आज्ञा से मारता है तब वह पीड़ित अपने दु:ख की पुकार किस से करे? किससे प्रार्थना करे, किसकी शिकायत करे व कहाँ करे?

कोई धैर्यपूर्वक छहों रस से युक्त भोजन करता है, पर फकीर को माँगने पर भीख भी नहीं मिलती। (जब एक ही नियन्ता है तो ऐसी भिन्नता क्यों?)

धर्म करनेवाले स्वर्ग में जाकर सुख पाते हैं और पाप करनेवाले नरकगामी होकर दु:ख पाते हैं। तो उस एक ही ब्रह्मा के नियन्ता होते हुए जीव पाप क्यों करता है? कैसे करता है?

जो एक रूप है, कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता, वह इस प्रकार विभिन्न जीवरूपों में खंड-खंड क्यों होता है?

वह ब्रह्म शुद्ध है, मलरहित अमल है, विकाररहित है, फिर बार-बार गर्भ में आकर क्यों अवतरित होता है? क्यों अवतार लेता है? यदि वह ब्रह्मा कर्मरहित है तो कर्मों के बिना उसको अवतार लेने की इच्छा क्यों होती है? इच्छा होते ही तो शुद्धि समाप्त हो जाती है (क्योंकि जब तक इच्छा है तब तक राग रहता है)।

इस संसार में अनन्त जीव हैं, उनके कर्म नष्ट होने पर उन्हें ही मोक्ष होता है, वे ही ब्रह्मा/भगवान बन जाते हैं ऐसा द्यानतराय कहते हैं।

(९०)

ए मेरे मीत! निचीत कहा सोवै॥ टेक॥

फूटी काय सराय पायकैं, धरम रतन जिन खोवै॥ ए.॥ १॥

निकसि निगोद मुकत जैवेको, राहविषैं कहा जोवै॥ ए.॥ २॥

'द्यानत' गुरु जागुरू पुकारैं, खबरदार कि न होवै॥ ए.॥ ३॥

ऐ मेरे मित्र, प्रिय! तू निश्चिन्त होकर क्यों सो रहा है?

ये कायारूपी सराय जिसके नौ द्वार हैं अर्थात् नौ स्थान से फूटी हुई है तू इसमें रत होकर धर्मरूपी रत्न को क्यों खो रहा है?

निगोद से निकलकर तुझे मुक्ति/मोक्ष को जाना है तब तू बीच में, राह में विषयों की ओर क्यों देखता है? विषयों में क्यों फँसाता है?

द्यानतराय कहते हैं कि सतगुरु तुझे पुकार-पुकार कर जगाते हैं, सावचेत कराते हैं तो तू सावधान क्यों नहीं होता? खबरदार क्यों नहीं होता?

जोवै - देखना, ध्यान देना।

ऐसो सुमरन कर मेरे भाई, पवन थँभै मन कितहूँ न जाई॥ टेक॥
परमेसुरसों साँच रही जै, लोकरंजना भय तज दीजै॥ ऐसो.॥

जम अरु नेम दोउ विधि धारो, आसन प्राणायाम सँभारो।
प्रत्याहार धारना कीजै, ध्यान-समाधि-महारस पीजै॥ ऐसो.॥ १॥

सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसे मरो बहुरि नहिं मरना॥ ऐसो.॥ २॥

पंच परावर्तन लखि लीजै, पांचों इन्द्रीको न पतीजै।
'द्यानत' पांचों लच्छि लहीजै, पंच परम गुरु शरन गहीजै॥ ऐसो.॥ ४॥

ऐ मेरे मन, ऐ मेरे भाई! तू ऐसा सुमिरन कर कि जिससे तेरे श्वास की चंचलता थम जाए अर्थात् उद्वेग रुककर मंदता-समता आ जाये और मन इधर-उधर न भटके अर्थात् एकाग्रता हो जाए। परमेश्वर से सदा सच्चे रहिए और लोक-दिखावा व उसके भय को छोड़ दीजिए।

यम और नियम दोनों का विधिपूर्वक पालन करो। तन को स्थिर करने हेतु आसन और प्राणायाम दोनों का अभ्यास-साधन करो। फिर प्रत्याहार व धारणा करते हुए ध्यान में लीन होकर समाधिस्थ हो जाओ और आनन्द रस का आस्वादन करो।

तप करो तो ऐसा कि फिर पुनः तप न करना पड़े, जाप जपो तो ऐसा कि फिर पुनः जाप न करना पड़े। व्रत का अनुपालन करो तो ऐसा कि फिर पुनः कभी व्रत न करना पड़े और मृत्यु का वरण करो तो ऐसा कि फिर कभी मृत्यु का प्रसंग ही न आए अर्थात् मुक्ति हो जाए, मोक्ष हो जाए।

संसार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव, इन पंचपरावर्तन को दृष्टिगत रखकर पंच-इन्द्रिय के विषयों में रत मत हो। द्यानतराय कहते हैं कि इस प्रकार पाँच लब्धियों को प्राप्तकर पंचपरमेष्ठी की शरण ग्रहण करो।

यम = जीवनपर्यन्त के लिए किया गया त्याग; नियम = काल की मर्यादा लेकर किया गया त्याग।

(१२)

कर कर आतमहित रे प्रानी ॥ टेक ॥
जिन परिनामनि बंध होत है, सो परनति तज दुखदानी ॥ कर. ॥

कौन पुरुष तुम कहां रहत हौ, किहिकी संगति रति मानी।
जे परजाय प्रगट पुद्गलमय, ते तैं क्यों अपनी जानी ॥ कर. ॥ १ ॥

चेतनजोति झलक तुझमाहीं, अनुपम सो तैं विसरानी।
जाकी पटतर लगत आन नहिं, दीप रतन शशि सूरानी ॥ कर. ॥ २ ॥

आपमें आप लखो अपनो पद, 'द्यानत' करि तन-मन-बानी।
परमेश्वरपद आप पाइये, यौं भाषैं केवलज्ञानी ॥ कर. ॥ ३ ॥

अरे भले प्राणी, अपनी आत्मा का हित कर ले। जिन कषाययुक्त परिणामों के कारण संक्लेश होकर कर्मों का बंधन होता है वे सब दु:खदायी हैं, उनको छोड़ दो।

हे प्राणी! जरा विचार करो - तुम कौन हो? कहाँ रहते हो? किसकी संगति तुमको रुचिकर लग रही है? किसका साथ तुमको भा रहा है? ये पर्यायें जो प्रकट में हैं वे सब स्पष्टत: तो पुद्गलजन्य हैं, तू चेतन उन्हें क्योंकर अपना मान रहा है?

हे प्राणी! तुझमें चैतन्य की अनुपम प्रकाश/झलक दिखाई देता है, उसे तूने विस्मृत कर दिया, भुला दिया। चन्द्र, सूर्य, रत्नदीप या अन्य कोई भी उस चेतन-प्रकाश की समता/तुलना करने में समर्थ नहीं।

द्यानतराय कहते हैं कि हे प्राणी! मन, वचन और काय से अपने आपका स्वरूप-चिन्तन करो तो तुमको भी कैवल्य की उपलब्धि हो जायेगी। ऐसा केवलज्ञानी देवों ने स्वयं ने बताया है, कथन किया है।

(९३)

कर रे! कर रे! कर रे!, तू आतम हित कर रे॥ टेक॥
काल अनन्त गयो जग भमतैं, भव भवके दुख हर रे॥ कर रे.॥

लाख कोटि भव तपस्या करतैं, जितो कर्म तेरो जर रे।
स्वास उस्वासमाहिं सो नासै, जब अनुभव चित धर रे॥ कर रे.॥ १॥

काहे कष्ट सहै बन माहीं, राग दोष परिहर रे।
काज होय समभाव बिना नहिं, भावौ पचि पचि मर रे॥ कर रे.॥ २॥

लाख सीखकी सीख एक यह, आतम निज, पर पर रे।
कोट ग्रंथको सार यही है, 'द्यानत' लख भव तर रे॥ कर रे.॥ ३॥

हे प्राणी! अनन्त काल इस संसार-महावन में भटकते हुए व्यतीत हो गया। अब तो इन भव-भवान्तरों के दुःख का हरण कर मुक्त कर दे। तू अपनी आत्मा का हित-भला कर रे।

लाखों भव तक तपस्या करके भी इस कर्मरूपी रोग का नाश करो, उसे जीतो। जिस क्षण भी तुम अपने अनुभव में आजाओगे, उसी श्वासोश्वास में, उसी क्षण में कर्म नष्ट हो जायेंगे।

किस कारण से/किसलिए तू वन में जाकर कष्ट सहन करता है? तू मात्र राग-द्वेष को छोड़ दे। समता भाव के बिना कुछ भी नहीं होगा। उसके बिना तू चाहे कितना ही मरता-पचता रह।

लाख बात की एक बात यह है कि यह अनुभव कर कि मैं आत्मा हूँ और सब पर है। यह भेदज्ञान ही करोड़ों ग्रन्थों का सार है। द्यानतराय कहते हैं कि तू इतना-सा समझकर भव से पार हो ले।

(२४)

राग बिलावल

कहिवेको मन सूरमा, करवेको काचा ॥ टेक ॥
विषय छुड़ावै औरपै, आपन अति माचा ॥ कहिवे. ॥

मिश्री मिश्रीके कहैं, मुँह होय न मीठा।
नीम कहैं मुख कटु हुआ, कहुँ सुना न दीठा ॥ कहिवे. ॥ १ ॥

कहनेवाले बहुत हैं, करनेको कोई।
कथनी लोक-रिझावनी, करनी हित होई ॥ कहिवे. ॥ २ ॥

कोड़ि जनम कथनी कथै, करनी बिनु दुखिया।
कथनी बिनु करनी करै, 'द्यानत' सो सुखिया ॥ कहिवे. ॥ ३ ॥

अरे मन! तू कहने के लिए तो शूरवीर बनता है पर क्रिया करने के लिए अत्यन्त कमजोर है। अर्थात् मन की उड़ान की कोई थाह नहीं, पर क्रिया करने में अत्यन्त असमर्थ है। अन्य लोगों को तो इन्द्रिय-विषय छोड़ने का उपदेश देता है, परन्तु तू स्वयं उनमें रच-पच रहा है, बहुत रत हो रहा है।

मिश्री-मिश्री कहनेभर से मुँह मीठा नहीं होता और न नीम-नीम कहने से मुँह कडुवा होता है। ऐसा होते हुए न कहीं सुना और न ही कहीं देखा।

कहनेवाले तो बहुत है, परन्तु करने के लिए कोई विरले ही होते हैं। कहना मात्र तो लोक को रिझाने के लिए होता है, जबकि हित तो उसके करने से होता हैं।

करोड़ों जन्म तक कहता तो रहा, अर्थात् कहते-कहते करोड़ों जन्म बीत गये पर किया कुछ नहीं, इसलिए दु:खी हुआ। द्यानतराय कहते हैं कि जो शक्ति मात्र कहने में अर्थात् बातें करने में व्यय की जाती है उस शक्ति को जो कोई क्रिया करने में व्यय करता है वह ही सुख पाता है अर्थात् जो कहता नहीं है बल्कि करने में अपनी शक्ति का उपयोग करता है वही लाभ पाता है।

(९५)

राग काफी

कर मन! निज-आतम-चिंतौन ॥ टेक ॥
जिहि बिनु जीव भम्यो जग-जौन ॥ कर. ॥

आतममगन परम जे साधि, ते ही त्यागत करम उपाधि ॥ कर. ॥ १ ॥

गहि व्रत शील करत तन शोख, ज्ञान बिना नहिं पावत मोख ॥ कर. ॥ २ ॥

जिहितैं पद अरहन्त नरेश, राम काम हरि इंद फणेश ॥ कर. ॥ ३ ॥

मनवांछित फल जिहितैं होय, जिहिंकी पटतर अवर न कोय ॥ कर. ॥ ४ ॥

तिहूँ लोक तिहुँकाल-मँझार, वरन्यो आतमअनुभव सार ॥ कर. ॥ ५ ॥

देव धरम गुरु अनुभव ज्ञान, मुकति नीव पहिली सोपान ॥ कर. ॥ ६ ॥

सो जानैं छिन व्है शिवराय, 'द्यानत' सो गहि मन वच काय ॥ कर. ॥ ७ ॥

ए मेरे मन! तू अपनी आत्मा का चिंतवन कर, इसके बिना जीव सारे जगत की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है।

जो आत्मस्वरूप के चिन्तन में मगन रह कर परम साधना करते हैं, वे ही कर्मों की उपाधि को छोड़ पाते हैं।

जो व्रत-शील आदि का पालन करते हैं, वे इस देह को कृश कर देते हैं, सुखा देते हैं; परन्तु आत्म-ज्ञान के बिना उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

ज्ञान से ही राजपद, राम, कामदेव, विष्णु, इंद्र, धरणेन्द्र का पद पाता है। ज्ञान से ही अरहंत पद प्राप्त होता है।

इस ज्ञान से सब मनोवांछित कामनाएँ पूर्ण होती हैं जिसकी समता कोई अन्य नहीं कर सकता।

तीनों लोक, तीनों काल में साररूप यदि कुछ है तो वह मात्र आत्मा का अनुभव ही है।

देव, धर्म, गुरु के गुणों का अनुभव-ज्ञान ही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है।

द्यानतराय कहते हैं कि मन, वचन और काय से जिसको आत्म-श्रद्धा हो अर्थात् जो आत्मा को जान गया वह ही मोक्ष पद पाता है।

(९६)

कर मन! वीतरागको ध्यान॥ टेक॥

जिन जिनराय जिनिंद जगतपति, जगतारन जगजान॥ कर.॥

परमातम परमेस परमगुरु, परमानंद प्रधान।
अलख अनादि अनन्त अनुपम, अजर अमर अमलान॥ कर.॥ १॥

निरंकार अविकार निरंजन, नित निरमल निरमान।
जती व्रती मुन ऋषी सुखी प्रभु, नाथ धनी गुन ज्ञान॥ कर.॥ २॥

सिव सरवज्ञ सिरोमनि साहब, सांई सन्त सुजान।
'द्यानत' यह गुन नाममालिका, पहिर हिये सुखदान॥ कर.॥ ३॥

हे मेरे मन! तू वीतराग प्रभु का ध्यान कर।

अपने आप पर विजय पानेवाले जो जिन हैं, उनमें जो शिरोमणि हैं, जिनेन्द्र हैं, जगत के स्वामी हैं, उनको सारा जगत जानता है कि ये ही जग से तारनेवाले हैं। वे वीतराग ही परम आत्मा हैं, परम ईश्वर हैं, परम गुरु हैं, परमानन्द के देनेवालों में प्रधान हैं, मुख्य हैं। वे अदृष्ट हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, उपमारहित-अनुपम हैं, कभी भी मलिन न होनेवाले प्रसन्नमूर्ति हैं।

उनका कोई पुद्गल आकार नहीं है, वे निराकार हैं, विकाररहित हैं, दोषरहित-निरंजन हैं, मानरहित हैं।

वे यति, व्रती, मुनि, ऋषि व आनंदितजनों के प्रभु हैं, ज्ञानगुण के धनी हैं, स्वामी हैं।

वे वीतराग शिव (मोक्ष) हैं, सर्वज्ञ हैं, श्रेष्ठ स्वामी हैं, सन्तों द्वारा जाने गए हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि जो उनके नाम की, गुणों की यह माला हृदय में धारण करता है, उसे यह सुख प्रदान करती है।

(९७)

कारज एक ब्रह्महीसेती ॥ टेक ॥

अंग संग नहिं बहिरभूत सब, धन दारा सामग्री तेती ॥ कारज. ॥

सोल सुरग नव ग्रैविकमें दुख, सुखित सातमें ततका वेती।
जा शिवकारन मुनिगन ध्यावैं, सो तेरे घट आनँदखेती ॥ कारज. ॥ १ ॥

दान शील जप तप व्रत पूजा, अफल ज्ञान बिन किरिया केती।
पंच दरब तोतैं नित न्यारे, न्यारौ रागदोष विधि जेती ॥ कारज. ॥ २ ॥

तू अविनाशी जगपरकासी, 'द्यानत' भासी सुकलावेती।
तजौ लाल! मनके विकलप सब, अनुभव-मगन सुविद्या एती ॥ कारज. ॥ ३ ॥

हे जीव! निज ब्रह्म में लीन रहना, मगन रहना, यह ही तो एक करणीय है, कार्य है, परिणाम है। यह देह, धन, स्त्री और परिग्रह की सामग्री ये सब बाह्य हैं।

सौलहवें स्वर्ग व नव ग्रैवियक में भी वह दुःखी है। सुखी तो सात तत्वों को जाननेवाला है, जिस सुख प्राप्ति के निमित्त मुनिगण भी जिसकी स्तुति-चिन्तन करते हैं वह आनन्द का क्षेत्र तेरे अपने अन्तर में ही है।

बिना ज्ञान के शील, जप, तप, व्रत, पूजा आदि की क्रियाएँ भी कोई फल देनेवाली नहीं हैं। पाँचों द्रव्य भी तुझसे भिन्न हैं और राग-द्वेष की विधि भी तुझ से अलग है।

द्यानतराय कहते हैं कि तू अविनाशी है, जेता है, प्रकाशी है, शुक्ल ध्यान में लीन है। इसलिए हे भव्य! तू मन के सब विकल्प छोड़कर अपने आत्मा के अनुभव की सुविधा में मगन हो जा।

घटमें परमातम ध्याइये हो, परम धरम धनहेत।
ममता बुद्धि निवारिये हो, टारिये भरम निकेत॥ घटमें.॥

प्रथमहिं अशुचि निहारिये हो, सात धातुमय देह।
काल अनन्त सहे दुखजानैं, ताको तजो अब नेह॥ घटमें.॥ १॥

ज्ञानावरनादिक जमरूपी, निजतैं भिन्न निहार।
रागादिक परनति लख न्यारी, न्यारो सुबुध विचार॥ घटमें.॥ २॥

तहाँ शुद्ध आतम निरविकलप, ह्वै करि तिसको ध्यान।
अलप कालमें घाति नसत हैं, उपजत केवलज्ञान॥ घटमें.॥ ३॥

चार अघाति नाशि शिव पहुँचे, विलसत सुख जु अनन्त।
सम्यकदरसनकी यह महिमा, 'द्यानत' लह भव अन्त॥ घटमें.॥ ४॥

हे साधक! परम धन - मोक्ष की प्राप्ति हेतु अपने घट में/हृदय में अपनी आत्मा के परम स्वरूप का ध्यान कीजिए। राग और ममत्व-बुद्धि को छोड़िए, वह ही सब प्रकार के भ्रम का कारण है, भ्रम का घर है।

सर्वप्रथम अपनी इस सात धातुमय देह की ओर देखो। इसमें सर्वत्र अशुचि भरी है, उसी से यह निर्मित है। अनन्तकाल से इस देह के माध्यम से दुःख सहे हैं, अब इससे अपना ममत्व तोड़ो।

ज्ञानावरणादिक कर्म मृत्यु की भाँति जकड़े हुए हैं। उनसे भिन्न अपनी आत्मा के निर्मल स्वरूप को निहार, देख! अपने अच्छे-शुद्ध विचारों के मुकाबले रागादिक की परिणति/स्थिति अत्यन्त भिन्न है।

तू तेरे शुद्ध आत्मा का, जिसके किसी भी प्रकार का विकल्प या विभाव नहीं है, उस रूप में ध्यान कर। उससे अल्पकाल में तेरे घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्ति की संभावना हो जायेगी।

तत्पश्चात् जब शेष चार अघातिया कर्मों का क्षरण हो जावेगा तब तू मोक्ष अर्थात् शिव स्थान पर जाकर अनन्त सुख को अनन्त काल तक भोगेगा। द्यानतराय कहते हैं कि सम्यकदर्शन की महिमा यह ही है कि इससे भव-भ्रमण की सीमा सीमित होती जाती है।

(९९)

चेतनजी! तुम जोरत हो धन, सो धन चलत नहीं तुम लार॥ टेक॥

जाको आप जान पोषत हो, सो तन जलकैं ह्वै है छार॥ चेतन.॥ १॥

विषय भोगके सुख मानत हो, ताको फल है दुःख अपार॥ चेतन.॥ २॥

यह संसार वृक्ष सेमरको, मान कह्यो हौं कहत पुकार॥ चेतन.॥ ३॥

हे चेतन! तुम धन संग्रह में लगे हो। पर यह धन तुम्हारे साथ नहीं जायेगा।

तुम अपना जानकर जिस शरीर का पोषण करते हो, वह शरीर भी साथ नहीं जाता, वह भी जलकर के खाक/भस्म हो जाता है।

तुम विषयभोग में सुख मानते हो, उनका फल अपार दु:ख ही मिलता है। यह संसार सेमर के वृक्ष के समान है। सेमर वृक्ष के फूल देखने में सुन्दर होते हैं, परन्तु उसके फल निस्सार होते हैं। ज्ञानीजन पुकार करके तुमको समझा रहे हैं, चेता रहे हैं, तुम यह मान लो, समझ लो।

(१००)

चेतन! तुम चेतो भाई, तीन जगत के नाथ॥ टेक॥

ऐसो नरभव पायकैं, काहे विषया लवलाई॥ चेतन.॥ १॥

नाहीं तुमरी लाइकी, जोबन धन देखत जाई।
कीजे शुभ तप त्यागकै, 'द्यानत' हूजे अकषाई॥ चेतन.॥ २॥

हे चेतन! अब तो चेतो। तुम तो तीन लोक के नाथ/स्वामी हो। ऐसा मनुष्य जन्म पाकर तुम इन्द्रिय-विषयों में रत क्यों हो?

इसमें तुम्हारी योग्यता नहीं है कि तुम यौवन, धन आदि को ही देख रहे हो, उन्हीं में अटक रहे हो। तुम शुभ तप और त्याग करो, द्यानतराय कहते हैं कि ऐसा करने से तुम कषायरहित हो जाओगे।

प्राणी! तुम तो आप सुजान हो, अब जी सुजान हो॥ टेक॥

अशुचि अचेत विनश्वर रूपी, पुद्गल तुमतैं आन हो।
चेतन पावन अखय अरूपी, आतमको पहिचान हो॥ प्राणी.॥ १॥

नाव धरेकी लाज निबाहो, इतनी विनती मान हो।
भव भव दु:ख को जल दे 'द्यानत', मित्र! लहो शिवथान हो॥ प्राणी.॥ २॥

हे चेतन! तुम तो स्वयं समझदार हो, विवेकवान हो।

यह देह अशुचि है, अचित अर्थात् जड़ है, नष्ट होनेवाली है, पुद्गल है। यह तुम से/आत्मा से भिन्न है, अलग है। तुम (आत्मा) तो चैतन्य हो, अक्षय हो, अरूपी हो, ऐसे आत्मा की पहचान करो।

द्यानतराय कहते हैं कि हे चेतन! आप अपने नाम का, उसके अनुरूप कीर्ति का, अपनी मान-मर्यादा का निर्वाह करो और इतनी विनती स्वीकार करो - भव-भव के दु:खों को जलांजलि दो, त्याग दो तो ए मित्र, तुम मोक्ष को प्राप्त करो।

चेतन नागर हो तुम, चेतो चतुर सुजान, आपहित कीजिये हो ॥ टेक ॥

प्रथम प्रणमु अरहन्त जिनेश्वर, अनँत चतुष्टयधारी।
सिद्ध सूरि गुरु मुनिपद बन्दों, पंच परम उपगारी॥
बन्दों शारद भवदधिपारद, कुमतिविनाशनहारी।
देहु सुबुद्धि मेरे घट अन्तर, कहों कथा हितकारी॥ चेतन.॥ १॥

यह संसार अनादि अनन्त, अपार असार बतायो।
जीव अनादि कालसों ले करि, मिथ्यासों लपटायो॥
तातैं भ्रमत चहूँगति भीतर, सुख नहिं दुख बहु पायो।
जिनबानीसरधान बिना तैं, काल अनन्त गुमायो॥ चेतन.॥ २॥

काम भोगके सुख मानत है, विषय रोगकी पीरा।
तासु विपाक अनन्त गुणा तोहि, नरकमाहिं ह्वै धीरा॥
पाप करमकरि सुख चाहत है, सुख नहिं ह्वै है वीरा।
बोये आक आम किमि खैहो, काँच न ह्वै है हीरा॥ चेतन.॥ ३॥

पाप करम करि दरब कमायो, पापहि हेत लगायो।
दोनों पाप कौन भोगैगो, सो कछु भेद न पायो॥
दुशमन पोषि हरष बहु मान्यो, मित्र न संग सुहायो।
नरभव पाय कहा तैं कीनों, मानुष वृथा कहायो॥ चेतन.॥ ४॥

सात नरकके दुख भूले अरु गरभ जनम हू भूले।
काल दाढ़ विच कौन अशुचि तन, कहा जान जिय फूले॥
जान बूझ तुम भये बावरे, भरम हिंडोले झूले।
राई सम दुख सह न सकत हो, काम करत दुखमूले॥ चेतन.॥ ५॥

साता होत कछुक सुख मानै, होत असाता रोवै।
ये दोनों हैं कर्म अवस्था, आप नहीं किन जोवै॥
औरन सीख देत बहु नीकी, आप न आप सिखावै।
सांच साच कछु झूठ रंच नहिं, याहीतैं दुख पावै॥ चेतन.॥ ६॥

पाप करत बहु कष्ट होत है, धरम करत सुख भाई!
बाल गुपाल सबै इम भाषैं, सो कहनावत आई!
दुहिमें जो तोकौं हित लागै, सो कर मनवचकाई।
तुमको बहुत सीख क्या दीजे, तुम त्रिभुवनके राई॥ चेतन.॥ ७॥

त्रस पंचेन्द्रीसेती मानुष, औसर फिर नहिं पै है।
तन धन आदि सकल सामग्री देखत देखत जै है।
समझ समझ अब ही तू प्राणी! दुरगतिमें पछतैहै।
भज अरहन्तचरण जुग 'द्यानत', बहुरि न जगमें ऐ है॥ चेतन.॥ ८॥

हे विवेकी सुजन! तुम चैतन्य राजा हो, अब तो चेतो। अपना हित करो।

सर्वप्रथम अनन्त चतुष्टय के धारी अरहंत देव को प्रणाम करो। फिर सिद्ध, आचार्य, गुरु अर्थात् उपाध्याय और मुनि के चरणों में नमन करो। ये पाँचों ही उपकार करनेवाले हैं। फिर सरस्वती जो इस भव-समुद्र से पार उतारनेवाली है और कुमति का नाश करनेवाली है, का वंदन करो। वे मुझे मेरे अन्तर में सुबुद्धि दें। ऐसी हितकारी कथा कहें कि जिससे उनके गुणों की अनुभूतिरूप पहचान हो।

यह संसार अनादि व अनन्त है, इसका कोई पार नहीं है, किन्तु यह निस्सार-साररहित है। अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण जीव इसमें लिपटा हुआ है, जिसके कारण चारों गतियों में भटककर सुख नहीं, बहुत दुःख पाये हैं। जिनेन्द्र वचन/जिनवाणी का श्रद्धान किए बिना अनन्तकाल व्यर्थ में व्यतीत हो गए, बिता दिए।

काम और भोग को सुख मानकर जीव इन्द्रिय-विषयों की पीड़ा को सहन करता रहा। जिसके परिणामस्वरूप उससे भी अनन्तगुणा फल पाकर नरकगति में दुर्दशा को प्राप्त हुआ। पाप करके सुख की कामना करता रहा। हे भाई! उससे सुख नहीं होता। जरा सोच! आकड़ा बोकर आम किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? जैसे काच कभी भी हीरा नहीं हो सकता।

पाप क्रिया करके ध्यान अर्जित किया और उसे फिर पाप-कार्यों में ही लगा दिया। इन दोनों क्रियाओं के पाप का भागी - भोगनेवाला कौन होगा? इस भेद की बात को जीव समझ ही नहीं पाया। दुश्मन को (मिथ्यात्व को) पोषण देकर, उसे पाल-पोसकर हर्षित हुआ और कल्याणकारी व उपयोगी मित्रों का (सम्यक्त्व का) साथ मन को रुचिकर नहीं लगा। इस प्रकार नरभव पाकर तूने क्या किया? (कुछ भी भला नहीं किया।) तू तो नाहक ही मनुष्य कहलाया।

जीव सातों नरकों के दुःखों को, गर्भकाल व जन्म के दुःखों को (जो उसने भोगे थे उन) सभी को भूल गया। इस अशुचि - मैल से भरे तन को जो सदा नाशवान है, जो सदा मृत्यु की दाढ़ में रहता है, उसे पाकर जीव फूला हुआ रहता है, फूला जाता है, प्रसन्न होता है। हे जीव! तू जान-बूझकर भ्रम में पड़ा हिण्डोले की भाँति इधर-उधर झूल रहा है। यह जीव राई के समान थोड़ा सा दुःख भी सहन नहीं कर पाता, पर काम दुःख उपजाने के करता रहता है।

साता का (सुख का) थोड़ा-सा उदय होने पर सुख मानता है और असाता होने पर दुःखी होकर रोता है। ये दोनों अवस्थाएँ तो कर्मजन्य हैं, कर्मों के कारण हैं। परन्तु जीव अपने आप की ओर नहीं देखता। दूसरों को तो भली प्रकार सीख व शिक्षा देता है, पर स्वयं उस पर आचरण नहीं करता। यह ही सत्य है। इसमें कुछ भी झूठ नहीं है। इस ही के कारण दुःख पाता है।

हे जीव! पाप से पीड़ा व कष्ट होता है। धर्म से सुख होता है। सभी यह कहते हैं कि छोटे से लेकर बड़े तक सब इस बात को समझते हैं। इन दोनों (पाप और धर्म) में जो तुझे हितकर लगे उसे मन-वचन-कायसहित कर। तू स्वयं तीन-भुवनपति होने की क्षमता रखता है। इसलिए तुझको क्या सीख दी जावे?

त्रसकाय में पंचेन्द्री मनुष्य होने का अवसर फिर नहीं मिलेगा। देखते-देखते तन-धन आदि सब सामग्री चली जावेगी। हे प्राणी! तू अब तो समझ, वरना फिर दुर्गति में पड़कर पछताएगा। द्यानतराय कहते हैं कि तू अरहंत चरण का भजन कर, जिससे जगत में फिर से आगमन ही न हो।

अनन्त चतुष्टय = अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य।

(१०३)

राग धमाल

चेतन प्राणी चेतिये हो,
अहो भवि प्रानी चेतिये हो, छिन छिन छीजत आव॥ टेक॥
घड़ी घड़ी घड़ियाल रटत है, कर निज हित अब दाव॥ चेतन.॥

जो छिन विषय भोगमें खोवत, सो छिन भजि जिन नाम।
यातैं नरकादिक दुख पैहै, यातैं सुख अभिराम॥ चेतन.॥ १॥

विषय भुजंगमके डसे हो, रुले बहुत संसार।
जिन्हैं विषय व्यापै नहीं हो, तिनको जीवन सार॥ चेतन.॥ २॥

चार गतिनिमें दुर्लभ नर भव, नर बिन मुकति न होय।
सो तैं पायो भाग उदय हों, विषयनि-सँग मति खोय॥ चेतन.॥ ३॥

तन धन लाज कुटुँब के कारन, मूढ़ करत है पाप।
इन ठगियों से ठगायकै हो, पावै बहु दुख आप॥ चेतन.॥ ४॥

जिनको तू अपने कहै हो, सो तो तेरे नाहिं।
कै तो तू इनकौं तजै हो, कै ये तुझे तज जाहिं॥ चेतन.॥ ५॥

पलक एककी सुध नहीं हो, सिरपर गाजै काल।
तू निचिन्त क्यों बावरे हो, छांडि दे सब भ्रमजाल॥ चेतन.॥ ६॥

भजि भगवन्त महन्तको हो, जीवन-प्राणअधार।
जो सुख चाहै आपको हो, 'द्यानत' कहै पुकार॥ चेतन.॥ ७॥

हे चेतन! हे प्राणी! तू अब चेत! ओ भव्य! तू अब चेत। एक-एक क्षण आयु बीती जा रही है। घड़ी प्रतिक्षण/हर घड़ी/निरन्तर चलती ही रहती है, अब अपने हित के लिए कोई युक्तिकर।

जो भी क्षण तू विषय-भोग में खो रहा है वह क्षण तू श्री जिन-नाम को भजने में लगा। विषय-भोग से नरकादिक दुःख मिलते हैं और जिन-नाम के सुमिरन से वांछित सुख की प्राप्ति होती है।

विषय-भोगरूपी सर्प के डसने पर बहुत काल तक संसार-परिभ्रमण (चक्कर) होता ही रहता है। जिनके जीवन में विषय-भोग नहीं है उनका ही जीवन सार-स्वरूप है, प्रयोजनवान है।

चारों गतियों में नर-भव दुर्लभ है, यह बड़ी कठिनाई से मिलता है। इसके बिना मुक्ति नहीं होती अर्थात् मोक्ष केवल मनुष्य गति से ही प्राप्त होता है। वह (मनुष्य जन्म) तुमने भाग्योदय से प्राप्त कर लिया है, अब विषयभोग में लगकर उसे मत खोओ। अज्ञानी मनुष्य इस देह, धन और कुटुम्ब की लाज के कारण पापार्जन करता है। इन ठगों से ठगा जाकर वह बहुत दुःख पाता है।

जिनको तू अपना कहता है, वे तेरे नहीं हैं। या तो तू उनको छोड़ दे, अन्यथा ये तो तुझे छोड़कर जायेंगे ही।

एक पल का भी विश्वास नहीं है, काल सदा सिर पर मँडरा रहा है। तू फिर निश्चिन्त क्यों हो रहा है? यह भ्रम-जाल है, इसको छोड़ दे।

द्यानतराय पुकारकर कहते हैं कि जो तू अपना सुख चाहता है तो भगवान का भजन कर, यह ही जीवन का आधार है।

आव = आयु।

चेतन! मान लै बात हमारी ॥ टेक ॥

पुद्गल जीव जीव नहिं पुद्गल नहिं, दोनों की विधि न्यारी ॥ चेतन. ॥ १ ॥

चहुँगतिरूप विभाव दशा है, मोखमाहिं अविकारी ॥ चेतन. ॥ २ ॥

'द्यानत' दरवित सिद्ध विराजै, 'सोहं' जपि सुखकारी ॥ चेतन. ॥ ३ ॥

अरे चेतन! तू हमारी बात मान ले। यह पुद्गल जीव नहीं है और न जीव पुद्गल है। दोनों द्रव्य अलग-अलग हैं, उनकी विधि, व्यवस्था, द्रव्य, सब अलग-अलग हैं।

चारों गतियाँ जीव की वैभाविक दशा है, वैभाविक स्थिति है। केवल मोक्ष में ही जीव का शुद्ध रूप है, अविकारी रूप है अर्थात् मोक्ष ही एक ऐसा स्थान है जहाँ शुद्धता है, विकार नहीं है।

द्यानतराय कहते हैं कि जीवद्रव्य का जो सिद्धरूप है, निर्मलरूप है, वह ही मैं हूँ, उस रूप का जाप ही सुखकारी है।

(१०५)

राग मल्हार

जगतमें सम्यक उत्तम भाई॥ टेक॥
सम्यकसहित प्रधान नरकमें, धिक शठ सुरगति पाई॥ जगत.॥

श्रावक-व्रत मुनिव्रत जे पालैं, जिन आतम लवलाई।
तिनतैं अधिक असंजमचारी, ममता बुधि अधिकाई॥ जगत.॥ १॥

पंच-परावर्तन तैं कीनें, बहुत बार दुखदाई।
लख चौरासी स्वांग धरि नाच्यौ, ज्ञानकला नहिं आई॥ जगत.॥ २॥

सम्यक बिन तिहुं जग दुखदाई, जहँ भावै तहँ जाई।
'द्यानत' सम्यक आतम अनुभव, सद्गुरु सीख बताई॥ जगत.॥ ३॥

हे साधो! जगत में सम्यक्त्व ही सर्वोत्तम है। सम्यक्त्वधारी राजा नरक में भी दुष्टता से मुँह मोड़े रहता है जिससे देव (सुर) गति पाता है, समता का अनुभव करता है।

जिन्हें आत्मा के प्रति रुचि रहती है, होती है वे तो श्रावक के व्रतों व मुनि व्रतों का (अणुव्रत व महाव्रत का) पालन करते हैं, अधिक असंयमी लोग वे हैं जो मोह और ममता से ग्रस्त हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भव के परावर्तन पूरे करते हुए बहुतबार दु:ख सहन किए हैं। चौरासी लाख योनियों में भाँति-भाँति के रूप-भव धारण किए हैं, फिर भी ज्ञान की कला नहीं समझ सके।

सम्यक्त्व बिना सारा जगत दु:ख देनेवाला है। सम्यक्त्व और संसार में तुम्हें जो भावे वहाँ ही जाओ अर्थात् वैसा ही स्वीकार करो। द्यानतराय कहते हैं कि सम्यक्त्व आत्मा का अनुभव है। सत्गुरु ऐसी ही सीख देते हैं, बतलाते हैं।

(१०६)

राग विहागरो

जानत क्यों नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी ॥ टेक ॥
रागदोष पुद्गलकी संगति, निहचै शुद्धनिशानी ॥ जानत. ॥

जाय नरक पशु नर सुर गतिमें, ये परजाय विरानी।
सिद्ध-स्वरूप सदा अविनाशी, जानत बिरला प्रानी ॥ जानत. ॥ १ ॥

कियो न काहू हरै न कोई, गुरु शिख कौन कहानी।
जनम-मरन-मल-रहित अमल है, कीच बिना ज्यों पानी ॥ जानत. ॥ २ ॥

सार पदारथ है तिहुँ जगमें, नहिं क्रोधी नहिं मानी।
'द्यानत' सो घटमाहिं विराजै, लख हूजै शिवथानी ॥ जानत. ॥ ३ ॥

हे ज्ञानी-आत्मा, हे नर! तू यह क्यों नहीं जानता है कि राग-द्वेष दोनों ही पुद्गलजनित हैं। इन दोनों से पुद्गल का बोध होता है। तू चैतन्य है और निश्चय से, राग-द्वेष से रहित है, भिन्न है, शुद्धरूप में आत्मस्वरूप है।

तू नरक, पशु, मनुष्य और देवगति में भ्रमण करता है, परन्तु ये पर्यायें तेरी नहीं हैं, ये तो पुद्गल की हैं। तू सिद्ध-स्वरूपी है, अविनाशी है। यह तथ्य कोई एक बिरला ही जानता है।

द्रव्यदृष्टि से कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। कोई किसी परवस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। ये गुरु हैं, ज्ञानी हैं; और ये शिष्य हैं, इसने इसको ज्ञान दिया ऐसा कहने का क्या महत्व है? जैसे कीचड़रहित जल निर्मल है, वैसे ही सब उपाधि से मुक्त, जन्म-मरण से रहित यह आत्मा सर्वमलरहित है, शुद्ध है।

वह सर्वमलरहित आत्मा ही, क्रोध और मानरहित आत्मा ही तीन लोक में सारवान है, क्रोध और मान सारवान नहीं है। ऐसा क्रोध व मान से रहित निर्मल आत्मा जो अपने अन्तर में आसीन है, व्याप्त है उसी का ध्यान व चिन्तन कर जिससे शिव अर्थात् शान्ति का स्थान मोक्ष प्राप्त हो अर्थात् सिद्धस्वरूप की प्राप्ति हो जावे।

(१०७)

राग करिखा

जानो धन्य सो धन्य सो धीर वीरा।
मदन सौ सुभट जिन, चटक दे पट कियो॥ टेक॥

पांच-इन्द्रि-कटक झटक सब वश कर्‌यो,
पटक मन भूप कीनो जँजीरा॥ धन्य सो.॥ १॥

आस रंचन नहीं पास कंचन नहीं,
आप सुख सुखी गुन गन गँभीरा॥ धन्य सो.॥ ३॥

कहत 'द्यानत' सही, तरन तारन वही,
सुमर लै संत भव उदधि तीरा॥ धन्य सो.॥ ४॥

जिसने उस धन्य (वह जो अपना लक्ष्य पा चुका) को जाना वह ही धन्य है अर्थात् पुण्यशाली हुआ। वह ही धीर है, वह ही वीर है। जिसने कामदेव जैसे पराक्रमी को क्षणभर में चित्त कर दिया, धराशायी कर दिया अर्थात् कामनाओं को हरा दिया और उसका नाश कर दिया, वह ही धन्य है।

जिसने पाँचों इन्द्रियों की सेना को पलभर में, एक झटके में, त्वरित वश में कर लिया और मनरूपी राजा को जंजीरों से अर्थात् संयम से वश में कर लिया अर्थात् स्थिर व नियंत्रितकर वश में कर लिया, वह ही धन्य है।

जिसके कोई आशा नहीं है, पास में धन नहीं है और फिर भी गंभीर होकर, सबसे सुखी हो रहा है।

द्यानतराय कहते हैं कि यह सही है कि ऐसा जो है वह स्वयं भी तिर जाता है और वह ही दूसरों को तिरानेवाला है। वह संत (साधु) ही इस भव-समुद्र के तीर पर लगानेवाला है। उसका ही स्मरण कर।

(१०८)

राग विहागरा

जो तैं आतमहित नहिं कीना ॥ टेक ॥
रामा रामा धन धन कीना, नरभव फल नहिं लीना ॥ जो तैं. ॥

जप तप करकैं लोक रिझाये, प्रभुताके रस भीना।
अंतर्गत परिनाम न सोधे, एको गरज सरी ना ॥ जो तैं. ॥ १ ॥

बैठि सभामें बहु उपदेशे, आप भये परवीना।
ममता डोरी तोरी नाहीं, उत्तमतैं भये हीना ॥ जो तैं. ॥ २ ॥

'द्यानत' मन वच काय लायके, जिन अनुभव चित दीना।
अनुभव धारा ध्यान विचारा, मंदर कलश नवीना ॥ जो तैं. ॥ ३ ॥

हे प्राणी! अरे, तैंने अपनी आत्मा का हित नहीं किया। तू स्त्री और धन में ही रमा रहा। मनुष्य जन्म पाने का यथार्थ प्रयोजन फलरूप में तूने प्राप्त नहीं किया, सिद्ध नहीं किया।

जप-तप करके भी लोक को रिझाया, उनको हर्षित किया और अपने आपको बड़ा मानने के मान में, बड़प्पन प्राप्त करने में मगन हो गया। अपने अन्तर के परिणामों को शुद्ध नहीं किया और किसी भी लक्ष्य अर्थात् एक भी लक्ष्य की सिद्धि न हो सकी।

सभा में बैठकर बहुत उपदेश दिए मानो स्वयं उसमें पारंगत व प्रवीण हो गए। पर मोह–ममता की डोरी नहीं टूटी, जिसके कारण जितने श्रेष्ठ हो सकते थे उतने ही हीन हो गए।

द्यानतराय कहते हैं कि जिनने मन, वचन और काय से अपने अनुभव में, अपने चित्त को लगाया, उस आत्मा के अनुभव में, उसके ध्यान में उसने नए-नए क्षितिज देखे, उन्होंने चैतन्य भावों के नित नए कलश चढ़ाकर आत्म वैभवरूपी मन्दिर की सुन्दरता की वृद्धि में अपना योग दिया।

(१०९)

जानौं पूरा ज्ञाता सोई ॥ टेक ॥
रागी नाहीं रोषी नाहीं, मोही नाहीं होई ॥ जानौं. ॥

क्रोधी नाहीं मानी नाहीं, लोभी धी ना ताकी।
ज्ञानी ध्यानी दानी जानी, बानी मीठी जाकी ॥ जानौं. ॥ १ ॥

सांई सेती सच्चा दीसै, लोगोंहूका प्यारा।
काहू जीका दोषी नाहीं, नीका पैंडा धारा ॥ जानौं ॥ २ ॥

काया सेती माया सेती, जो न्यारा है भाई।
'द्यानत' ताको देखै जानै, ताहीसों लौ लाई ॥ जानौं. ॥ ३ ॥

हे प्राणी, उसे ही पूर्ण ज्ञानी जानो जो रागी नहीं है, द्वेषी नहीं है, जो मोही नहीं है, जिसके क्रोध नहीं है, मान नहीं है, लोभ की बुद्धि नहीं है। जो ज्ञानी है, ध्यानी है, दानी है (अभयदान करनेवाला है) और जिसकी सबको प्रिय लगनेवाली और सबका कल्याण करनेवाली मीठी वाणी है।

जो परमात्मा के जितना/जैसा सच्चा/निर्मल दिखाई दे, जो सब लोगों को प्यारा लगे। जो किसी जीव की विराधना का दोषी नहीं है, उसे ही पूर्ण ज्ञानी जानो, उनका पदानुगमन/अनुसरण ही उचित है।

जो काया से और माया से, सबसे न्यारा है, चैतन्य रूप है। द्यानतराय कहते हैं कि उसको देखो, उसको जानो, उसके गुणों को जानो, उससे लौ लगाओ, उसका ही अनुसरण करो, उसके प्रति भक्ति से समर्पित होवो।

सांई = स्वामी, ईश्वर, परमात्मा।

(११०)

राग गौरी

तुमको कैसे सुख ह्वै मीत! ॥ टेक ॥

जिन विषयनि सँग बहु दुख पायो, तिनहीसों अति प्रीति ॥ तुमको. ॥

उद्यमवान बाग चलनेको, तीरथसों भयभीत।
धरम कथा कथनेको मूरख, चतुर मृषा-रस-रीत ॥ तुमको. ॥ १ ॥

नाट विलोकनमें बहु समझौ, रंच न दरस-प्रतीत।
परमागम सुन ऊंघन लागौ, जागौ विकथा गीत ॥ तुमको. ॥ २ ॥

खान पान सुनके मन हरषै, संजम सुन ह्वै ईत।
'द्यानत' तापर चाहत हौगे, शिवपद सुखित निचीत ॥ तुमको. ॥ ३ ॥

हे प्रिय! तुमको सुख कैसे हो सकता है/मिल सकता है? जिन इन्द्रिय-विषयों के कारण तुमको अत्यन्त दु:ख मिले हैं, उन्हीं के प्रति तुम्हारी प्रीति है, आकर्षण है!

बाग-बगीचों में सैर करने के लिए तो तुम परिश्रम करने को भी तैयार हो, परन्तु तीर्थयात्रा से तुम्हें भय लगने लगता है! धर्मकथा कहने में तो तुम मूर्ख/अज्ञानी बन जाते हो पर झूठे व मिथ्या कथा-कहानी-किस्से कहने में बहुत चतुर हो, उनमें रस लेते हो, रुचि प्रगट करते हो!

नाटक (सिनेमा) आदि देखने में तो रुचि लेते हो, उनको बहुत अच्छी तरह समझते हो, पर भगवान की मुद्रा के दर्शन के प्रति कोई लगन नहीं रखते! धर्म की, आगम की बात सुनकर ऊँघने लगते हो और विकथा सुनने के लिए पूर्ण जाग्रत हो जाते हो!

खाने-पीने आदि की बातों में, भोजन-कथा आदि से मन हर्षित होता है और संयम की बात सुनकर कष्ट होता है! द्यानतराय कहते हैं कि ऐसा करनेवाले इस पर भी इस बात की चाहना करते हैं कि उन्हें मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो जाए और वे निश्चिन्त हो जाएँ!

(१११)

तुम चेतन हो ॥ टेक ॥

जिन विषयनि सँग दुख पावै सो, क्यों तज देत न हो ॥ तुम. ॥ १ ॥

नरक निगोद कषाय भमावै, क्यों न सचेतन हो ॥ तुम. ॥ २ ॥

'द्यानत' आपमें आपको जानो, परसों हेत न हो ॥ तुम. ॥ ३ ॥

हे प्राणी! तुम चेतन हो। ज्ञानवान हो।

जिन इंद्रिय-विषयों के संग/की संगति के कारण तुम दुःख पा रहे हो उन इन्द्रिय विषयों को छोड़ क्यों नहीं देते हो?

इनके कारण कषायों में लिप्त होकर नरक और निगोद में भटकना पड़ता है, तो तुम इनसे सचेत क्यों नहीं होते?

द्यानतराय कहते हैं कि अपने आप को जानो, तब तुम पर से विमुख हो जाओगे, पर से ध्यान हट जायेगा तो उससे लगाव नहीं रहेगा।

तुम ज्ञानविभव फूली बसन्त, यह मन मधुकर सुखसौं रमन्त॥ टेक॥

दिन बड़े भये वैराग भाव, मिथ्यातम रजनीको घटाव॥ तुम.॥ १॥

बहु फूली फैली सुरुचि बेलि, ज्ञाताजन समता संग केलि॥ तुम.॥ २॥

'द्यानत' बानी पिक मधुररूप, सुरनरपशुआनँदघनसुरूप॥ तुम.॥ ३॥

हे प्रभु! आपके ज्ञान के वैभव के कारण चारों ओर बसन्त-सा सुखद-मनोहारी वातावरण हो रहा है अर्थात् ज्ञान की उज्ज्वलता में चारों ओर सुख-आनन्द बिखर रहा है, जिसमें मेरा यह मन सुखपूर्वक रमण करता है।

वैराग्यरूपी दिन उदित हो रहा है जिससे मिथ्यात्व की रात्रि घटती जा रही है, बीत रही है, समाप्त हो रही है।

आत्मरुचि की सरस बेल खूब फल-फूल रही है और ज्ञानीजनों के साथ समतारूप क्रीड़ा कर रही है।

द्यानतराय कहते हैं कि कोयल के समान मधुर व कर्णप्रिय वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि में देव, मनुष्य व तिर्यंच सभी घने आनन्द में सराबोर हो रहे हैं।

देखे सुखी सम्यकवान॥ टेक॥

सुख दुखको दुखरूप विचारैं, धारैं अनुभवज्ञान॥ देखे.॥

नरक सातमें के दुख भोगैं, इन्द्र लखैं तिन-मान।
भीख मांगकै उदर भरैं, न करैं चक्रीको ध्यान॥ देखे.॥ १॥

तीर्थंकर पदकों नहिं चावैं, जदपि उदय अप्रमान।
कुष्ट आदि बहु व्याधि दहत न, चहत मकरध्वजथान॥ देखे.॥ २॥

आधि व्याधि निरबाध अनाकुल, चेतनजोति पुमान।
'द्यानत' मगन सदा तिहिमाहीं, नाहीं खेद निदान॥ देखे.॥ ३॥

इस संसार में सम्यक्त्वी पुरुष ही सुखी देखे जाते हैं जो सांसारिक सुख व दु:ख दोनों को दु:ख रूप ही समझते हैं, विचारते हैं। जो मात्र अनुभवज्ञान को/ केवलज्ञान को धारण करते हैं।

जो सातवें नरक के दु:खों को भोगते समय दु:खी नहीं होते, इन्द्र के वैभव को तिनके के समान तुच्छ समझते हैं, भिक्षा माँगकर पेट भरना हो तब भी चक्रवर्ती के सुखों का ध्यान/वांछा नहीं करते अर्थात् दोनों स्थितियों को महत्त्व नहीं देते। सब स्थितियों में समानभाव/समताभाव रखते हैं, ऐसे सम्यक्त्वी पुरुष ही इस संसार में सुखी देखे जाते हैं।

जो तीर्थंकर पद की कामना नहीं करते, यद्यपि (अभी) कर्मों का उदय अप्रमाण/असीम है। न कुष्ट आदि व्याधियों की पीड़ा से अपने को दु:खी करते, न वे मकरध्वज (कामदेव) की जैसी सुन्दर देह की कामना करते। ऐसे सम्यक्त्वी पुरुष ही इस संसार में सुखी देखे जाते हैं।

आधि-व्याधि से परे, बाधारहित निराकुलता ही उस चैतन्य पुरुष की ज्योति है, तेज है, ऊर्जा है, बल है। द्यानतराय कहते हैं कि वह उसमें ही सदा मगन रहता है, उसे किसी प्रकार का कोई खेद नहीं और न किसी प्रकार की कोई कामना या निदान ही। ऐसा सम्यक्त्वी पुरुष ही इस संसार में सुखी देखा जाता है।

(११४)

राग गौरी

देखो भाई! आतमराम विराजै ॥ टेक ॥
छहों दरब नव तत्त्व ज्ञेय हैं, आप सुज्ञायक छाजै ॥ देखो. ॥

अर्हंत सिद्ध सूरि गुरु मुनिवर, पाचौं पद जिहिमाहीं।
दरसन ज्ञान चरन तप जिहिमें, पटतर कोऊ नाहीं ॥ देखो. ॥ १ ॥

ज्ञान चेतना कहिये जाकी, बाकी पुदगलकेरी।
केवलज्ञान विभूति जासुकै, आन विभौ भ्रमचेरी ॥ देखो. ॥ २ ॥

एकेन्द्री पंचेन्द्री पुदगल, जीव अतिन्द्री ज्ञाता।
'द्यानत' ताही शुद्ध दरबको जानपनो सुखदाता ॥ देखो. ॥ ३ ॥

हे साधक! ज्ञाता-दृष्टा होकर अपने स्वरूप को देखो, देखो आत्मा किस प्रकार विराजित है! यह सबका ज्ञायक है, सबको जाननेवाला है। छह द्रव्य व नौ तत्व सब इसके ज्ञेय हैं।

अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु - ये पाँच पद आत्मा में ही हैं इनमें दर्शन, ज्ञान, आचरण व तप की उत्कृष्ट स्थिति होती है। ये अतुल (तुलनारहित) हैं इनका कोई दूसरा प्रतिरूप नहीं है।

इस आत्मा में तो केवल ज्ञान-चेतना ही है, जो इसकी संपदा है। इसके अतिरिक्त शेष सब तो पुद्गल है, पुद्गलजन्य है। इन्हीं के चरणों में केवलज्ञान रूपी संपदा लोटती है। यह विधा अन्य जनों में नहीं है अर्थात् अन्य जनों में तो इसका भ्रामक रूप ही है अर्थात् इसकी समझ ही भ्रमपूर्ण है।

चाहे एकेन्द्री से पंचेन्द्री तक हों, चाहे पुद्गल हो, इन सबका ज्ञाता तो केवल जीव ही है, जो अतीन्द्रिय ज्ञान का ज्ञाता है। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे ही शुद्ध जीवद्रव्य के स्वरूप को जानो। उसका बोध ही सब सुखों का दाता है, सुख प्रदान करनेवाला है।

(११५)

राग सोरठ

निरविकलप जोति प्रकाश रही ॥ टेक ॥

ना घट अन्तर ना घट बाहिर, वचननिसौं किनहू न कही ॥ निर. ॥ १ ॥

जीभ आंख बिन चाखी देखी, हाथनिसौं किनहू न गही ॥ निर. ॥ २ ॥

'द्यानत' निज-सर-पदम-भ्रमर है, समता जौरें साधु लही ॥ निर. ॥ ३ ॥

सर्वविकल्परहित, निर्विकल्प मुद्रा से ज्योति का उजास फैल रहा है।

वह न हृदय में है और न बाहर है। वह वचनों द्वारा कहा नहीं जा सकता, अवर्णनीय है।

उस निर्विकल्प ज्योति को इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता अर्थात् जिह्वा से जिसका स्वाद चखा नहीं जा सकता, नेत्रों से देखा नहीं जा सकता है, उसको न कभी हाथ से छूआ और न ग्रहण किया जा सकता।

द्यानतराय कहते हैं कि साधुजन समता धारणकर ऐसी भव्य निर्विकल्प ज्योति को अपने आत्मारूपी सरोवर में खिले कमलपुंज पर मँडराता हुआ भंवरा होकर प्राप्त करते हैं।

पायो जी सुख आतम लखकै ॥ टेक ॥

ब्रह्मा विष्णु महेश्वरको प्रभु, सो हम देख्यो आप हरखकै ॥ पायो. ॥ १ ॥

देखनि जाननि समझनिवाला, जान्यो आपमें आप परखकै ॥ पायो. ॥ २ ॥

'द्यानत' सब रस विरस लगैं हैं, अनुभौ ज्ञानसुधारस चखकै ॥ पायो. ॥ ३ ॥

आत्मा को देखकर, पहचानकर, अत्यन्त सुख की प्राप्ति/अनुभूति हुई है।

हमने अपने इस ब्रह्मा, विष्णु, महेश-रूप स्वामी को, प्रभु को देख लिया है, पहचान लिया है और इसे देखकर हर्षित हैं, प्रसन्न हैं।

यह ही देखने, जानने और समझनेवाला है। यह हमने अपने में स्वयं में ही अच्छी तरह परखकर, जाँचकर जान लिया है।

द्यानतराय कहते हैं कि अनुभवरूपी ज्ञानामृत को चखने के पश्चात् जगत के सारे अन्य विषयादि रस फीके, नीरस व रसविहीन लगने लगते हैं।

(११७)

राग सोरठ

प्राणी! आतमरूप अनूप है, परतैं भिन्न त्रिकाल॥ टेक॥
यह सब कर्म उपाधि है, राग दोष भ्रम जाल॥ प्राणी.॥

कहा भयो काई लगी, आतम दरपनमाहिं।
ऊपरली ऊपर रहै, अंतर पैठी नाहिं॥ प्राणी.॥ १॥

भूलि जेवरी अहि, मुन्यो, ढूंठ लख्यो नररूप।
त्यों ही पर निज मानिया, वह जड़ तू चिद्रूप॥ प्राणी.॥ २॥

जीव-कनक तन मैलके, भिन्न भिन्न परदेश।
माहैं, माहैं संध हैं, मिलैं नहीं लव लेश॥ प्राणी.॥ ३॥

घन करमनि आच्छादियो, ज्ञानभानपरकाश।
है ज्योंका त्यों शास्वता, रंचक होय न नाश॥ प्राणी.॥ ४॥

लाली झलकै फटिकमें, फटिक न लाली होय।
परसंगति परभाव है, शुद्धस्वरूप न कोय॥ प्राणी.॥ ५॥

त्रस थावर नर नारकी, देव आदि बहु भेद।
निहचै एक स्वरूप हैं, ज्यों पट सहज सुपेद॥ प्राणी.॥ ६॥

गुण ज्ञानादि अनन्त हैं, परजय सकति अनन्त।
'द्यानत' अनुभव कीजिये, याको यह सिद्धन्त॥ प्राणी.॥ ७॥

हे प्राणी! इस आत्मा का स्वरूप अद्भुत है, अनुपम है। यह सदैव/तीनों काल में पर से भिन्न है। राग-द्वेष का जाल भ्रम पैदा करनेवाला है और यह सब कर्मजन्य है।

क्या हुआ यदि आत्मा के स्वच्छ दर्पण पर काई लग गई? यह काई ऊपर ही लगी हुई है। उस काई का दर्पण के अन्दर प्रवेश नहीं हुआ है अर्थात् यदि

पर के सम्बन्ध से आत्मा में कुछ दोष प्रतीत होने लगा है तो वह सब आत्मा से बाह्य/ऊपर ही है, वह आत्मा में नहीं है, उस दोष से आत्मस्वरूप नहीं बदलता। जेवड़ी (रस्सी) को भूल से साँप समझ लिया और ठूँठ को, देह/मनुष्य के समान समझ लिया उसी प्रकार पर को अपना मान लिया। जब भी तू यह बात समझ लेगा कि देह ठूँठ है – जड़ है और तू उससे भिन्न है, चैतन्य है तो तू पर से भिन्न आत्मा को जान जायेगा।

जैसे स्वर्ण व मैल परस्पर भिन्न हैं उसी प्रकार यह जीव भी पर से भिन्न है, भिन्न प्रदेशवाला है। दोनों मिले हुए हैं, साथ-साथ हैं, फिर भी दोनों एक-दूसरेरूप नहीं होते, परस्पर में किंचित् भी नहीं मिलते।

ज्ञानरूपी सूर्य पर कर्मरूपी बादल घने रूप से छा रहे हैं परन्तु बादल से ढक जाने पर भी सूर्य सदैव प्रकाशवान ही रहता है। वह ज्यों का त्यों रहता है। उसका कभी भी किंचित् भी नाश नहीं होता।

लाल रंग के सम्पर्क से स्फटिक में लाल प्रकाश झलक जाता है, परन्तु इससे स्फटिक लाल रंग का नहीं हो जाता। इसी प्रकार पर की संगति पर- रूप की है – वह अपने-रूप, स्व-रूप की कभी नहीं होती।

जीव के त्रस, स्थावर, मनुष्य, नारकी और देव इस प्रकार अनेक भेद हैं। पर इन सबमें मूलस्वरूप निश्चय से एक ही है। जैसे कपड़ा अपने मूलरूप में सफेद – स्वच्छ होता है, पर भिन्न-भिन्न रंगों की संगत से वह भिन्न-भिन्न रंग का दिखाई देता है।

ज्ञान आदि गुण अनन्त हैं, पर्यायों की शक्ति भी अनन्त है। पर को जय/जीतने की शक्ति भी अनन्त है। द्यानतराय कहते हैं कि इस सिद्धान्त को समझकर इसका अनुभव करो।

(११८)

प्राणी! सोऽहं सोऽहं ध्याय हो॥ टेक॥

वाती दीप परस दीपक है, बूंद जु उदधि कहाय हो।
तैसें परमातम ध्यावै सो, परमातम ह्वै जाय हो॥ प्राणी.॥ १॥

और सकल कारज है थोथो, तोहि महा दुखदाय हो।
'द्यानत' यही ध्यानहित कीजे, हूजे त्रिभुवनराय हो॥ प्राणी.॥ २॥

हे प्राणी! आत्मा का जो सिद्ध/शुद्ध रूप है मैं वह सिद्ध/शुद्धरूप हूँ, वह मैं हूँ - इसी तथ्य का निरन्तर ध्यान करो। दीपक के स्पर्श से/संसर्ग में बाती भी दीपक कहलाने लगती है। जैसे एक-एक बूँद समुद्र की घटक है, वह एक बूँद भी समुद्र का एक अंश है - समुद्र है। समुद्र के साथ रहने से पानी की एक बूँद भी समुद्र कहलाती है। वैसे ही परमात्मा का ध्यान करनेवाले प्राणी ध्यान करते-करते परमात्मस्वरूप हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त सभी कार्य निरर्थक हैं और दु:खों के देनेवाले हैं, दु:खों का सृजन करनेवाले हैं। द्यानतराय कहते हैं कि तुम अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करो, यही हितकारी है, इससे ही तुम स्वयं तीन लोक के स्वामी हो जाओगे।

(११९)

बीतत ये दिन नीके, हमको ॥ टेक ॥

भिन्न दरब तत्वनितैं धारे, चेतन गुण हैं जीके ॥ बीतत. ॥ १ ॥

आप सुभाव आपमैं जान्यो, सोइ धर्म है ठीके ॥ बीतत. ॥ २ ॥

'द्यानत' निज अनुभव रस चाख्यो, पररस लागत फीके ॥ बीतत. ॥ ३ ॥

आत्मरुचि होने से अब हमारे ये दिन, ये समय, भली-भाँति बीत रहे हैं।

यह समय, यह देह, यह सब मुझसे भिन्न द्रव्य व तत्व है। चेतन गुण तो मुझ जीव का ही है।

अपना स्वभाव मैंने जान लिया है, यह ही धर्म है।

द्यानतराय कहते हैं कि जिसने अपने आत्मरस का आस्वादन कर लिया है, उसके लिए अन्य सभी रस - सभी आकर्षण फीके हैं।

भजो आतमदेव, रे जिय! भजो आतमदेव, लहो शिवपद एव॥

असंख्यात प्रदेश जाके, ज्ञान दरस अनन्त।
सुख अनन्त अनन्त वीरज, शुद्ध सिद्ध महन्त॥ रे जिय.॥ १॥

अमल अचल अतुल अनाकुल, अमन अवच अदेह।
अजर अमर अखय अभय प्रभु, रहित-विकलप नेह॥ रे जिय.॥ २॥

क्रोध मद बल लोभ न्यारो, बंध मोख विहीन।
राग दोष विमोह नाहीं, चेतना गुणलीन॥ रे जिय.॥ ३॥

फरस रस सुर गंध सपरस, नाहिं जामें होय।
लिंग मारगना नहीं, गुणथान नाहीं कोय॥ रे जिय.॥ ४॥

ज्ञान दर्शन चरनरूपी, भेद सो व्योहार।
करम करना क्रिया निहचै, सो अभेद विचार॥ रे जिय.॥ ५॥

आप जाने आप करके, आपमाहीं आप।
यही व्योरा मिट गया तब, कहा पुन्यरु पाप॥ रे जिय.॥ ६॥

है कहै है नहीं नाहीं, स्यादवाद प्रमान।
शुद्ध अनुभव समय 'द्यानत', करौ अम्रतपान॥ रे जिय.॥ ७॥

अरे जिया। अपनी आत्मा का भजन करो। ऐसा करने से मोक्ष पद प्राप्त होवेगा।

उस आत्मा को भजो जो लोक की भाँति असंख्यात प्रदेशी है। जिसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त बल प्रगट हैं, जो सिद्धस्वरूप महान है। जो मल-रहित है, अचल-स्थिर है, अतुल/तुलनारहित है, आकुलतारहित है, जिनके मन, वचन व काय नहीं है। जो रोगरहित, मृत्युरहित, क्षयरहित, भयरहित तथा सभी विकल्पों से रहित है।

उस आत्मा को भजो जो क्रोध, मान, माया, लोभ से न्यारा है, जिसके बंध-मोक्ष भी नहीं है। जिसके राग-द्वेष-मोह नहीं है, जो शुद्ध चैतन्य है जो अपने ही स्वाभाविक गुणों में लीन है, मगन है।

उस आत्मा को भजो जिसके स्पर्श, रस, गंध, शब्द, वर्ण का स्पर्श भी नहीं है, न लिंग-भेद है, न मार्गणा है और न ही कोई गुणस्थान है।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद सब व्यवहार मात्र हैं, जो कुछ क्रिया है वह ही कर्म है, निश्चय से इनमें अभेद है इसका विचार कर जब अपने आप में आप स्वयं ही कर्ता हो, स्वयं ही ज्ञाता हो, स्वयं को ही जाने। जब सब भेद समाप्त हो जाए तो पुण्य व पाप का पद कहाँ ठहरेगा?

तब वस्तु कथंचित् (किसी अपेक्षा विशेष से) है और कथंचित् (किसी अपेक्षा विशेष से) नहीं है, ऐसे स्याद्वाद का प्रमाण भी उसके लिए आवश्यक नहीं रहता। द्यानतराय कहते हैं कि अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव ही शुद्ध है, उसी का अमृतपान करो, उसी में रत रहो।

(१२१)

राग वसन्त

भवि कीजे हो आतमसँभार, राग दोष परिनाम डार॥ भवि.॥

कौन पुरुष तुम कौन नाम, कौन ठौर करो कौन काम॥ भवि.॥ १॥

समय समय में बंध होय, तू निचिन्त न वारै कोय॥ भवि.॥ २॥

जब ज्ञान पवन मन एक होय, 'द्यानत' सुख अनुभवै सोय॥ भवि.॥ ३॥

हे भव्य! राग-द्वेष के परिणाम भाव छोड़कर तुम अपनी आत्मा की सँभाल करो।

हे पुरुष! हे प्राणि! विचार करो कि तुम कौन हो? तुम्हारा क्या नाम है? तुम्हारा स्थान कौन-सा है? क्या कार्य करते हो?

बंध की प्रक्रिया सदैव हो रही है। हर समय बंध हो रहा है और तुम इस बात पर ध्यान न देकर निश्चिन्त हो रहे हो!

द्यानतराय कहते हैं कि श्वास स्थिर हो जाए, मन थम जाए और ज्ञान, मन व श्वास सब एकाग्र हो केन्द्रित हो जाए तब सुख की अनुभूति होती है।

(१२२)
राग पंचम

भम्यो जी भम्यो, संसार महावन, सुख तो कबहुँ न पायो जी॥ टेक॥
पुदगल जीव एक करि जान्यो, भेद-ज्ञान न सुहायोजी॥ भम्यो.॥

मनवचकाय जीव संहारे, झूठो वचन बनायो जी।
चोरी करके हरष बढ़ायो, विषयभोग गरवायो जी॥ भम्यो.॥ १॥

नरकमाहिं छेदन भेदन बहु, साधारण वसि आयो जी।
गरभ जनम नरभव दुख देखे, देव मरत बिललायो जी॥ भम्यो.॥ २॥

'द्यानत' अब जिनवचन सुनै मैं, भवमल पाप बहायो जी।
आदिनाथ अरहन्त आदि गुरु, चरनकमल चित लायो जी॥ भम्यो.॥ ३॥

मैं इस संसाररूपी महावन में भटकता रहा हूँ। इसमें मुझे सुख कहीं भी नहीं मिला। मेरी भ्रान्ति यह ही रही कि मैंने जीव व पुदगल दोनों को एक-अभिन्न-मिला हुआ जाना, जिसके कारण मुझे इनके भिन्न-भिन्न अस्तित्व का भेदज्ञान ही नहीं हुआ, न ऐसा भेद करना मुझे रुचा।

मन, वचन और काय से अनेक जीवों का घात किया, झूठ वचन बोला और उनका सहारा लिया। दूसरों की वस्तुओं को चुराकर प्रसन्न हुआ और इन्द्रिय-विषयों में रत रहा। उन्हें भोगकर घमण्ड से फूला रहा इसलिए कभी सुख नहीं पाया।

बहुत बार नरक गति में छेदन-भेदन के दुःख भोगे व अनेक बार साधारण शरीर में जनम लिया। अनेक बार गर्भ व जन्म की वेदनाएँ भोगीं। मनुष्य गति पाकर भी दुःख भोगे और फिर देवगति में मरण को समीप जानकर, देखकर भयातुर दयनीय दशा हो गई और दुःख से बिलबिलाने लगा।

द्यानतराय कहते हैं कि मैंने अब श्री जिनेन्द्र के वचन सुने, उन पर श्रद्धान किया, उनकी ओर ध्यान केन्द्रित किया, तब बहुत से भवों में उपार्जित पाप-समूह को मैंने नष्ट कर दिया, दूर किया। भगवान आदिनाथ, अरहन्त आदि देव व गुरु के चरण-कमल में अपना चित्त लगाया।

साधारण शरीर - जिस शरीर में अनन्त जीवों का जन्म-श्वासोच्छ्वास-मरण एकसाथ हो वह साधारण शरीर कहलाता है।

(१२३)
राग गौड़ी

भाई! अब मैं ऐसा जाना।। टेक।।
पुदगल दरब अचेत भिन्न है, मेरा चेतन बाना।। भाई. ।।

कलप अनन्त सहत दुख बीते, दुखकौं सुख कर माना।
सुख दुख दोऊ कर्म अवस्था, मैं कर्मनतैं आना।। भाई.।। १।।

जहाँ भोर था तहाँ भई निशि, निशिकी ठौर बिहाना।
भूल मिटी निजपद पहिचाना, परमानन्द-निधाना।। भाई.।। २।।

गूंगे का गुड़ खाँय कहैं किमि, यद्यपि स्वाद पिछाना।
'द्यानत' जिन देख्या ते जानैं, मेंढक हंसपखाणा।। भाई.।। ३।।

अरे भाई! मैंने अब यह जान लिया है कि पुद्गल चेतनारहित है, अचेतन है। मेरा आत्मा चेतन है। आत्मा व पुद्गल दोनों भिन्न हैं।

अनन्त कल्प दु:ख सहन करते हुए बीत गए। मैंने दु:ख को ही सुख मान लिया। सुख और दु:ख दोनों कर्मों की अवस्थाएँ हैं। मैं तो कर्मों से अन्य हूँ, अलग हूँ, भिन्न हूँ।

जहाँ सुबह/भोर थी वहाँ रात हो गई। रात के बाद फिर सुबह होगी, इस प्रकार सुख-दुख, पुण्य-पाप का क्रम चलता रहता है। पर ये भी अलग-अलग, भिन्न-भिन्न नहीं हैं, ये तो कर्म ही हैं। जब यह भूल मिट गई, श्री जिनेन्द्र के चरण-कमलों का आश्रय लिया और निज को पहचाना तब परमानन्द की प्राप्ति हुई।

गूँगा यद्यपि गुड़ खाकर उसका स्वाद जानता है, पर उसे व्यक्त करने में, कहने में असमर्थ होता है। उसी भाँति मैंने चेतनरूप को जाना, पहचाना, अनुभव किया पर उस अनुभूति को वचनों द्वारा कहा नहीं जा सकता।

द्यानतरायजी कहते हैं कि लोक में प्रसिद्ध उक्ति है कि हंस और मेंढक दोनों जल में ही रहते हैं पर दोनों में बहुत अन्तर है, भेद है, इनका भेद (मेंढक और हंस) जिसने देखा है, अनुभव किया है, वह ही वास्तविकता जानता है। उसी प्रकार जिसने आत्मा व जड़ के भेद को जान लिया, अनुभव कर लिया वह ही आत्मा को जानता है।

आशीर्वाद :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कल्प - एक उत्सर्पिणी काल तथा एक अवसर्पिणी काल की कुल अवधि; बिहान = सुबह; पखाणा = कहावत, लोकोक्ति।

(१२४)

राग आसावरी जोगिया

भाई कौन कहै घर मेरा॥ टेक॥

जे जे अपना मान रहे थे, तिन सबने निरवेरा॥ भाई.॥

प्रात समय नृप मन्दिर ऊपर, नाना शोभा देखी।
पहर चढ़े दिन काल चालतैं, ताकी धूल न पेखी॥ भाई.॥ १॥

राज कलश अभिषेक लच्छमा, पहर चढ़ैं दिन पाई।
भई दुपहर चिता तिस चलती, मीतों ठोक जलाई॥ भाई.॥ २॥

पहर तीसरे नाचैं गावैं, दान बहुत जन दीजे।
सांझ भई सब रोवन लागे, हा-हाकार करीजे॥ भाई.॥ ३॥

जो प्यारी नारीको चाहै, नारी नरको चाहै।
वे नर और किसीको चाहैं, कामानल तन दाहै॥ भाई.॥ ४॥

जो प्रीतम लखि पुत्र निहोरै, सो निज सुतको लोरै।
सो सुत निज सुतसों हित जोरै, आवत कहत न ओरै॥ भाई.॥ ५॥

कोड़ाकोड़ि दरब जो पाया, सागरसीम दुहाई।
राज किया मन अब जम आवै, विषकी खिचड़ी खाई॥ भाई.॥ ६॥

तू नित पोखै वह नित सोखै, तू हारै वह जीतै।
'द्यानत' जु कछु भजन बन आवै, सोई तेरो मीतै॥ भाई.॥ ७॥

अरे भाई! कौन कहता है/कह सकता है कि यह घर मेरा है! जो-जो इसको अपना मान रहे थे उन सभी ने इसको छोड़ दिया है। सुबह के समय राजा ने मन्दिर/महल के ऊपर कई प्रकार के शोभारूप देखे, पर एक पहर दिन चढ़ने पर उसकी धूल भी नहीं देख पाये।

एक पहर दिन चढ़ने पर राज्याभिषेक हुआ। लक्ष्मी की प्राप्ति हुई। दोपहर बीतते-बीतते उसकी चिता जलने लगी अर्थात् उसकी मृत्यु हो गई और मित्रगण उसके ठोके देकर जलाने लगे।

कभी कहीं तीसरे प्रहर कोई शुभ कार्य हुआ तो खूब नाच-गान हुए, बहुत-सा दान दिया गया और साँझ के समय फिर कोई अशुभ घटना हो गई और फिर सब रोने लगे, हाहाकार हो गया।

कोई पुरुष अपनी स्त्री को बहुत चाहता है और स्त्री पुरुष को चाहती है, तो वह ही पुरुष काम के वशीभूत होकर उसमें जलता हुआ फिर दूसरी स्त्री को चाहने लगता है।

प्रियतम को देखकर पुत्र से अनुगृहीत होती है और अपने पुत्र को लोरियाँ सुनाती है। वह लड़का बड़ा होकर अपने लड़के से राग करने लगता है फिर वह अपने माता-पिता के कहने पर भी उनकी ओर नहीं आता।

कोड़ा-कोड़ि द्रव्य/धन पाया, जिसकी तुलना सागर से की जाती है, उस पर शासन किया, आधिपत्य रखा पर मृत्यु आई तो कड़ी खीचड़ी खाई। मृत्यु के दिन जो भोजन किया जाता है वह विष समान कड़ुआ प्रतीत होता है।

जिस शरीर का तू नित्य पोषण करता है वह निरन्तर सूखता जाता है। तू हार जाता है और वह जीत जाता है। द्यानतराय कहते हैं कि ओ मित्र! ऐसे में जो कुछ भजन, आत्म-चिंतन तेरे द्वारा किया जा सके वह ही तेरा है, अन्य कुछ भी तेरा नहीं है।

ठोक = ठोकरें।

(१२५)

भाई! कौन धरम हम पालैं॥ टेक॥
एक कहैं जिहि कुलमें आये, ठाकुरको कुल गर लैं॥ भाई.॥

शिवमत बौध सु वेद नयायक, मीमांसक अरु जैना।
आप सराहैं आतम गाहैं, काकी सरधा ऐना॥ भाई.॥ १॥

परमेसुरपै हो आया हो, ताकी बात सुनी जै।
पूछैं बहुत न बोलैं कोई, बड़ी फिकर क्या कीजै॥ भाई.॥ २॥

जिन सब मतके मत संचय करि, मारग एक बताया।
'द्यानत' सो गुरु पूरा पाया, भाग हमारा आया॥ भाई.॥ ३॥

अरे भाई! हम किस धर्म के अनुयायी बनें? किस धर्म का पालन करें? एक कहता है कि जिस कुल में जन्म लिया, उस कुल के धर्म को क्यों छोड़ें!

शैव, बुद्ध, वैदिक, नैयायिक, मीमांसक और जैन सब अपने-अपने को सर्वोपरि व सच्चा बताते हैं, तब किस की श्रद्धा करें?

जिसने परमात्म पद प्राप्त कर लिया है, उसकी बात सुनो। सबको पूछो - बोलो कुछ मत। फिर किसकी चिन्ता करना।

जिनेन्द्र/तीर्थंकर ने सबके मत की समीक्षाकर साररूप में एक ही मार्ग बताया है। द्यानतराय कहते हैं कि अत: उन्हें ही पूर्ण (जिसमें कोई कमी न हो) गुरु पाया। यह हमारा सौभाग्य है कि हमने ऐसा गुरु पा लिया।

(१२६)

राग काफी

भाई! जानो पुद्‌गल न्यारा रे॥ टेक॥
क्षीर नीर जड़ चेतन जानो, धातु पखान विचारा रे॥ भाई.॥

जीव करमको एक जानतो, भाख्यो श्रीगणधारा रे।
इस संसार दुःखसागरमें, तोहि भ्रमावनहारा रे॥ भाई.॥ १॥

ग्यारह अंग पढ़े सब पूरब, भेद-ज्ञान न चितारा रे।
कहा भयो सुवटाकी नाईं, रामरूप न निहारा रे॥ भाई.॥ २॥

भवि उपदेश मुकत पहुँचाये, आप रहे संसारा रे।
ज्यों मलाह पर पार उतारै, आप वारका वारा रे॥ भाई.॥ ३॥

जिनके वचन ज्ञान परगासैं, हिरदै मोह अपारा रे।
ज्यों मशालची और दिखावै, आप जात अँधियारा रे॥ भाई.॥ ४॥

बात सुनैं पातक मन नासै, अपना मैल न झारा रे।
बांदी परपद मलि मलि धोवै, अपनी सुधि न सँभारा रे॥ भाई.॥ ५॥

ताको कहा इलाज कीजिये, बूड़ा अम्बुधि धारा रे।
जाप जप्यो बहु ताप तप्यो पर, कारज एक न सारा रे॥ भाई.॥ ६॥

तेरे घटअन्तर चिनमूरति, चेतनपदउजियारा रे।
ताहि लखै तासौं बनि आवै, 'द्यानत' लहि भव पारा रे॥ भाई.॥ ७॥

अरे भाई! इस पुद्‌गल को अपने से (आत्मा से) भिन्न अर्थात् न्यारा जानो। जैसे दूध व पानी और धातु व पाषाण भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही जड़ व चेतन भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा विचार करो।

श्री गणधरदेव ने कहा है कि जो जीव जीव व कर्म को एक रूप जानता है वह इस संसार के दु:खों के सागर में भ्रमता ही रहता है, भटकता ही रहता है।

ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ लिए, उन्हें तोते की भाँति रट लिए, परन्तु देह और आत्मा के बीच भेद-ज्ञान नहीं किया, नहीं जाना तो उसने अपने शिव स्वरूप को नहीं देखा, उसकी झलक भी नहीं पाई।

ऐसा व्यक्ति दूसरों को उपदेश देता रहता है, उसका उपदेश सुनकर प्राणी मुक्त हो जाते हैं, परन्तु वह स्वयं इस संसार में ही रह जाता है। जैसे मल्लाह दूसरे को तो किनारे पर उतार देता है, पर नैया को नहीं छोड़ने के कारण आप स्वयं वहीं रुक जाता है।

जिसके वचन दूसरों के लिए ज्ञान का प्रकाश करते हैं, पर उसके स्वयं के हृदय में मोह-राग है, जिसकी कोई थाह नहीं है, तो उसकी दशा उस मशालची की तरह है जो औरों को तो प्रकाश दिखाता है और स्वयं अंधकार में ही रहता है।

जिसकी चर्चा सुनकर दूसरों के पाप नष्ट हो जाते हैं, परन्तु चर्चा करनेवाला अपना मैल नहीं धोता है। उसकी दशा उस दासी की-सी है जो औरों को मल-मलकर नहलाती है और स्वयं अपनी सुधि नहीं रखती।

उसका क्या इलाज किया जावे, क्या उपाय किया जावे, जो समुद्र की गहरी धारा में डूब रहा हो। बहुत जाप जपे, बहुत तप किए, पर उनसे एक भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

अरे। तेरे स्वयं के भीतर यह चैतन्य आत्मा है वह ज्ञानवान है, उज्ज्वल है। द्यानतराय कहते हैं कि उसको जिसने देखा, वह सफल होकर भव-समुद्र के पार हो जाता है।

(१२७)

राग आसावरी जोगिया

भाई! ब्रह्म विराजै कैसा? ॥ टेक ॥
जाको जान परमपद लीजे, ठीक करीजे जैसा ॥ भाई. ॥

एक कहे यह पवन रूप है, पवन देहको लागै।
जब नारीके उदर समावै, क्यों नहिं नारी जागै ॥ भाई. ॥ १ ॥

एक कहै यह बोलै सो ही, वैन कानतैं सुनिये।
कान जीवको जानैं नाहीं, यह तो बात न मुनिये ॥ भाई. ॥ २ ॥

एक कहै यह फूल-वासना, बास नाक सब जानै।
नाक ब्रह्मको वेदै नाहीं, यह भी बात न मानै ॥ भाई. ॥ ३ ॥

भूमि आग जल पवन व्योम मिलि, एक कहै यह हूवा।
नैनादिक तत्त्वनिको देखैं, लखैं न जीया मूवा ॥ भाई. ॥ ४ ॥

धूप चाँदनी दीप जोतसौं, ये तो परगट सूझै।
एक कहै है लोहूमें सो, मृतक भरो नहिं बूझै ॥ भाई. ॥ ५ ॥

एक कहै किनहू नहिं जाना, ब्रह्मादिक बहु खोजा।
जानौ जीव कह्यौ क्यों तिनने, भाखैं जान्यो होजा ॥ भाई. ॥ ६ ॥

इत्यादिक मतकल्पित बातैं, तो बोलैं सो विघटै।
'द्यानत' देखनहारो चेतन, गुरुकिरपातैं प्रगटै ॥ भाई. ॥ ७ ॥

हे भाई! ब्रह्म (आत्मा) कैसा शोभित होता है, उसका स्वरूप कैसा है? जिसके वास्तविक स्वरूप को जानकर उसके स्वभाव के अनुरूप आचरण करने पर परमपद अर्थात् श्रेष्ठपद मोक्ष की प्राप्ति होती है!

कोई कहता है कि वह पवन के समान है, तो वह पवन तो देह को छूती है और स्पर्श से उसका अनुभव होता है। जब जीव गर्भावस्था में रहता है तब जीव का उस गर्भवती नारी से स्पर्श होता है तब उस नारी को उस जीव के स्वरूप का ज्ञान/भान क्यों नहीं होता?

कोई कहता है कि जो बोलता है वह ही आत्मा है, उसके वचन कान में पड़ते हैं पर कान तो उस जीव को नहीं जानता! इसलिए यह बात भी समझ नहीं आती।

कोई कहता है कि वह ब्रह्म/आत्मा पुष्पों की गंध के समान है जिसकी गंध (नाक में आनेपर) सब जान जाते हैं पर नाक से भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता इसलिए यह बात भी समझ नहीं आती।

कोई कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश सब मिलकर एक हो जाते हैं, इनका योग ही आत्मा है पर ये सभी तत्त्व नेत्रों द्वारा देखे जाते हैं पर यह आत्मा जीते हुए या मरते हुए कैसे भी नैनों से दिखाई नहीं देती अत: यह बात भी समझ में नहीं आती।

कोई आत्मा को धूप (सूर्य की ज्योति), कोई चाँद या दीपक की ज्योति जैसी बताते हैं, ये सब तो स्पष्ट दिखाई देते हैं पर आत्मा तो दिखाई नहीं देती।

कोई कहता है कि आत्मा रक्त (खून) में है, तो भाई! मृत शरीर में भी रक्त तो भरा होता है पर वहाँ आत्मा नहीं होती! कोई कहता है कि बहुत खोज की उस ब्रह्म की फिर भी उसे कोई नहीं जानता, फिर क्यों कहा जाता है कि जीव को जानो? जो ऐसा कहता है कि ब्रह्म को जानो, आत्मा को जानो बस वह ही उसे जानता है क्योंकि वह स्वयं ही तो आत्मा है।

इस प्रकार ये सब मत--मतान्तर की, कल्पना की दौड़ है। जो बोला जाता है वह भी नष्ट हो जाता है। द्यानतराय कहते हैं - अरे! जो देखनेवाला है, जो जाननेवाला है, जो चेतन है वह ही ब्रह्म है, वह ही आत्मा है, उसका ज्ञान तो गुरु की कृपा होने पर ही होता है।

(१२८)

राग आसावरी

भाई ब्रह्मज्ञान नहिं जाना रे॥ टेक॥

सब संसार दु:ख सागरमें, जामन मरन कराना रे॥ भाई.॥

तीन लोकके सब पुद्गल तैं, निगल निगल उगलाना रे।
छर्दि डारके फिर तू चाखै, उपजै तोहि न गलाना रे॥ भाई.॥ १॥

आठ प्रदेश बिना तिहुँ जगमें, रहा न कोइ ठिकाना रे।
उपजा मरा जहां तू नाहीं, सो जानै भगवाना रे॥ भाई.॥ २॥

भव भवके नख केस नालका, कीजे जो इक ठाना रे।
होंय अधिक ते गिरी सुमेरुतैं, भाखा वेद पुराना रे॥ भाई.॥ ३॥

जननी थन-पय जनम जनम को, जो तैं कीना पाना रे।
सो तो अधिक सकल सागरतैं, अजहूं नाहिं अघाना रे॥ भाई.॥ ४॥

तोहि मरण जे माता रोईं, आँसू जल सगलाना रे।
अधिक होय सब सागरसेती, अजहूँ त्रास न आना रे॥ भाई.॥ ५॥

गरभ जनम दुख बाल बिरध दुख, वार अनन्त सहाना रे।
दरवलिंग धरि जे तन त्यागे, तिनको नाहिं प्रमाना रे॥ भाई.॥ ६॥

बिन समभाव सहे दुख एते, अजहूँ चेत अयाना रे।
ज्ञान-सुधारस पी लहि 'द्यानत', अजर अमरपद थाना रे॥ भाई.॥ ७॥

हे भाई! तूने आत्मज्ञान को नहीं जाना। यह सारा संसार दु:ख का सागर है। इसमें जन्म-मृत्यु का क्रम चलता रहता है।

तीन लोक में अनन्त पुद्‌गल हैं भव-भव में उन्हें ही निगलता है और फिर उन्हें ही उगलता है अर्थात् पुद्गल की पूरण--गलन की प्रक्रिया सदा होती ही

रहती है इसलिए बार-बार उन्हीं पुद्गल-परमाणुओं को भोगता है और बार-बार उनका त्याग करता है। इस प्रकार वमन करके तू फिर उसी को खा जाता है और तुझे ग्लानि नहीं होती?

इस लोक में केवल आत्मा के आठ प्रदेश स्थिर रहते हैं, उसके अलावा कहीं स्थिरता नहीं है। तूने किस स्थान पर जन्म नहीं लिया और किस स्थान पर मरण नहीं किया -- ऐसा स्थान तो केवलज्ञानी ही जानते हैं अर्थात् तू सब पर्यायों में जन्म-मरण कर चुका है।

जितने भव तूने अब तक धारण किए हैं उनके नख-केश एकत्रित किए जाएँ तो वे सुमेरु पर्वत से भी ऊँचे हो जायें अर्थात् उससे भी अधिक ऊँचा उनका ढेर हो जाएगा, ऐसा आगमों और पुराणों में वर्णन है।

प्रत्येक जन्म में अपनी माता के स्तनों का जितना दूध पिया है उसका परिमाण किया जाए तो वह सब भी वह समुद्र से कहीं अधिक हो जाये! तो भी तेरा चित्त उससे अभी अघाया नहीं है, धाया नहीं है।

जब-जब तू मरा तो तेरे मरण पर तेरी माता आदि रोईं, उनके अश्रुओं को एकत्र किया जाए तो उसका परिमाण क्षीर-समुद्र से भी अधिक हो जाए। फिर भी तुझे भय नहीं हुआ? गर्भ में आना, वहाँ पनपना (बढ़ना), फिर जन्म लेना, बचपन के दुःख ये सब तूने अनन्त बार भोगे हैं, सहे हैं। यह चेतन, अनेक बार द्रव्य लिंग धारण करके, शरीर से मुनि होकर देह को छोड़ चुका है, उसका कोई प्रमाण/माप ही नहीं है।

बिना समताभाव के तूने ये सब दुःख भोगे हैं। अब तो सयाने तू चेत। द्यानतराय कहते हैं कि ज्ञानामृत पीकर तू अजर, अमर, कभी न क्षय होनेवाला व कभी न मरनेवाला पद/स्थान पा ले।

छर्दि = वमन।

(१२९)

राग काफी

भाई! ज्ञान बिना दुख पाया रे॥ टेक॥

भव दश आठ उस्वास स्वास में, साधारन लपटाया रे॥ भाई.॥

काल अनन्त यहां तोहि बीते, जब भई मंद कषाया रे।

तब तू तिस निगोद सिंधूतैं, थावर होय निसारा रे॥ भाई.॥ १॥

क्रम क्रम निकस भयो विकलत्रय, सो दुख जात न गाया रे।

भूख प्यास परवश सहि पशुगति, वार अनेक विकाया रे॥ भाई.॥ २॥

नरकमाहिं छेदन भेदन बहु, पुतरी अगन जलाया रे।

सीत तपत दुरगंध रोग दुख, जानैं श्रीजिनराया रे॥ भाई.॥ ३॥

भ्रमत भ्रमत संसार महावन, कबहूँ देव कहाया रे।

लखि परविभौ सह्यौ दुख भारी, मरन समय बिललाया रे॥ भाई.॥ ४॥

पाप नरक पशु पुन्य सुरग वसि, काल अनन्त गमाया रे।

पाप पुन्य जब भये बराबर, तब कहुँ नरभव पाया रे॥ भाई.॥ ५॥

नीच भयो फिर गरभ खयो फिर, जनमत काल सताया रे।

तरुणपनै तू धरम न चेतै, तन-धन-सुत लौ लाया रे॥ भाई.॥ ६॥

दरबलिंग धरि धरि बहु मरि तू, फिरि फिरि जग भमि आया रे।

'द्यानत' सरधाजुत गहि मुनिव्रत, अमर होय तजि काया रे॥ भाई.॥ ७॥

अरे भाई! ज्ञान के बिना इस जीव ने बहुत दुःख पाए हैं। निगोदकाय में एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण तक इसने किया है।

इसप्रकार निगोद में अनन्तकाल बीत जाने पर, जब कषायों में मंदता आई तब जीव निगोदकाय के समुद्र से बाहर होकर/निकलकर स्थावर पर्याय में उत्पन्न हुआ। फिर क्रम से वहाँ से निकल कर दो, तीन, चार इन्द्रिय अर्थात् विकलेन्द्रिय

हुआ और बहुत दुःख पाए, वे दु:ख बताये नहीं जा सकते। कभी भूख व प्यास के दु:खोंवाली पराधीन और पीड़ित पशुगति पाई जिसमें अनेक बार बेचा गया।

नरक में छेदन-भेदन के बहुत दु:ख भुगते। आँखों की कोमल पुतलियाँ अग्नि से जलाई गई। शीत व ताप, दुर्गंध, रोग आदि के दुःख भोगे, जिसे सर्वज्ञदेव श्री जिनवर ही जानते हैं।

इस संसाररूपी वन में भ्रमण करते-करते कभी देवगति पाई और देव कहलाया। वहाँ भी दूसरों के वैभव को देख-देखकर ईर्ष्यावश दु:खी होता रहा और मृत्यु का समय निकट आने पर दु:खी हुआ।

इस प्रकार पाप के कारण नरक गति व तिर्यंच गति में तथा पुण्य के कारण देव बनकर अनन्तकाल बिता दिया। जब पाप और पुण्य बराबर हुए तब कहीं मनुष्य देह पाई, उसमें भी कभी नीच प्रवृत्तिवाला हुआ, कभी गर्भपात आदि द्वारा अल्प आयुवाला हुआ, कभी जन्म होते ही सताया गया। जवानी में धर्म के प्रति रुचि नहीं हुई, उस समय तन, धन, पुत्र आदि में रमकर सुख मानने लगा।

हे भाई! इस प्रकार कभी स्त्री, पुरुष, नपुंसक होकर तू सारा जगत घूम चुका, भ्रमण कर चुका। द्यानतराय कहते हैं कि तू श्रद्धासहित मुनिव्रत ग्रहणकर, उसका पालन कर जिससे देह से छूटकर तू अमर हो जाए, जन्म-मरण से छुटकारा पा जाए।

(१३०)

राग आसावरी

भाई! ज्ञानी सोई कहिये॥ टेक॥
करम उदय सुख दुख भोगेतैं, राग विरोध न लहिये॥ भाई.॥

कोऊ ज्ञान क्रियातैं कोऊ, शिवमारग बतलावै।
नय निहचै विवहार साधिकै, दोऊ चित्त रिझावै॥ भाई.॥ १॥

कोई कहै जीव छिनभंगुर, कोई नित्य बखानै।
परजय दरवित नय परमानै, दोऊ समता आनै॥ भाई.॥ २॥

कोई कहै उदय है सोई, कोई उद्यम बोलै।
'द्यानत' स्यादवाद सुतुलामें, दोनों वस्तैं तोलै॥ भाई.॥ ३॥

अरे भाई! ज्ञानी उसे ही कहते हैं जो कर्मोदय के कारण होनेवाले सुख व दु:ख को समता से अर्थात् बिना राग-द्वेष के सहन करता है।

कोई ज्ञानार्जन के द्वारा, कोई क्रिया के द्वारा मोक्ष-मार्ग बतलाता है पर जो निश्चय और व्यवहारनय के अभ्यास से निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टि से चित्त में प्रसन्न रहता है वही ज्ञानी है।

कोई व्यवहार से जीव को क्षणभंगुर कहता है तो कोई निश्चय से उसे नित्य कहता है। पर जो पर्याय और द्रव्य दोनों को नय प्रमाण से जानकर समता धारण करता है वही ज्ञानी है।

कोई कर्माधीन उदय को प्रमुख मानता है तो कोई पुरुषार्थ को प्रमुख मानता है। द्यानतराय कहते हैं कि जो स्याद्वादरूपी तराजू में दोनों को तोलता है वही ज्ञानी है।

(१३१)

भैया! सो आतम जानो रे!॥ टेक॥

जाके बसतैं बसत है रे, पाँचों इन्द्री गाँव।
जास बिना छिन एकमें रे, गाँव न नाँव न ठाँव॥ भैया.॥ १ ॥

आप चलै अरु ले चलै रे, पीछैं सौ मन भार।
ता बिन गज हल ना सके रे, तन खींचै संसार॥ भैया.॥ २ ॥

जाको जारैं मारतैं रे, जरै मरै नहिं कोय।
जो देखै सब लोककों रे, लोक न देखै सोय॥ भैया.॥ ३ ॥

घटघटव्यापी देखिये रे, कुंथू गजसम रूप।
जानै मानै अनुभवै रे, 'द्यानत' सो चिद्रूप॥ भैया.॥ ४ ॥

भैया! अपनी आत्मा को जानो जिसके बसने से पाँच इन्द्रियोंवाला गाँव (देह) बस जाता है, सक्रिय हो जाता है। जिसके अभाव में एक ही क्षण में न वह गाँव (देह) रहता है और न उसका नाम रहता है और न कोई ठिकाना ही रहता है, उस आत्मा को जानो।

जब तक शरीर में आत्मा रहती है तब तक यह शरीर अपने आप चलता है और अपने साथ सौ-मन का भार भी लिये चलता है। इसके बिना (आत्मा के बिना) शरीर एक गज भी नहीं हिल सकता फिर तो उस शरीर को संसार के लोग खींचते हैं।

इस तन को जलाने से, मारने से वह आत्मा न जलता है और न मरता है, वह सारे लोक को देखता है, पर वह लोक को दिखाई नहीं देता, उस आत्मा को जानो।

यह आत्मा घट-घट में, प्रत्येक शरीर में है। चाहे वह कुंथु-सी छोटी देह हो या हाथी के समान बड़ा रूप-आकार हो। द्यानतराय कहते हैं कि जो उस आत्मा को जानता व मानता है और अनुभव करता है, वह ही चिद्रूप है।

मगन रहु रे! शुद्धातममें मगन रहु रे ॥ टेक ॥

रागदोष परकी उतपात, निहचै शुद्ध चेतनाजात ॥ मगन. ॥ १ ॥

विधि निषेधको खेद निवारि, आप आपमें आप निहारि ॥ मगन. ॥ २ ॥

बंध मोक्ष विकलप करि दूर, आनँदकन्द चिदातम सूर ॥ मगन. ॥ ३ ॥

दरसन ज्ञान चरन समुदाय, 'द्यानत' ये ही मोक्ष उपाय ॥ मगन. ॥ ४ ॥

हे भव्य! अपने शुद्ध आत्म-स्वभाव में, उसके स्वरूप चिन्तन में तुम मगन रहो।

ये राग-द्वेष तो परद्रव्य के विकार हैं, उपद्रव हैं। निश्चय में तो तुम्हारी जाति चेतन ही है।

अपने आप में केवल अपने आत्म-स्वरूप का चिन्तन करो, उसे ही निरखो, देखो और जानो-पहचानो। भाव और अभाव का, पुण्य-पाप का अर्थात् कर्मों का नाशकर, समस्त दु:खों का निवारण कर।

कर्मबंध और मोक्ष, दोनों का विकल्प छोड़ दो। तब सभी विकल्प से परे यह अपना चिदात्म आनन्द का पुंज, सूर्य के समान अनुभव में आएगा।

द्यानतराय कहते हैं कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सम्यक होना और उनका एकत्व होना ही मोक्ष का उपाय है।

(१३३)

राग सोरठा

मन! मेरे राग भाव निवार॥ टेक॥
राग चिक्कनतैं लगत है, कर्मधूलि अपार॥ मन.॥

राग आस्रव मूल है, वैराग्य संवर धार।
जिन न जान्यो भेद यह, वह गयो नरभव हार॥ मन.॥ १॥

दान पूजा शील जप तप, भाव विविध प्रकार।
राग बिन शिव सुख करत हैं, रागतैं संसार॥ मन.॥ २॥

वीतराग कहा कियो, यह बात प्रगट निहार।
सोइ कर सुखहेत 'द्यानत', शुद्ध अनुभव सार॥ मन.॥ ३॥

ए मेरे मन! तू राग भावों को छोड़ दे, उनसे निवृत्ति पा ले। रागरूपी चिकनाई के कारण अपार कर्मरूप धूलि के कण आकर जम जाते हैं।

आस्रव (कर्मों के आने) का मूल कारण राग ही है और जिसे वैराग्य (राग का अभाव) होता है उसके संवर होता है इसलिए राग छोड़कर वैराग्य धारणकर। जिसने राग और वैराग्य के इस भेद को, इस तथ्य को नहीं जाना वह अपने इस मनुष्य जन्म में हार गया है अर्थात् उसका यह मनुष्य निरर्थक हो चला है।

दान, पूजा, शील, जप और तप अनेक प्रकार से भावों को सँजोने की क्रियाएँ की जाती हैं। परन्तु मोक्ष का सुख तो राग के बिना ही प्राप्त होता है, राग से तो संसार परिभ्रमण ही होता है।

जिनके राग नहीं रहा, राग चुक गया, उन्होंने क्या किया? इस बात को तू स्पष्टतः देख और समझ ले। द्यानतराय कहते हैं वह ही तू कर यह ही सारे अनुभवों का सार है।

(१३४)

राग बिलावल

मानुषभव पानी दियो, जिन राम न जाना॥
पाप अनेक उपायकै, गयो नरक, निदाना॥ मानुष.॥

पुन्य उदय सम्पत मिली, फूल्या न समाना।
पाप उदय जब खिर गई, हा! हा! बिललाना॥ मानुष.॥ १॥

तीरथ बहुतेरे फिरे, अरचे पाषाना।
राम कहूँ नहिं पाइयो, हूए हैराना॥ मानुष.॥ २॥

राम मिलनके कारनैं, दीए बहु दाना।
आठ पहर शुक ज्यों रटे, नहिं रूप पिछाना॥ मानुष.॥ ३॥

तलैं कहै ऊपर कहै, पावै न ठिकाना।
देखै जानै कौन है, यह ज्ञान न आना॥ मानुष.॥ ४॥

बेद पढ़ैं केई तप तपैं, कोई जाप जपाना।
रैन दिना खोटी घड़ैं, चाहैं कल्याना॥ मानुष.॥ ५॥

राम सबै घट घट बसै, कहिं दूर न जाना।
ज्यों चकमकमें आग है, त्यों तन भगवाना॥ मानुष.॥ ६॥

तिनका ओट पहार है, जानै न अयाना।
'द्यानत' निपट नजीक है, लख चेतनवाना॥ मानुष.॥ ७॥

हे मानव! जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसका यह मनुष्य भव पानी के समान ही बह गया, नष्ट हो गया। बहुत पाप करके नरक का निदान किया है अर्थात् उपार्जन किया है।

यदि पुण्य उदय से कुछ संपदा मिल गई तो मानव फूलकर अपने में नहीं समाता और पाप-उदय होने पर विकल होकर बिलबिलाने लगता है।

बहुत तीर्थ किए, बहुत पत्थरों को पूजा, पर राम कहीं न मिलते, यह सबसे बड़ी हैरानी है।

राम से मिलने के लिए बहुत-सा दान किया। आठ पहर अर्थात् दिन-रात तोते की तरह उनका नाम रटता रहा, पर उसका स्वरूप नहीं पहचान सका।

कोई कहे राम (आत्मा/भगवान) नीचे है, कोई कहे ऊपर है, पर उसका कहीं कोई ठिकाना नहीं मिला। यह सब देखने-जाननेवाला कौन है? वही तो आत्मा है, राम है यह समझ नहीं पाया।

वेद आदि सांसारिक ग्रन्थ पढ़े, कई प्रकार के तप किए, जाप जपे-जपाए, रात-दिन कुचेष्टाएँ करता रहा और फिर भी अपना कल्याण चाह रहा है!

अरे, राम तो घट-घट में, हर प्राणिदेह में व्याप्त है, कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। जैसे चकमक में आग उत्पन्न होने की योग्यता छिपी रहती है, ऐसे ही इस देह में भगवान छिपा है।

आँख के आगे एक छोटे-से तिनके के आ जाने से, उसकी ओट में पहाड़ दिखाई नहीं देता है। उसी प्रकार द्यानतराय कहते हैं कि अपना चैतन्यस्वरूपी आत्मा तेरे अत्यन्त निकट है, तेरे अपने पास ही है फिर भी वह दिखाई नहीं देता, उसे ही लख-देख।

मैं एक शुद्ध ज्ञाता, निरमलसुभावराता ॥ टेक ॥

दृगज्ञान चरन धारी, थिर चेतना हमारी ॥ मैं. ॥ १ ॥

तिहुँ काल परसों न्यारा, निरद्वंद निरविकारा ॥ मैं. ॥ २ ॥

आनन्दकन्द चन्दा, 'द्यानत' जगत सदंदा ॥ मैं. ॥ ३ ॥

अब चिदानन्द प्यारा, हम आपमें निहारा ॥ मैं. ॥ ४ ॥

हे आत्मन्! मैं तो एक शुद्ध ज्ञाता हूँ। जो अपने निर्मल स्वभाव में रत हूँ, उसी में पगा हुआ हूँ।-- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दर्शन, ज्ञान, चारित्र अर्थात् रत्नत्रय को धारण करनेवाला मैं स्थिर चेतनावाला हूँ।

तीनों काल में मैं पर से सर्वथा भिन्न हूँ, निर्विकार निर्द्वंद्व हूँ।

मैं आनन्द का पुंज हूँ। द्यानतराय कहते हैं कि जगत तो द्वंद्वसहित है।

अब मैंने अपने प्रिय चिदानन्दस्वरूप को अपने आप में खोज लिया है, पा लिया है, देख लिया है।

मैं निज आतम कब ध्याऊंगा॥ टेक॥

रागादिक परिनाम त्यागकै, समतासौं लौ लाऊंगा॥

मन वच काय जोग थिर करकै, ज्ञान समाधि लगाऊंगा।
कब हौं खिपकश्रेणि चढ़ि ध्याऊं, चारित मोह नशाऊंगा॥ १॥

चारों करम घातिया खय करि, परमातम पद पाऊंगा।
ज्ञान दरश सुख बल भंडारा, चार अघाति बहाऊंगा॥ २॥

परम निरंजन सिद्ध शुद्धपद, परमानंद कहाऊंगा।
'द्यानत' यह सम्पति जब पाऊं, बहुरि न जगमें आऊंगा॥ ३॥

हे प्रभु! मैं कब अपनी आत्मा का ध्यान करूँगा! अर्थात वह शुभ घड़ी कब आएगी, जब मैं अपनी आत्मा का ध्यान करूँगा! कब राग-द्वेष आदि भावों का त्याग करके मैं समता में रुचि लाऊँगा!

हे भगवन्! कब मैं मन, वचन और काय, इन तीनों के योग को स्थिर करके, ज्ञान की समाधि में लीन होऊँगा। और कब मैं कर्मों को क्षयकर क्षपक श्रेणी चढ़कर चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों का नाश कर सकूँगा।

चारों घातिया कर्म नष्ट करके कब परम आत्मपद अर्थात् अरहंत अवस्था प्राप्तकर अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख व बल की स्थिति में शेष रहे चार अघातिया कर्मों का नाश करूँगा।

कब वह शुभ समय आयेगा जब परम अर्थात् सर्व दोषरहित शुद्ध सिद्ध पद को प्राप्त कर परमानन्द की स्थिति में स्थित होऊँगा। द्यानतराय कहते हैं कि वह अवस्था प्राप्त होने पर मैं आवागमन से मुक्त हो जाऊँगा अर्थात् भव-भव के परिभ्रमण से छूट जाऊँगा।

हौं - मैं; खिपक श्रेणी - क्षपक श्रेणी।

(१३७)

राग आसावरी

रे भाई! मोह महा दुखदाता॥ टेक॥
वसत विरानी अपनी मानैं, विनसत होत असाता॥ रे भाई.॥

जास मास जिस दिन छिन विरियाँ, जाको होसी घाता।
ताको राखन सकै न कोई, सुर नर नाग विख्याता॥ रे भाई.॥ १॥

सब जग मरत जात नित प्रति नाहिं, राग बिना बिललाता।
बालक मैं करै दुख धाय न, रुदन करै बहु माता॥ रे भाई.॥ २॥

मूसे हनैं बिलाव दुखी नहिं, मुरग हनैं रिस खाता।
'द्यानत' मोह-मूल ममताको, नास करै सो ज्ञाता॥ रे भाई.॥ ३॥

अरे भाई! यह मोह महादु:ख देनेवाला है। पर-वस्तु को अपनी मानता है और उसके नष्ट होने पर दु:खी होता है।

जिस क्षण, जिस बेला में, जिस दिन, जिस मास में वह पर-वस्तु नष्ट होगी, उसे ख्याति प्राप्त देव, मनुष्य, नाग आदि भी बचाने में, रखने में समर्थ नहीं होते।

सारा जगत नित्य प्रति मर रहा है, प्रतिक्षण कोई न कोई क्षय हो रहा है, मृत्यु को प्राप्त हो रहा है। परन्तु उनके प्रति राग/मोह नहीं होने से कष्ट अनुभव नहीं करता। जैसे बालक के मरने पर धाय (वेतन लेकर बच्चा पालनेवाली) को दु:ख नहीं होता, परन्तु माता बहुत रुदन करती है।

चूहे को मारने पर बिलाव दु:खी नहीं होता, न मुर्गे को मारने पर नाराज होता है। द्यानतराय कहते हैं कि ममत्व का कारण है मोह, जो उस मोह को मूल से नष्ट करता है वह ही वास्तव में ज्ञाता है, ज्ञानी है।

(१३८)

राग गौरी

रे भाई! सँभाल जगजालमें काल दरहाल रे॥ टेक॥

कोड़ जोधाको जीतै छिनमें, एकलो एक हि सूर।
कोड़ सूर अस धूर कर डारै, जमकी भौंह करूर॥ रे भाई.॥ १॥

लोहमें कोट सौ कोट बनाओ, सिंह रखो चहुँओर।
इंद फनिंद नरिंद चौकि दैं, नहिं छोड़ै मृतु जोर॥ रे भाई.॥ २॥

शैल जलै जस आग वलै सो, क्यों छोड़ै तिन सोय।
देव सबै इक काल भखै है, नरमें क्या बल होय॥ रे भाई.॥ ३॥

देहधारी भये भूपर जे जे, ते खाये सब मौत।
'द्यानतराय' धर्म को धार चलो शिव, मौतको करके फौत॥ रे भाई.॥ ४॥

अरे भाई! इस जगत के जाल में तू अपने को सँभाल। काल अर्थात् मृत्यु सदैव तेरे दरवाजे पर खड़ी है।

कोई एक अकेला ही इतना वीर है कि करोड़ों योद्धाओं को जीत लेता है, करोड़ों को धूलि-मिट्टी कर देता है किन्तु उसको भी यम की क्रूर दृष्टि नष्ट कर देती है।

लोहे के सौ-सौ परकोटे बनाओ और उनकी रक्षा के लिए चारों ओर रक्षक योद्धा रखो; चाहे इन्द्र हो, फणीन्द्र हो या नृप आदि चौकीदारी करें तो भी मृत्यु किसी को छोड़ती नहीं है। उस मृत्यु पर किसी का जोर नहीं चलता।

जैसे अग्नि की पहाड़-सी ऊँची उठती भयानक लपटों में कुछ भी नहीं बचता उसी प्रकार यह काल सबको खा जाता है, लील जाता है उसके सामने इस मनुष्य में कितना-सा बल है!

इस पृथ्वी पर जितने भी प्राणी हैं वे सब देह धारण किए हुए हैं, सदेह हैं, उन सभी को यह मौत खा जाती है। द्यानतराय कहते हैं कि तुम मोक्ष की प्राप्ति के लिए धर्म की राह पर चलो जिससे मृत्यु-शृंखला का अंत कर सको।

(१३१)

लाग रह्यो मन चेतनसों जी॥ टेक॥

सेवक सेव सेव सेवक मिल, सेवा कौन करै पनसों जी॥ १॥

ज्ञान सुधा पी वम्यो विषय विष, क्यों कर लागि सकै तनसौं जी॥ २॥

'द्यानत' आप-आप निरविकलप, कारज कवन भवन निवसों जी॥ ३॥

मेरा मन अपने चैतन्य स्वभाव में लग रहा है अर्थात् मेरे मन की चैतन्य स्वभाव में ही रुचि हो रही है।

जब सेवक (मन) व सेव्य (सेवा किये जाने योग्य चेतन/आत्मा) परस्पर मिल गये हैं एक हो गये हैं तो अब कौन नौकर की भाँति (पारिश्रमिक से) सेवा करे?

जब ज्ञानामृत पीकर, इन्द्रिय-विषयों के विषरूपी सुखों को छोड़ दिया, फिर ऐसे तन से लगाव क्यों रहेगा?

द्यानतराय कहते हैं कि आप अपने आपमें रहो तो कोई विकल्प ही शेष नहीं रहे (निर्विकल्प हो जाओगे) फिर कौनसा कार्य है जिसके लिए इस भवन में (देह में) रह रहे हो?

पण - पारिश्रमिक, मजदूरी।

(१४०)

लागा आतमसों नेहरा॥ टेक॥

चेतन देव ध्यान विधि पूजा, जाना यह तन देहरा॥ लागा.॥ १॥

मैं ही एक और नहिं दूजो, तीन लोकको सेहरा॥ लागा.॥ २॥

'द्यानत' साहब सेवक एकै, बरसै आनँद मेहरा॥ लागा.॥ ३॥

मुझे अपनी आत्मा से ही नेह है, प्रीति है।

इस जीव ने परमदेव का ध्यान करके, उनकी पूजा करके यह जाना कि आत्मा का घर/मन्दिर यह देह ही है, वह इसी में बिराज रहा है।

मैं एक अकेला हूँ, कोई अन्य/दूसरा मेरा नहीं है। ऐसे आत्मध्यान में रत होने पर तीन लोक में श्रेष्ठ पद प्राप्त होता है अर्थात् तीन लोक का स्वामी पद मिलता है।

द्यानतराय कहते हैं कि वह पूज्य व पूजक, स्वामी और सेवक एक आत्मा ही हो जाता है तब सदा आनंद की वृष्टि होती है।

(१४१)

राग ख्याल

लागा आतमरामसों नेहरा॥ टेक॥

ज्ञानसहित मरना भला रे, छूट जाय संसार।
धिक्क! परौ यह जीवना रे, मरना बारंबार॥ लागा.॥ १॥

साहिब साहिब मुंहतैं कहते, जानैं नाहीं कोई।
जो साहिबकी जाति पिछानैं, साहिब कहिये सोई॥ लागा.॥ २॥

जो जो देखौ नैनोंसेती, सो सो विनसै जाई।
देखनहारा मैं अविनाशी, परमानन्द सुभाई॥ लागा.॥ ३॥

जाकी चाह करैं सब प्रानी, सो पायो घटमाहीं।
'द्यानत' चिन्तामनिके आये, चाह रही कछु नाहीं॥ लागा.॥ ४॥

अरे भाई! अपनी आत्मा के प्रति मेरा मन लगा है, उससे अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई है।

ज्ञान सहित अर्थात् पूरे होश-हवास के साथ मरना श्रेष्ठ है जिससे यह संसार ही छूट जाए। बार-बार जन्म-मरण का क्रम धिक्कार है, यह क्रम टूट जाए - मिट जाए।

अरे वचन से भगवान का नाम बोलते-बोलते भी उसे कोई जानता नहीं। जो भगवान के गुणों का, उसके स्वरूप व जाति का ज्ञान हो जाए तो वह स्वयं साहिब हो जाए।

जो-जो भी नेत्रों से दीख रहा है वह सब ही विनाश को प्राप्त होता जाता है। अरे मैं ही एकमात्र देखने-जाननेवाला चैतन्य आत्मा हूँ, जो अविनाशी है और परम आनन्द स्वभाववाला है।

जिस (परमात्मा) की चाह सब करते हैं, अरे वह तो अपने अन्दर ही है। अपनी ही अनुभूति में आने योग्य है। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे चिन्तामणि स्वरूप आत्मा की समझ आने पर अन्य किसी वस्तु की चाह शेष नहीं रहती।

(१४२)

वे परमादी! तैं आतमराम न जान्यो ॥ टेक ॥

जाको वेद पुरान बखानै, जानैं हैं स्यादवादी ॥ वे. ॥ १ ॥

इंद फनिंद करैं जिस पूजा, सो तुझमें अविषादी ॥ वे. ॥ २ ॥

'द्यानत' साधु सकल जिंह ध्यावैं, पावैं समता-स्वादी ॥ वे. ॥ ३ ॥

अरे प्रमादी जीव! तूने अपनी आत्मा को नहीं पहचाना, जाना। जिसका वर्णन वेद (आगम ग्रन्थ)-पुराण भी करते हैं। और जो स्यादवाद सिद्धान्त को जाननेवाले हैं वे भी उसे जानते हैं।

इन्द्र, धरणेन्द्र, जिसकी पूजा करते हैं, वह पूर्ण आनन्ददायक यानी सर्व विषादरहित आत्मा तुझमें भी है।

द्यानतराय कहते हैं कि सारे साधु जिस स्वरूप का ध्यान करते हैं, उस स्वरूप को समतारस के स्वादी ही प्राप्त करते हैं।

(१४३)

राग गौरी

सबको एक ही धरम सहाय ॥ टेक ॥

सुर नर नारक तिरयक् गतिमें, पाप महा दुखदाय ॥ सबको. ॥

गज हरि दह अहि रण गद वारिधि, भूपति भीर पलाय।
विघन उलटि आनन्द प्रगट है, दुलभ सुलभ ठहराय ॥ सबको. ॥ १ ॥

शुभतैं दूर बसत ढिग आवै, अघतैं करतैं जाय।
दुखिया धर्म करत दुख नासै, सुखिया सुख अधिकाय ॥ सबको. ॥ २ ॥

ताड़न तापन छेदन कसना, कनकपरीच्छा भाय।
'द्यानत' देव धरम गुरु आगम, परखि गहो मनलाय ॥ सबको. ॥ ३ ॥

हे प्राणी ! एकमात्र धर्म ही सबका सहारा है। देव, तिर्यंच, नारकी व मनुष्य, इन चारों गतियों में पाप कर्म ही दुःख का, महादुःख का कारण है।

धर्म से ही हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, युद्ध, रोग, समुद्र और राजा आदि सभी के कष्टों का निवारण होता है और आनन्द प्रकट होता है; जो दुर्लभ था वह भी सुलभ हो जाता है।

शुभ अर्थात् पुण्य जो दूर रहता था वह भी समीप आ जाता है और पापवृत्ति छूटती जाती है। इस प्रकार धर्म को अपनाकर दुखिया अपने दुःख का नाश करता है और सुखी के सुख की वृद्धि होती जाती है।

स्वर्ण को ताड़ना, तपाना, छेदा जाना, बाँधा जाना तथा कसौटी पर परखे जाने की भाँति सब प्रकार की परीक्षा करते हुए द्यानतराय कहते हैं कि देव, शास्त्र व गुरु को भी परखकर उनका निश्चय करो और फिर श्रद्धा से मन में धारण करो।

सब जगको प्यारा, चेतनरूप निहारा ॥ टेक ॥
दरब भाव नो करम न मेरे, पुदगल दरब पसारा ॥ सब. ॥

चार कषाय चार गति संज्ञा, बंध चार परकारा।
पंच वरन रस पंच देह अरु, पंच भेद संसारा ॥ सब. ॥ १ ॥

छहों दरब छह काल छलेश्या, छमत भेदतैं पारा।
परिगृह मारगना गुन-थानक, जीवथानसों न्यारा ॥ सब. ॥ २ ॥

दरसनज्ञानचरनगुनमण्डित, ज्ञायक चिह्न हमारा।
सोऽहं सोऽहं और सु और, 'द्यानत' निहचै धारा ॥ सब. ॥ ३ ॥

हे साधो! अपने चैतन्यरूप को निहारना, देखना ही सारे जगत को प्रिय है। द्रव्य कर्म व नो कर्म, ये मुझ चैतन्य के नहीं है। ये तो सब पुद्गल का ही विस्तार है, प्रसार है।

चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ); चार गति (देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच); चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह); चार प्रकार के बंध (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग); पाँच वर्ण (हरा, नीला, काला, पीला और सफेद); पाँच रस (खट्टा, मीठा, चरपरा, कषायला और कडुआ); पाँच देह (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, कार्माण और तेजस) व पंच परावर्तनरूप स्थितियाँ (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव) संसार ही है।

यह चेतन द्रव्य अन्य पाँचों द्रव्यों (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल), छह काल (सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा, दुखमा-दुखमा), छह लेश्या और छह प्रकार के मतों से परे है तथा सब परिग्रहों, चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, चौदह जीवस्थान इन सबसे न्यारा है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र के गुणों से भरा हुआ, यह जाननेवाला/ज्ञायक होना ही हमारा चिह्न है। सोऽहं, सोऽहं अर्थात् मैं वह (सिद्ध/शुद्धरूप) हूँ, इसी को ध्यावे व चिन्तन में लावे, यह ही निश्चय का मार्ग है, प्रवाह है।

(१४५)

राग बिलावल

सबमें हम हममें सब ज्ञान, लखि बैठे दृढ़ आसन तान॥ टेक॥

भूमिमाहिं हम हममें भूमि, क्यों करि खोदैं धामाधूम॥ १॥

नीर-माहिं हम हममें नीर, क्यों करि पीवैं एक शरीर॥ २॥

आगमाहिं हम हममें आगि, क्यों करि जालैं हिंसा लागि॥ ३॥

पौन माहिं हम हममें पौन, पंखा लेय विराधै कौन॥ ४॥

रूखमाहिं हम हममें रूख, क्योंकरि तोड़ैं लागैं भूख॥ ५॥

लट चैंटी माखी हम एक, कौन सतावै धारि विवेक॥ ६॥

खग मृग मीन सबै हम जात, सबमें चेतन एक विख्यात॥ ७॥

सुर नर नारक हैं हम रूप, सबमें दीसै है चिद्रूप॥ ८॥

बालक वृद्ध तरुन तनमाहिं, षंढ नारि नर धोखा नाहिं॥ ९॥

सोवन बैठन वचन विहार, जतन लिये आहार निहार॥ १०॥

आयो लैहिं न न्यौते जाहिं, परघर फासू भोजन खाहिं॥ ११॥

पर संगतिसों दुखित अनाद, अब एकाकी अम्रत स्वाद॥ १२॥

जीव न दीसै है जड़ अंग, राग दोष कीजै किहि संग॥ १३॥

निरमल तीरथ आतमदेव, 'द्यानत' ताको निशिदिन सेव॥ १४॥

(यह भजन मुनि के चिन्तवन से सम्बन्धित है।)

मुनि चिन्तवन करते हुए कभी विचार करते हैं कि हम चैतन्यस्वरूप हैं, दृष्टा और ज्ञाता हैं। दृष्टा होकर हम सब (पदार्थों/ज्ञेयों) में व्याप्त हैं और ज्ञाता होकर हम उन सबको जानते हैं। दृढ़ आसन धारणकर ध्यान/चिन्तवन करते हुए हमें

हमें स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि पुद्गल 'पर' है और वह चैतन्य से भिन्न है। जगत में जितने भी जीव हैं वे सब चेतन हैं, वे हमारे जैसे ही हैं, स्वरूप की दृष्टि से हम और वे समान हैं, पर प्रत्येक जीव अपने में स्वतंत्र (इकाई) है।

पृथ्वी के स्वरूप को देखते हुए विचारते हैं - यह भूमि एकेन्द्रिय जीव है, चेतन द्रव्य है और हम भी चेतन हैं अर्थात् उसमें भी हमारे समान चेतना है/प्राण हैं तब हम धमाधम करते हुए भूमि को/पृथ्वी को क्यों खोदें?

यह चेतन जल के स्वरूप को देखता है और (ज्ञान में) जानता है कि जल भी एकेन्द्रिय जीव है और हम भी जीव हैं; स्वरूप की दृष्टि से दोनों समानरूप हैं तब वह समानरूप जल कैसे पीया जावे? पुद्गलरूप यह शरीर उस जल को क्यों पीवे?

उसी प्रकार अग्नि के स्वरूप पर विचार करता हुआ सोचता है कि ज्ञान में अग्नि का स्वरूप प्रत्यक्ष है, वह भी एकेन्द्रिय है, उसमें भी चेतन तत्त्व है फिर अग्नि जलाकर हिंसा का दोष क्यों लगाया जाए?

पवन/वायु के स्वरूप पर चिन्तवन करता है कि पवन में भी जीव है, हमें यह ज्ञान है कि तब पंखा झलकर पवनकायिक जीवों की विराधना क्यों करें?

इसी प्रकार यह चेतन वनस्पति को/वृक्ष को देखता है, जानता है कि वनस्पति में/वृक्ष में भी जीव होता है फिर भूख लगने पर उन्हें तोड़कर क्यों खावें?

लट, चींटी, मक्खी सब प्राणधारी हैं यह विवेक धारण करने पर इनको कौन सता सकता है?

पशु-पक्षी, जलचर सब हमारे जैसे ही हैं, सबमें जीव है, सब चेतन हैं। इसी भाँति देवों में, मनुष्यों में, नारकियों में सभी में समानरूप चैतन्य है। बालक में, बूढ़े में, युवक में, नपुंसक-स्त्री-पुरुष इन सभी देहों में एक-सा चेतन तत्त्व है, इसमें किसी प्रकार की शंका/धोखा नहीं है।

इस प्रकार चिन्तवन करनेवाले मुनि/भव्यजीव सोना-उठना-बैठना-चलना बोलना, आहार-निहार आदि सब यत्नपूर्वक करते हैं अर्थात् ये क्रियाएँ करते समय सावधान रहते हैं कि इन जीवों की विराधना न हो जाये।

वे (मुनि) न तो अपने निमित्त कहीं से आया हुआ आहार (भोजन) करते हैं न किसी के निमन्त्रण पर आहार हेतु जाते हैं, वे बिना पूर्व-निश्चित किये हुए ही दूसरे के घर में प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं।

वे समझ लेते हैं कि यह जीव 'पर' की संगति में दु:ख ही पाता है और जब एकाकी/अकेला अपने स्वरूप में रमण करता है तो आनन्दित होता है, सुखी होता है।

वह चिन्तवन करता है कि देह पुद्गल है, रूपी है वह ही दिखाई देती है जीव तो अदृश्य है, वह तो दिखाई देता नहीं। फिर राग-द्वेष किससे किया जाए?

केवल आत्मा ही निर्मल किनारा है, स्थान है, तीर्थ है। द्यानतराय कहते हैं कि दिन-रात इसी की सेवा करो।

सुन चेतन इक बात हमारी, तीन भुवनके राजा।
रंक भये बिललात फिरत हो, विषयनि सुखके काजा॥ १॥

चेतन तुम तो चतुर सयाने, कहां गई चतुराई।
रंचक विषयनिके सुखकारण, अविचल ऋद्धि गमाई॥ २॥

विषयनि सेवत सुख नहिं राई, दुख है मेरु समाना।
कौन सयानप कीनी भौंदू, विषयनिसों लपटाना॥ ३॥

इस जगमें थिर रहना नाहीं, तैं रहना क्यों माना।
सूझत नाहिं कि भांग खाइ है, दीसै परगट जाना॥ ४॥

तुमको काल अनन्त गये हैं, दुख सहते जगमाहीं।
विषय कषाय महारिपु तेरे, अजहूँ चेतन नाहीं॥ ५॥

ख्याति लाभ पूजाके काजैं, बाहिज भेष बनाया।
परमतत्त्वको भेद न जाना, बादि अनादि गँवाया॥ ६॥

अति दुर्लभ तैं नर भव लहकैं, कारज कौन समारा।
रामा रामा धन धन साँटैं, धर्म अमोलक हारा॥ ७॥

घट घट साईं मैंनू दीसै, मूरख मरम न पावै।
अपनी नाभिसुवास लखे बिन, ज्यों मृग चहुं दिशि धावै॥ ८॥

घट घटसाईं घटसा नाईं, घटसों घटमें न्यारो।
घूंघटका पट खोल निहारो, जो निजरूप निहारो॥ ९॥

ये दश माझ सुनैं जो गावैं, निरमल मनसा करके।
'द्यानत' सो शिवसम्पति पावै, भवदधि पार उतरके॥ १०॥

हे चेतन! तू हमारी एक बात सुन! अरे तू तीन लोक का स्वामी है और फिर भी इन्द्रिय- भोगों की मरीचिका में लुब्ध होकर दरिद्र बने विकल हो रहे हो।

अरे चेतन! तुम तो बहुत चतुर हो, सयाने हो। वह तुम्हारी चतुराई कहाँ गई? थोड़े से इन्द्रिय-विषयों के सुख के कारण, सदा रहनेवाली ऋद्धि को तुम गँवा बैठे हो, भूल रहे हो!

अरे राजा! इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं है। इन विषयों का सेवन करने पर मेरु के समान ऊँचा दु:ख है। अरे मूर्ख! तब तूने यह कैसा सयानापन किया है कि इन विषयों से लिपटा हुआ है!

इस जगत में कुछ भी स्थिर नहीं रहता है। इसे तूने रहने के योग्य क्यों मान लिया? क्यों स्वीकार किया? क्या तुझे कुछ भी प्रकट दिखाई नहीं देता, या तूने भाँग खा रखी है जिससे सोचने-समझने की शक्ति क्षीण हो गई!

इस जगत में दुःख सहते हुए तुम्हें अनंतकाल बीत गए। ये इन्द्रिय-विषय और कषाय ही तेरे महान शत्रु हैं। यह चेतन तेरा शत्रु नहीं है।

ख्याति, यश, लाभ और पूजा-मान के लिए तूने अपना यह बाह्यवेश बना रखा है। तूने परमतत्व को, वस्तु-स्वरूप को नहीं समझा, व्यर्थ में समय गँवा रहा है। यह नरदेह बहुत दुर्लभ है। इसे पाकर तुमने क्या कार्य सम्पन्न किया? स्त्री और धन के लिए तूने अमूल्य धर्म को खो दिया।

घट-घट में, प्रत्येक प्राणिदेह में मुझे अनन्त शक्तिशाली आत्मा दिखाई देती है पर मूर्ख उसे समझ नहीं पाते। जैसे नाभि में रखी कस्तूरी से अनजान मृग उसके लिए सब दिशाओं में दौड़ता फिरता है।

आत्मा घट-घट में, प्रत्येक प्राणिदेह में व्याप्त होने की शक्तिवाला है, पर वह देह नहीं, वह देह-सा नहीं है, वह देह में रहकर भी देह से न्यारा है। अरे ज्ञान पर आए आवरण को जरा हटाकर तो देख, तुझे अपना चैतन्य रूप दिखाई देने लगेगा।

द्यानतराय कहते हैं कि जो मन को निर्मलकर दशधर्म सुने और गावे वह संसार-समुद्र से पार होकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी को पाता है।

(१४७)

सुनो! जैनी लोगो, ज्ञानको पंथ कठिन है॥ टेक॥
सब जग चाहत है विषयनिको, ज्ञानविषैं अनबन है॥ सुनो.॥

राज काज जग घोर तपत है जूझ मरैं जहा रन है।
सो तो राज हेय करि जानैं, जो कौड़ी गाँठ न है॥ सुनो.॥ १॥

कुवचन बात तनकसी ताको, सह न सकै जग जन है।
सिर पर आन चलावैं आरे, दोष न करना मन है॥ सुनो.॥ २॥

ऊपरकी सब थोथी बातैं, भावकी बातैं कम है।
'द्यानत' शुद्ध भाव है जाके, सो त्रिभुवनमें धन है॥ सुनो.॥ ३॥

अरे जैन साधर्मी बन्धुओ? ज्ञान का मार्ग कठिन है अर्थात् सरल नहीं है।

सारा जगत विषय-भोग को चाहता है, उसमें रत होकर मस्ती से खोया सा रहता है। ज्ञान की जागृति से उसका विरोध है, अनबन है। क्योंकि ज्ञान में और विषय-भोग में परस्पर विरोध है।

राजकार्यों में जहाँ पद व धन के लोभ में भारी तपन है, कष्ट है, उसके लिए युद्ध में जूझता है, प्राणों की आहुतियाँ देता है। वह राज्य तो हेय है - ऐसा जान लो। एक भी कौड़ी तुम्हारी अपनी सम्पत्ति नहीं है, स्थिर नहीं है।

कोई जरा-सी खोटी बात कह दे, तो जगत में कोई भी व्यक्ति उसे साधारणत: सहन नहीं करता। तत्काल सिर पर आरी के समान घात करता है और उसको मन से दोष नहीं मानता। अर्थात् बात का तो बुरा मानता है पर घात को बुरा नहीं मानता!

ये सब ऊपरी थोथी-खोखली बातें हैं। इसमें भाव अर्थात् मर्म की कोई बात नहीं हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जिसके भाव शुद्ध है, उसके पास तीन लोक की संपदा है।

(१४८)

राग मल्हार

सुनो जैनी लोगो! ज्ञानको पंथ सुगम है॥ टेक॥

टुक आतमके अनुभव करतैं, दूर होत सब तम है॥ सुनो.॥ १॥

तनक ध्यान करि कठिन करम गिरि, चंचल मन उपशम है॥ सुनो.॥ २॥

'द्यानत' नैसुक राग दोष तज, पास न आवै जम है॥ सुनो.॥ ३॥

साधर्मी जैन बन्धुओ! सुनो, ज्ञान का मार्ग सरल है, भली-भाँति गमन करने योग्य है।

जरा-सा आत्मस्वरूप के चिन्तवन में अपने मन को लगाने पर संसार के दुःखरूपी अंधकार के विचार से मन हट जाता है।

जरा-सा आत्मस्वरूप का चिन्तवन करने पर कर्मरूपी पहाड़ की उत्तुंगता - ऊँचाई तथा मन की चंचलता, दोनों का उपशम हो जाता है, कुछ समय के लिए उनके परिणाम नीचे दब जाते हैं, उभरकर फल नहीं दे पाते।

द्यानतराय कहते हैं कि तनिक-सा राग-द्वेष छोड़, फिर यम का भय भी पास नहीं फटकता है अर्थात् मृत्यु का भय भी आतंकित नहीं करता है।

सुन सुन चेतन! लाड़ले, यह चतुराई कौन हो॥ टेक॥
आतम हित तुम परिहर्यो, करत विषय-चिंतौन हो॥ सुन.॥

गहरी नीव खुदाइकै हो, मकां किया मजबूत।
एक घरी रहि ना सकै हो, जब आवै जमदूत हो॥ सुन.॥ १॥

स्वारथ सब जगवल्लहा हो, विनु स्वारथ नहिं कोय।
बच्छा त्यागै गायको रे, दूध बिना जो होय॥ सुन.॥ २॥

और फिकर सब छांडि दे हो, दो अक्षर लिख लेह।
'द्यानत' भज भगवन्तको हो, अर भूखेको देह हो॥ सुन.॥ ३॥

हे चेतन! सुनो, यह कैसी चतुराई है! तुमने अपनी आत्मा के हित का विचार छोड़ दिया है और इन्द्रिय-विषयों की चिन्ता करते हो!

गहरी नींव खुदा करके तो तुमने अपने भवन के आधार का, मजबूती का ध्यान रखा। पर यह नहीं सोचा कि जब यमदूत आएँगे तो तुम एक घड़ी भी उसमें नहीं रह सकोगे, रुक नहीं सकोगे।

जगत में सबको स्वार्थ ही प्रिय है, स्वार्थ के कारण वस्तु प्रिय लगती है। बिना स्वार्थ के कोई अच्छा नहीं लगता। बछड़ा भी उस गाय को छोड़ देता है जिसके स्तनों में दूध शेष न रहा हो।

द्यानतराय कहते हैं अरे तू सारी चिन्ता-फिक्र छोड़कर (सोहं) ये दो अक्षर मन में लिख ले और भगवान का भजन कर ले। यह उतना ही आवश्यक है कि जैसे देह को भूख लगती है।

सोई कर्मकी रेखपै मेख मारै, आपमें आपको आप धारै ॥

नयो बंध न करै, बँध्यो पूरब झरै, करज काढ़ै न देना विचारै ॥ १ ॥

उदय बिन दिये गल जात संवर सहित, ज्ञान संजुगत जब तप सँभारै ॥ २ ॥

ध्यान तरवारसों मार अरि मोहको, मुकति तिय बदन 'द्यानत' निहारै ॥ ३ ॥

वे ही कर्म की बढ़ती जा रही रेखा पर खूँटी गाढ़कर, संयम द्वारा उसे बढ़ने से रोकते हैं जो अपने आप में अपने को धारण करते हैं, चित्त को स्थिर कर आत्म-चिंतन में मग्न होते हैं।

नया कोई कर्म बंध नहीं करते। पहले के जो बँधे हुए हैं उनकी निर्जरा करते हैं। (कर्म का) जो कर्ज है, उसे पूरा चुकाते हैं। नया कर्ज लेना नहीं चाहते, उसका विचार ही नहीं करते।

जिनके उदय में आए बिना ही कर्म गल जाए, नष्ट हो जाए। ज्ञानसहित जब तप-साधन करे अर्थात् स्व-चतुष्टय में रत हो तब कर्म बल न पाकर अपकर्षण कर जावे, कमजोर पड़ जावे, निष्प्रभावी हो जावे, संक्रमण कर जावे। इसप्रकार आश्रव का होना रुक जावे अर्थात् संवर हो जाये। वे ही कर्म की रेखा मिटा पाते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि जो ध्यान की तलवार से मोहरूपी शत्रु का नाश करते हैं वे ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी के सुन्दर मुखड़े को निहारते हैं।

(१५१)

सोई ज्ञान सुधारस पीवै॥ टेक॥
जीवन दशा मृतक करि जानै, मृतक दशामें जीवै॥ सोई.॥

सैनदशा जाग्रत करि जानै, जागत नाहीं सोवै।
मीतौंको दुशमन करि जानै, रिपुको प्रीतम जोवै॥ सोई.॥ १॥

भोजनमाहिं वरत करि बूझै, व्रतमें होत अहारी।
कपड़े पहिरैं नगन कहावै, नागा अंबरधारी॥ सोई.॥ २॥

बस्तीको ऊजर कर देखै, ऊजर बस्ती सारी।
'द्यानत' उलट चालमें सुलटा, चेतनजोति निहारी॥ सोई.॥ ३॥

वह भव्य ही ज्ञानरूपी अमृत के रस का पान करता है, पीता है जो जीवन को और मृत्यु को जानकर, संसार के प्रति तटस्थ होकर मृत्युदशा में जीता है अर्थात् जो सदैव मृत्यु के प्रति सावधान रहता है।

सोता हुआ भी जो अपने लक्ष्य के प्रति जागता हुआ रहता है तथा जाग्रत अवस्था में कभी बेसुध-अचेत नहीं होता तथा मित्रों को आसक्ति के कारण शत्रु समान समझता है तथा जो विमुख है उनके प्रति प्रीति जताता है।

भोजन के समय व्रतों की बात करता है, समझता है और व्रत में कोई आहार ग्रहण नहीं करता। वस्त्र धारण करके जो वैराग्य की भावना करता है और वस्त्र छोड़कर आकाश का वस्त्र धारण करता है।

सारी बसी हुई बस्ती को एकान्त रूप/उजाड़ रूप में देखता है और उजाड़ में अपनी बस्ती बसाता है अर्थात् रहता है। द्यानतराय कहते हैं कि इस प्रकार संसार के प्रति उल्टी चाल में वह सुलटी हुई दशा देखता है और अपने चैतन्य स्वरूप को सदैव निहारता रहता है, उसके ध्यान में लगा रहता है वह भव्य ही ज्ञानरूपी अमृत के रस का पान करता है।

(१५२)

राग काफी धमाल

सो ज्ञाता मेरे मन माना, जिन निज-निज, पर-पर जाना॥ टेक॥

छहौं दरबतैं भिन्न जानकै, नव तत्वनितैं आना।
ताकौं देखै ताकौं जाने, ताहीके रसमें साना॥ १॥

कर्म शुभाशुभ जो आवत हैं, सो तो पर पहिचाना।
तीन भवन को राज न चाहै, यद्यपि गांठ दरब बहु ना॥ २॥

अखय अनन्ती सम्पति विलसै, भव-तन-भोग-मगन ना।
'द्यानत' ता ऊपर बलिहारी, सोई 'जीवन मुकत' भना॥ ३॥

हे आत्मन्! वह ही ज्ञाता है, वह हीं मेरे मन को मान्य है, जो निज को निज और पर को पर जानता है।

वह आत्मा को छहों द्रव्यों में सबसे भिन्न जानता है। नौ तत्वों से अन्य है ऐसा जानता है। उसको देखकर जो उसे (निज को) जानता है, उसी की अनुभूति में, रस में डूब जाता है, वह ही आत्म-स्वभाव को ध्याता है। निमग्न हो जाता है।

शुभ और अशुभ जो कर्म आते हैं, वे सब पर हैं, ऐसा वह जानता है। उसको तीन लोक की, राज्य की वांछा नहीं है। यद्यपि वह द्रव्य रूप में स्वयं अकेला है, सर्व परिग्रह से रहित है।

वह अपने में निमग्न होकर अपने स्वभाव की अनंत-अक्षय (क्षयरहित) संपदा का निश्चय से भोक्ता है, परन्तु इस देह-पर्याय के भोगने में विरक्त है, उसमें मग्न नहीं है।

द्यानतराय कहते हैं कि जन्म-मरण से मुक्त ऐसा जो ज्ञाता है वह इस जीवन में ही 'मुक्त' कहा जाता है, उस पर मैं बलिहारी जाता हूँ।

राग आसावरी

श्रीजिनधर्म सदा जयवन्त॥ टेक॥
तीन लोक तिहुँ कालनिमाहीं, जाको नाहीं आदि न अन्त॥ श्री.॥

सुगुन छियालिस दोष निवारैं, तारन तरन देव अरहंत।
गुरु निरग्रंथ धरम करुनामय, उपजैं त्रेसठ पुरुष महंत॥ श्री.॥ १॥

रतनत्रय दशलच्छन सोलह,-कारन साध सरावक सन्त।
छहौं दरब नव तत्त्व सरधकै, सुरग मुकति के सुख विलसन्त॥ श्री.॥ २॥

नरक निगोद भम्यो बहु प्रानी, जान्यो नाहिं धरम-विरतंत।
'द्यानत' भेदज्ञान सरधातैं, पायो दरब अनादि अनन्त॥ श्री.॥ ३॥

श्री जिनधर्म की सदा जय हो। तीन लोक व तीनों काल में जिसका न कोई आदि है और न कहीं अन्त है, वह शाश्वत है।

उस जिनधर्म में छियालीस गुणसहित, अठारह दोष रहित श्री अरहंत देव स्वयं तिर गए व दूसरों को तारनेवाले हैं। समस्त परिग्रहों को छोड़नेवाले, करुणामयी गुरु होते हैं तथा महान तिरेसठ शलाका पुरुष होते हैं।

उस जिनधर्म में सन्त व श्रावक सभी दशलक्षण धर्म, सोलह कारण-भावनाओं और रत्नत्रय की साधना करते हुए छहों द्रव्य व नव तत्वों की वस्तुस्थिति अर्थात् स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान व अवलोकन करते हुए स्वर्ग व मुक्ति के सुख को भोगते हैं/प्राप्त करते हैं।

धर्म का वृत्तान्त/स्वरूप न जानकर नरक-निगोद में बहुत से प्राणी बहुत भ्रमण कर रहे हैं। द्यानतराय कहते हैं कि भेदज्ञान व श्रद्धान से द्रव्य का अनादि व अनन्त स्वरूप जाना जाता है।

(१५४)

शुद्ध स्वरूपको वंदना हमारी ॥ टेक ॥

एक रूप वसुरूप विराजै, सुगुन अनन्त रूप अविकारी ॥ शुद्ध. ॥ १ ॥

अमल अचल अविकलप अजलपी, परमानंद चेतनाधारी ॥ शुद्ध. ॥ २ ॥

'द्यानत' द्वैतभाव तज हूजै, भाव अद्वैत सदा सुखकारी ॥ शुद्ध. ॥ ३ ॥

हम आत्मा के शुद्ध स्वरूप की वंदना करते हैं। वह सदा एकरूप है। शिवरूप में, अपने शुद्धरूप में विराजित है, अनन्त गुणसहित व दोषरहित है।

वह मलरहित-निर्मल, स्थिर, विकल्परहित, अवर्णनीय, परम आनन्द का धारी है, चैतन्य है।

द्यानतराय कहते हैं कि द्वैतभाव को छोड़कर मात्र अपने स्वभाव में, अद्वैत में ठहरना सुखकारी है अर्थात् अपने आत्मा में ही ध्यानमग्न होना, स्थिर होना सुखकारी है।

वसुरूप - शुद्ध रूप

(१५५)

राग सारंग

हम लागे आतमरामसों॥ टेक॥

विनाशीक पुदगलकी छाया, कौन रमै धनमानसों॥ हम.॥

समता सुख घटमें परगास्यो, कौन काज है कामसों।
दुविधा-भाव जलांजुलि दीनौं, मेल भयो निज स्वामसों॥ हम.॥ १॥

भेदज्ञान करि निज परि देख्यौ, कौन विलोकै चामसौं॥
उरै परैकी बात न भावै, लौ लाई गुणग्रामसौं॥ हम.॥ २॥

विकलप भाव रंक सब भाजे, झरि चेतन अभिरामसों।
'द्यानत' आतम अनुभव करिकैं, छूटे भव दुखधामसों॥ हम.॥ ३॥

अब हमारी अपनी आत्मा से लगन लग रही है। जगत में जो कुछ दृश्य है वह सब पुद्गल द्रव्य है और वह सब विनाशी स्वभाववाला, विनाश होनेवाला है, हम सर्वगुणसम्पन्न हैं, धनी हैं, तब क्योंकर पर्यायों में, नष्ट होनेवाले पुद्गल की छाया में, रमण करें?

हमारे अपने अन्तर में सुख है, यह तथ्य, यह सत्य प्रगट है। फिर काम से, तृष्णा से हमें क्या प्रयोजन है? जब से हमारा मिलन अपनी आत्मा से हुआ है, तब से संशय और दुविधा की स्थिति से छुटकारा हो गया है।

स्व और पर के भेदज्ञान से सबकुछ स्पष्ट हो गया है, फिर इस देह को, चाम को क्या महत्व दें? इस भेद-ज्ञान के कारण इधर-उधर की कोई बात हमें रुचिकर नहीं लगती, क्योंकि हमारी रुचि तो अपने ही गुणों में है; उनकी अनुरक्ति ही भली लगती है।

सारे विकल्प थोथे प्रतीत होते हैं, ये सब चेतन की मनोहारी झड़ी में धुल जाते हैं, हट जाते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जब आत्मा की अनुभूति होती है तो भव-भव के सारे दुःख छूट जाते हैं, उसके आनन्द में विस्मृत होकर मिट जाते हैं।

(१५६)

राग आसावरी

हमको कैसैं शिवसुख होई ॥ टेक ॥
जे जे मुकत जानके कारण, तिनमेंको नहि कोई ॥ हमको. ॥

मुनिवरको हम दान न दीना, नहिं पूज्यो जिनराई।
पंच परम पद वन्दे नाहीं, तपविधि वन नहिं आई ॥ हमको. ॥ १ ॥

आरत रुद्र कुध्यान न त्यागे, धरम शुकल नहिं ध्याई।
आसन मार करी आसा दिढ़, ऐसे काम कमाई ॥ हमको. ॥ २ ॥

विषय-कषाय [illegible] न हूवा, इनको दंडु न कीना।
मन वच काय जोग थिर करकैं, आतमतत्त्व न चीना ॥ हमको. ॥ ३ ॥

मुनि श्रावकको धरम न धार्यो, समता मन नहिं आनी।
शुभ करनी करि फल अभिलाष्यो, ममता-बुध अधिकानी ॥ हमको. ॥ ४ ॥

रामा रामा धन धन कारन, पाप अनेक उपायो।
तब हू तिसना भई न पूरन, जिनवानी यों गायो ॥ हमको. ॥ ५ ॥

राग दोष परनाम न जीते, करुना मन नहिं आई।
झूठ अदत्त कुशील गह्यो दिढ़, परिगृहसों लौ लाई ॥ हमको. ॥ ६ ॥

सातौं विसन गहे मद धार्यो, सुपरभेद नहिं पाई।
'द्यानत' जिनमारग जाने बिन, काल अनन्त गमाई ॥ हमको. ॥ ७ ॥

हे आत्मन्! हमको मोक्षसुख की प्राप्ति कैसे हो? क्योंकि जो-जो भी मुक्ति के कारण कहे जाते हैं उनमें से तो एक भी हममें नहीं है।

हमने कभी मुनियों को दान नहीं दिया अर्थात् आहारदान नहीं दिया। न श्री जिनराज की पूजा की। पंचपरमेष्ठियों की कभी वन्दना नहीं की और न कोई तप-साधना ही हमसे बन पड़ी।

आर्त-रौद्र कुध्यान हैं, इनको भी हमने कभी नहीं छोड़ा। हमने कभी धर्म व शुक्ल ध्यान नहीं साधा। आसन लगा कर अर्थात् हमने अपने सब प्रकार के प्रदर्शों-क्रियाओं से अपनी आशाओं को ही दृढ़ किया, निदान व तृष्णा में ही लगे रहे-कुशील में लगे रहे।

इन्द्रिय विषय और कषाय का विनाश नहीं किया और मन को स्थिर नहीं किया, वह चंचल ही बना रहा। मन-वचन और काय को स्थिर न कर कभी अपनी आत्मा की ओर नहीं देखा अर्थात् आत्म तत्त्व को नहीं जाना।

न मुनि धर्म साधा और न श्रावक धर्म का पालन किया। मन में समता नहीं रही, राग-द्वेष में ही रत रहा। पुण्य कार्य के परिणाम की अभिलाषा-इच्छा ही करता रहा और रागभाव में ही डूबा रहा।

स्त्री व धन के कारण अनेक पाप कर्म किए। फिर भी तृष्णा शान्त नहीं हुई, तृप्त नहीं हुई। राग-द्वेष और उसके फल, इन पर विजय प्राप्त नहीं की और न कभी करुणा मन में आई। झूठ, चोरी, कुशील की क्रियाओं में ही लगा रहा और परिग्रह जुटाता रहा, उसी में लगा रहा।

सप्त व्यसनों में मैं लिप्त रहा; उसी के नशे में मैं डूबा रहा, स्व-पर का भेद नहीं जाना। द्यानतराय कहते हैं कि जिन-मार्ग को, धर्म को जाने बिना अनन्त काल बिता दिए, गँवा दिए, ऐसे में शिवसुख कैसे हो?

(१५७)

राग मल्हार

हम तो कबहुँ न निज घर आये॥ टेक॥
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये॥ हम तो.॥

परपद निजपद मानि मगन है, पर परनति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकंद मनोहर, आतम गुण नहिं गाये॥ हम तो.॥ १॥

नर पशु देव नरक निज मान्यो, परजयबुद्ध कहाये।
अमल अखंड अतुल अविनाशी, चेतन भाव न भाये॥ हम तो.॥ २॥

हित अनहित कछु समझ्यो नाहीं, मृगजलबुध ज्यों धाये।
'द्यानत' अब निज-निज, पर-पर है, सदगुरु वैन सुनाये॥ हम तो.॥ ३॥

हे आत्मन्! हम कभी भी अपने घर वापस नहीं आए अर्थात् हमने कभी भी अपनी आत्मा का चिन्तवन नहीं किया। स्वस्थान को छोड़कर अन्यत्र अर्थात् पर में ही हम भटकते रहे और अनेक बार अनेक नाम धारण किए अर्थात् बहुत बार अनेक भिन्न-भिन्न पर्यायों में अनेक नामों से जाने जाते रहे।

पर पद को ही हमने अपना पद-स्थान मानकर उसमें ही मगन हो गए, अपनी आत्मा के गुणों को नहीं पहचाना, चिन्तवन नहीं किया और पर-परिणति में उलझते रहे, उनसे लिपटे रहे। यह आत्मा मूल में तो शुद्ध है, ज्ञानवान है, सुख का पुंज है, सुन्दर है। उस आत्मा का चिन्तवन नहीं किया।

चारों गतियों में भ्रमण करते हुए देह को ही अपना माना और पर्यायों में ही बुद्धि खपाते रहे, लगाए रहे। यह आत्मा निर्मल, अखंड व अविनाशी है। इस प्रकार चैतन्य के गुणों की भावना ही नहीं आयी।

अपना हित-अहित क्या है, उसे जाना ही नहीं और न समझा। जैसे रेगिस्तान में हरिण मरीचिका के कारण मिट्टी के चमकते कणों को पानी समझकर दौड़ता है, वैसे ही हम भी सुख की खोज में भौतिक वस्तुओं की ओर भागते रहे। द्यानतराय कहते हैं कि सत्गुरु ने अब यह बोधि दी है कि यह आत्मा ही मात्र अपना है और इससे भिन्न सब पर ही पर है।

(१५८)

हो स्वामी! जगत जलधितैं तारो॥ टेक॥

मोह मच्छ अरु काम कच्छतैं, लोभ लहरतैं उबारो॥ हो.॥ १॥

खेद खारजल दुख दावानल, भरम भँवर भय टारो॥ हो.॥ २॥

'द्यानत' बार-बार यौं भाषै, तू ही तारनहारो॥ हो.॥ ३॥

हे स्वामी! मुझे इस भव-समुद्र से तारिए, पार लगाइए।

इस संसार-सागर में मोहरूपी मच्छ, कामरूपी कछुवा और लोभ की ऊँची लहरें हैं, मुझे इनसे बाहर निकालो अर्थात् तृष्णा और लोभ की ऊँची लहरों में जहाँ मोहरूपी मच्छ व कामरूपी कच्छ निवास करते हैं, पलते हैं, विचरण करते हैं, उससे मुझको अलग कीजिए, बाहर निकालिए।

इस भव-समुद्र में खेदरूपी खारा जल है। दुःख का दावानल धधक रहा है, उसमें भ्रम का भँवर पड़ा हुआ है, उसके भय से मुझे मुक्त करो, दूर करो।

द्यानतराय बार-बार यह ही कहते हैं कि हे प्रभु! तू ही मेरा तारनहार है, मुझे भव-समुद्र से पार उतारने हेतु सहारा है, आलंबन है।

हो भैया मोरे! कहु कैसे सुख होय॥ टेक॥
लीन कषाय अधीन विषयके, धरम करै नहिं कोय॥ हो भैया.॥

पाप उदय लखि रोवत भोंदू!, पाप तजै नहिं सोय।
स्वान-बान ज्यों पाहन सूँघै, सिंह हनै रिपु जोय॥ हो भैया.॥ १॥

धरम करत सुख दुख अघसेती, जानत हैं सब लोय।
कर दीपक लै कूप परत है, दुख पैहै भव दोय॥ हो भैया.॥ २॥

कुगुरु कुदेव कुधर्म भुलायो, देव धरम गुरु खोय।
उलट चाल तजि अब सुलटै जो, 'द्यानत' तिरै जग-तोय॥ हो भैया.॥ ३॥

ओ मेरे भाई! बता, सुख किस प्रकार हो! कषायों से ग्रस्त व इन्द्रिय-विषयों में आसक्त जीव कोई धर्म-साधन नहीं करता तब उसे सुख किस प्रकार हो सकता है?

अरे भोंदू (नासमझ)! जब पापोदय होता है, तब तू रोता है, परन्तु पाप की गैल को, पाप को छोड़ता नहीं है। तेरी आदत तो उस कुत्ते की भाँति हैं जो पहले शत्रु के पाँव को सूँघता रहता है, जबकि सिंह की आदत तो शत्रु को देखते ही उसे नष्ट करने की होती है।

धर्म-साधन से सुख होते हैं और पाप से दुःख होता है, यह सब लोग जानते हैं, सर्वविदित है यह। अरे हाथ में दीपक लेकर भी यदि कोई कुएँ में गिरे तो वह इस भव व परभव दोनों में दुःख का भागी होता है।

सच्चे देव, शास्त्र व गुरु का साथ छोड़कर कुगुरु, कुदेव, कुधर्म में तू अपने आपको भुला रहा है। द्यानतराय कहते हैं कि इस उल्टी चाल को छोड़कर अब यदि तू सीधी चाल चले, सम्यक् राह पर चले तो तू इस जग से पार हो सकेगा, तिर जावेगा।

(१६०)

राग ख्याल

वे कोई निपट अनारी, देख्या आतमराम॥ टेक॥

जिनसों मिलना फेरि बिछुरना, तिनसों कैसी यारी॥
जिन कामोंमें दुख पावै है, तिनसों प्रीति करारी॥ वे.॥ १॥

बाहिर चतुर मूढ़ता घरमें, लाज सबै परिहारी।
ठगसों नेह बैर साधुनिसों, ये बातैं विसतारी॥ वे.॥ २॥

सिंह डाढ़ भीतर सुख मानै, अक्कल सबै बिसारी।
जा तरु आग लगी चारौं दिश, बैठि रह्यो तिहँ डारी॥ वे.॥ ३॥

हाड़ मांस लोहूकी थैली, तामें चेतनधारी।
'द्यानत' तीनलोकको ठाकुर, क्यों हो रह्यो भिखारी॥ वे.॥ ४॥

हे प्राणी! देख, कैसे-कैसे अज्ञानी, बिल्कुल अनाड़ी जीव हैं! जिनमें सदा मिलना और बिछुड़ना ही होता रहता है, ऐसे पुद्गल से प्रीति, प्रेम, मित्रता कैसे होगी! अरे, फिर भी जिन कार्यों से स्पष्टत: दु:ख मिलता है, उनसे यह प्रीति करता है।

बाहर दुनियादारी के काम में चतुराई दिखाता है और अपने ही घर में यह अनजान - अज्ञानी हो रहा है अर्थात् पुद्गल के साथ चतुराई की बातें करता है, पर अपने ही आत्मवैभव के बारे में सर्वथा अज्ञानी है, अनजाना हो रहा है।

जो बाह्य आकर्षण उसे ठग रहे हैं, भुलावा भ्रम दे रहे हैं उनसे वह प्रेम करता है और जो साधुवृत्ति उसके लिए कल्याणकारी है, उसे वह शत्रुवत समझता है। ये सारी बातें फैला रखी हैं।

संसारी सुखरूपी सिंह की दाढ़ में बैठकर वह निश्चिंत होकर अपने को सुखी मान रहा है, कैसी मूर्खता की बात है! अरे वहाँ एक पल की भी सुरक्षा

नहीं है। जिस पेड़ के चारों ओर आग लगी है वह उसी पेड़ की डाल पर बैठा हुआ है। कैसा अनाड़ी है वह!

यह देह रक्त, हाड़, मांस की थैली है, इसी में यह आत्मा ठहरा हुआ है। द्यानतराय कहते हैं कि अरे तू तो तीन लोक का स्वामी है, ज्ञाता है। तू क्यों अज्ञानी होकर भिखारी हो रहा है, क्यों तू दूसरे पर आश्रित हो रहा है?

(१६१)

ज्ञाता सोई सच्चा वे, जिन आतम अच्चा॥ टेक॥

ज्ञान ध्यान में सावधान है, विषय भोगमें कच्चा वे॥ ज्ञाता.॥ १॥

मिथ्या कथन सुननिको बहिरा, जैन वैनमें मच्चा वे॥ ज्ञाता.॥ २॥

मूढ़निसेती मुख नहिं बोलै, प्रभुके आगे नच्चा वे॥ ज्ञाता.॥ ३॥

'द्यानत' धरमीको यों चाहै, गाय चहै ज्यों बच्चा वे॥ ज्ञाता.॥ ४॥

वह ही सच्चा ज्ञाता सुशोभित होता जिसने अपनी आत्मा को, स्व की पूजा की है, उसका सम्मान किया है, उसको जाना है।

वह ज्ञान व ध्यान में पूरा सचेत है, सावधान है। किन्तु विषय-भोग आदि में कच्चा है अर्थात् उनके प्रति विरक्त- उदासीन है।

वह मिथ्या कथन सुनने के लिए बहरे के समान है अर्थात् सुनकर भी नहीं सुनता है। परन्तु जिनवाणी सुनने में वह अत्यन्त उत्सुक व तत्पर है।

मूर्खों के आगे वह कुछ भी नहीं बोलता, मौन रहता है। परन्तु प्रभु के सम्मुख वह नृत्य करता है, नाचता है।

द्यानतराय कहते हैं कि वह धर्मात्मा के प्रति साधर्मी भ्रातृत्व भाव, वात्सल्य भाव रखता है - प्रेम रखता है, जैसे कि गाय अपने बच्चे के प्रति वात्सल्य भाव रखती है।

अच्चा - पूजा, सम्मान।

(१६२)

राग मल्हार

ज्ञान सरोवर सोई हो भविजन॥ टेक॥

भूमि छिमा करुणा मरजादा, सम-रस जल जहँ होई॥ भविजन.॥

परनति लहर हरख जलचर बहु, नय-पंकति परकारी।

सम्यक कमल अष्टदल गुण हैं, सुमन भँवर अधिकारी॥ भविजन.॥ १॥

संजम शील आदि पल्लव हैं, कमला सुमति निवासी।

सुजस सुवास कमल परिचयतैं, परसत भ्रम तप नासी॥ भविजन.॥ २॥

भव-मल जात न्हात भविजनका, होत परम सुख साता।

'द्यानत' यह सर और न जानैं, जानैं बिरला ज्ञाता॥ भविजन.॥ ३॥

हे भव्य पुरुष! देखो ज्ञानरूपी सरोवर शोभायमान है। यह सरोवर वहीं है जहाँ क्षमारूपी भूमि (आधार) है, करुणारूपी सीमाएँ (मर्यादाएँ) हैं और उसमें चंचलतारहित समतारूपी जल विद्यमान है अर्थात् क्षमा और करुणा धारण करने पर ही समतारूप शान्त परिणाम होते हैं।

ऐसे सरोवर में शुभ परिणामों की लहरों में हर्षरूपी जलचर होते हैं और विभिन्न नयों के कमल सुशोभित हैं। उस ज्ञान-सरोवर में अनेक प्रकार के पंकज (कमल) सुशोभित हो रहे हैं। आठ पाँखुड़ी (गुणों) के सम्यक्त्वरूपी कमल प्रफुल्लित हैं, जिन पर (अच्छे मनवाले) भविकजन (भ्रमर) लुब्ध होकर अधिकारपूर्वक स्वच्छंद मँडरा रहे हैं।

ऐसे कमल दल के संयम और शीलरूप पल्लव है, पत्ते हैं। वहाँ सुमति अर्थात् विवेक-लक्ष्मी का आवास है। ऐसे कमलों की सुगंध दूर-दूर तक फैलकर सुयश बढ़ा रही है। उनका कोमल स्पर्श संशय अर्थात् भ्रमरूपी तपन को नष्ट कर रहा है।

उस सरोवर में स्नान करने से भवरूपी मल से छुटकारा होकर परमशांति की प्राप्ति होती है। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे ज्ञानरूपी सरोवर की थाह कोई बिरला ही ले पाता है, बिरला ही जान पाता है अर्थात् बिरला ही उसमें अवगाह करता है।

(१६३)

राग जैंजैवंती

ज्ञान ज्ञेयमाहिं नाहिं, ज्ञेय हू न ज्ञानमाहिं,
ज्ञान ज्ञेय आन आन, ज्यों मुकर घट है॥ टेक॥

ज्ञान रहै ज्ञानीमाहिं, ज्ञान बिना ज्ञानी नाहिं,
दोऊ एकमेक ऐसे, जैसे श्वेत पट है॥ ज्ञान.॥ १॥

ध्रुव उतपाद नास, परजाय नैन भास,
दरवित एक भेद, भावको न ठट है॥ ज्ञान.॥ २॥

'द्यानत' दरब परजाय विकलप जाय,
तब सुख पाय जब, आप आप रट है॥ ज्ञान.॥ ३॥

हे ज्ञानी। ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य वस्तुओं में स्वयं में ज्ञान नहीं होता/जाता। इस ही भाँति ज्ञान में ज्ञेय नहीं होता। ज्ञान और ज्ञेय दोनों अलग-अलग हैं। जैसे घट व दर्पण दोनों अलग-अलग हैं। जैसे दर्पण में घट का प्रतिबिम्ब झलकता है घट उस दर्पण में नहीं होता, दर्पण और घट अलग-अलग हैं, उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञेय झलकता है, ज्ञेय ज्ञान में नहीं जाता। ज्ञानी अलग है और ज्ञेय अलग है।

ज्ञान ज्ञानी में रहता है। बिना ज्ञान के ज्ञानी नहीं होता। दोनों ऐसे एकमेक हैं जैसे कोई श्वेत उज्ज्वल वस्त्र होता है, वस्त्र और उसका श्वेतपना एकमेक होता है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये पर्यायें आँखों से दिखाई देती हैं। ये द्रव्य के ही भेद हैं, भावों की रचना नहीं है।

द्यानतराय कहते हैं कि द्रव्य और उसकी पर्याय का विकल्प छूट जाए अर्थात् दोनों समग्र दीखें तब सुख का अनुभव होता है और स्व मात्र स्व रह जाता है।

(१६४)

राग आसावरी जोगिया

ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारै ॥ टेक ॥
राज सम्पदा भोग भोगवै, वंदीखाना धारै ॥ ज्ञानी. ॥

धन जोवर परिवार आपतैं, ओछी ओर निहारै।
दान शील तप भाव आपतैं, ऊंचेमाहिं चितारै ॥ ज्ञानी. ॥ १ ॥

दुख आये धीरज धर मनमें, सुख वैराग सँभारै।
आतम दोष देखि नित झूरै, गुन लखि गरब बिडारै ॥ ज्ञानी. ॥ २ ॥

आप बड़ाई परकी निन्दा, मुखतैं नाहिं उचारै।
आप दोष परगुन मुख भाषै, मनतैं शल्य निवारै ॥ ज्ञानी. ॥ ३ ॥

परमारथ विधि तीन जोगसौं, हिरदै हरष विथारै।
और काम न करै जु करै तो, जोग एक दो हारै ॥ ज्ञानी. ॥ ४ ॥

गई वस्तुको सोचै नाहीं, आगमचिन्ता जारै।
वर्तमान वर्तै विवेकसौं, ममता बुद्धि विसारै ॥ ज्ञानी. ॥ ५ ॥

बालपने विद्या अभ्यासै, जोवन तप विस्तारै।
वृद्धपने सन्यास लेयकै, आतम काज सँभारै ॥ ज्ञानी. ॥ ६ ॥

छहों दरब नव तत्त्वमाहिंतैं, चेतन सार निकारै।
'द्यानत' मगन सदा तिसमाहीं, आप तरै पर तारै ॥ ज्ञानी. ॥ ७ ॥

ज्ञानी इसप्रकार विचार कर अपने ज्ञान में विचरण करता है। वह राज, वह सम्पदा आदि के भोग भोगता है, पर इस स्थिति को वह मात्र कारागार समझता है। उसे ये धन, यौवन, परिवार – ये सब अपनी स्थिति से विपरीत नीचे की ओर दिखाई देते हैं। दान, शील, तप - इन भावों की ओर देखना, उनका चिन्तन, ऊपर की ओर दृष्टि होती है, ऊपर की ओर दिखाई देते हैं।

दु:ख की घड़ियों में वह अपने मन में धैर्य धारण करता है और सुख की घड़ियों में विरक्ति- वैराग्य भावना भाता है। अपने आत्म-स्वभाव में लगे दोषों को, विकारों को देखकर, उनसे सदैव खिन्न होकर दूर रहने का प्रयत्न करता है और आत्म-गुणों को देखकर गर्व नहीं करता। वह (ज्ञानी) अपनी प्रशंसा और अन्य की निन्दा अपने मुख से कभी नहीं करता। सदैव अपने दोषों का वर्णन और दूसरों के गुणों की प्रशंसा अपने मुख से करता है तथा अपने मन की शल्य को बाहर निकालता है।

मन, वचन, काय से परमार्थ के काम में लगकर अपने हर्ष का हृदय में विस्तार करता है। संतोषी होकर सुखी होता है। परमार्थ के अतिरिक्त कोई काम नहीं करता। यदि करता भी है तो तुरन्त ही, थोड़ी देर बाद ही, उससे मुँह मोड़ लेता है, छोड़ देता है।

जो वस्तु चली गई, उसका विचार नहीं करता और वह आगे मिलेगी या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं करता। वर्तमान में अपने विवेक से आचरण करता है। ममता-आसक्ति को छोड़ता है।

बचपन विद्याभ्यास में बिताता है। यौवन में शक्ति रहती है तभी तप करता है और बुढ़ापे में संन्यास लेकर अपनी आत्मसाधना करता है।

द्यानतराय कहते हैं कि सदैव छह द्रव्य, नौ तत्त्व का चिन्तन करता हुआ अपनी आत्मस्थिति को पहचानता व सँभालता हुआ - उसी में मगन होकर, आप स्वयं भी इस जगत से पार होता है और औरों को भी पार कराता है।

(१६५)

राग आसावरी

ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारै ॥ टेक ॥

नारि नपुंसक नर पद काया, आप अकाय निहारै ॥ ज्ञानी. ॥

बामन वैश्य शूद्र औ क्षत्री, चारों भग लिँग लागे।
भग वी जासी भोग वि जासी, हम अविनाशी जागे ॥ ज्ञानी. ॥ १ ॥

पंडित मूरख पोथिनिमाहीं, पोथी नैनन सूझै।
नैन जोति रवि चन्द उदयतैं, तेऊ अस्तत बूझै ॥ ज्ञानी. ॥ २ ॥

कायर सूर लड़नमें गिनिये, लड़त जीव दुख पावै।
सब हममें हम हैं सबमाहीं, मेरे कौन सतावै ॥ ज्ञानी. ॥ ३ ॥

कौन बजावे अरु को गावै, नाचै कौन नचावै।
सुपने सा जग ख्याल मँडा है, ऐसें मन यों आवै ॥ ज्ञानी. ॥ ४ ॥

एक कमाऊ एक निखट्टू, दोनों दरब पसारा।
आवै सुख जावै दुख पावै, मैं सुख दुखसों न्यारा ॥ ज्ञानी. ॥ ५ ॥

एक कुटुम्बी एक फकीरा, दोनों घर वन चाहैं।
घर भी काको वन भी काको, ममता-दाहनि-दाहैं ॥ ज्ञानी. ॥ ६ ॥

सोवत जागत व्रत अरु खातैं, गर्व निगर्व निहारै।
'द्यानत' ब्रह्म मगन निशि वासर, करम-उपाधि बिडारै ॥ ज्ञानी. ॥ ७ ॥

ज्ञानी अपने ज्ञान में विचरण करता हुआ इस प्रकार विचार करता है कि तूने स्त्री, नपुंसक, पुरुष लिंग में काया को पाया है, पर तेरी आत्मा तो अशरीरी है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन योनियों से अपनी पहचान बनाता है। पर ये योनियाँ, ये धन, ये भोग सब अस्थिर हैं। आत्मा कभी विनाश को प्राप्त होनेवाली नहीं है, वह तो अविनाशी है।

मूर्ख पण्डित होकर, पुस्तक-ग्रन्थ-शास्त्र में देखकर, उसी में समाधान ढूँढ़ता रहता है, देखता रहता है। आँखों से देखकर भी कब सूरज उदित होता है, कब छुपता है यह पूछता रहता है।

लड़ाई के क्षेत्र में अपने को कायर या शूर समझता है और अपनी लड़ाई लड़ने में जीव को कष्ट होता है। अरे! सब मुझमें हैं और हम सबमें व्याप्त हैं, मुझे कौन सताएगा?

कौन बजाता है, कौन गाता है, कौन नचाता है? सब अपनी ही करनी के फल हैं। यह संसार सपने के खयालों के समान है, ऐसा मन में विचार करता है।

संसार में कोई एक धन अर्जन करनेवाला है, तो दूसरा निकम्मा मारा-मारा फिरनेवाला है। दोनों ही द्रव्य का विस्तार हैं। सुख-दुःख तो आते-जाते हैं। मैं इन सुख व दुःख दोनों से न्यारा हूँ - ज्ञानी इस प्रकार विचार करता है।

कोई एक कुटुम्ब साथ लिए है तो दूसरा फकीर है। एक घर तो दूसरा वन चाहता है। अरे घर भी किसका है और वन भी किसका है? ये तो राग की आग है जो जला रही है।

सोते, जागते, व्रत करते या खाना खाते जो मान-अपमान दोनों को देखता है, और इन सबमें जागृत रहता है, द्यानतराय कहते हैं कि वह रात-दिन अपनी आत्मा में मगन रहकर कर्मों के आचरण से युक्त होता है।

भग = योनि, ऐश्वर्य, धन।

(१६६)

अरहंत सुमर मन बावरे! ॥ टेक ॥

ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लाव रे॥ अरहंत.॥

नरभव पाय अकारथ खोवै, विषय भोग जु बढ़ाव रे।
प्राण गये पछितैहै मनवा, छिन छिन छीजै आव रे॥ अरहंत॥ १॥

जुवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चाव रे।
यह संसार सुपनकी माया, आंख मीचि दिखराव रे॥ अरहंत॥ २॥

ध्याव ध्याव रे अब है दावरे, नाहीं मंगल गाव रे।
'द्यानत' बहुत कहां लौं कहिये, फेर न कछू उपाव रे॥ अरहंत.॥ ३॥

ऐ मेरे बावरे मन! अरे मेरे नादान मन! तू अरहंत के गुणों का स्मरण कर। लाभ और सम्मान की भावना छोड़कर अरे भाई तू अपने अन्तर को/मन को प्रभु से जोड़ ले, अन्तर में प्रभु की लगन लगा ले, प्रभु की दीप्त लौ से अपने को जोड़ ले, एक कर ले अर्थात् उस स्वरूप में रुचिपूर्वक लीन हो जा।

तू यह मनुष्य जन्म पाकर भी इसे निरर्थक ही खोये जा रहा है, तू विषय-भोग में अपने आपको लगाए हुए है, उनमें ही वृद्धिंगत है। अपने को उस ओर ही बढ़ाये जा रहा है। आयु का एक-एक क्षण व्यतीत होता जा रहा है अर्थात् मृत्यु समीप आती जा रही है, तब प्राणान्त के समय फिर पछताना होगा।

स्त्री, शरीर, धन, पुत्र, मित्र, परिवारजन, हाथी, घोड़े, रथ इन सबके प्रति तेरी रुचि है। यह संसार तो स्वप्नवत् है, अस्थिर है। आँख मींचने पर जिस प्रकार दिखाई देता है, वैसे ही यह काल्पनिक, आधारशून्य दिखाई देता है।

अरे–अब तू इनको ध्या ले। अभी अवसर है, ऐसा मंगल अवसर फिर प्राप्त नहीं होगा। द्यानतराय कहते हैं कि अधिक क्या कहा जाए! अरे फिर कोई उपाय शेष नहीं बचेगा।

आव = आयु।

(१६७)

इक अरज सुनो साहिब मेरी॥ टेक॥

चेतन एक बहुत जड़ घेर्‌यो, दई आपदा बहुतेरी॥ इक.॥ १॥

हम तुम एक दोय इन कीने, बिन कारन बेरी गेरी॥ इक.॥ २॥

'द्यानत' तुम तिहुँ जगके राजा, करो जु कछू खातिर मेरी॥ इक.॥ ३॥

हे स्वामी! मेरी एक अर्ज, एक विनती सुनो।

यह चेतन तो अकेला है और अनन्त पुद्‌गल परमाणुओं ने कर्मरूप होकर इसे चारों तरफ से घेर रखा है और अनेक प्रकार के कष्ट दिए हैं।

इन्होंने आपमें और मुझमें भेद कर रखा है अर्थात् मैं और आप स्वरूपत: एक-समान हैं पर इन जड़ कर्मों ने ही आपमें और मुझमें भेद कर रखा है और बिना किसी कारण के ये बेड़ियाँ डाल रखी हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि प्रभु! आप तीन लोक के स्वामी हैं। आप मुझ पर करुणा कर मेरे उद्धार के लिए भी कुछ कीजिए।

(१६८)

ए मान ये मन कीजिये भज प्रभु तज सब बात हो॥ टेक॥

मुख दरसत सुख बरसत प्रानी, विघन विमुख ह्वै जात हो॥ ए मन.॥ १॥

सार निहार यही शुभ गतिमें, छह मत मानै ख्यात हो॥ ए मन.॥ २॥

'द्यानत' जानत स्वामि नाम धन, जस गावैं उठि प्रात हो॥ ए मन.॥ ३॥

ऐ मेरे मन। तू मेरी बात मान लें और सब कुछ छोड़कर मात्र प्रभु का भजन कर।

प्रभु के दर्शन से सुख की अनुभूति होती है, उनके दर्शन से विघ्न विमुख, दूर हो जाते हैं।

इस मनुष्य गति में यह ही साररूप है यही शुभ है। छहों दर्शनों में, मतों में यह ही बात बताई गई है, कही गई है।

द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे प्रभु का नाम ही धन है/धन्य है। इसलिए प्रतिदिन उठकर उसका गुण-वंदन कर, स्मरण कर।

करुनाकर देवा ॥ टेक ॥

एक जनम दुख कहि न सकत मुख, तुम सब जानत भेवा॥ करुना.॥ १॥

हूं तो अधम तुम अधम-उधारन, दोउ वानिक नव एवा॥ करुना.॥ २॥

'द्यानत' भाग बड़े तैं पाये, भूलौंगा नहिं सेवा॥ करुना.॥ ३॥

हे देव! मुझ पर करुणा करो - दया करो।

मैं अनन्त जन्मों से दु:खी हूँ पर एक जन्म के दु:खों को भी आपसे कहने में समर्थ नहीं हूँ, आप सब रहस्य की बात जानते हैं।

मैं तो अधम हूँ, पापी हूँ और आप पापियों का उद्धार करनेवाले हो। दोनों ही अपना नफा-नुकसान देखनेवाले बनिए हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि बड़े भाग्य से मुझको आप मिले हैं, मैं आपकी सेवा करना नहीं भूलूँगा।

भेवा = रहस्य की बात; एवा - ही व भी।

(१७०)

किसकी भगति किये हित होहि, झूठ बात ना भावै मोहि॥ टेक॥

राम भजो दूजो जग नाहिं, आयो जोनीसंकटमाहिं॥ किसकी.॥ १॥

कृष्ण भजो किन तीनों काल, निरदै ह्वै मार्‌यो शिशुपाल॥ किसकी.॥ २॥

ब्रह्मा भजो सर्वजग-व्याप, खोई सृष्टि सह्यो दुख आप॥ किसकी.॥ ३॥

रुद्र भजो सबतैं सिरदार, सब जीवनिको मारनहार॥ किसकी.॥ ४॥

एक रूपको कीजे ध्यान, चिन्ता करै उसे हैरान॥ किसकी.॥ ५॥

भजो गनेश सदा रे! भाय, सो गजमुख परगट पशुकाय॥ किसकी.॥ ६॥

इन्द्र भजो निवसै सुरलोय, सो भी मरै अमर नहिं होय॥ किसकी.॥ ७॥

देवी भजो भजैं सब लोग, बकरे मारैं महा अजोग॥ किसकी.॥ ८॥

भजो शीतला थिर मन लाय, देखो! डाँयनि लड़के खाय॥ किसकी.॥ ९॥

किनहिं न जान्यो अपरंपार, झूठे सरब भगत संसार॥ किसकी.॥ १०॥

'द्यानत' नाम भजो सुखमूल, सो प्रभु कहां किधौं नभ-फूल॥ किसकी.॥ ११॥

अरे मन! किसकी भक्ति करें कि जिससे हित होवे? झूठी बात मुझे अच्छी नहीं लगती।

कहते हैं कि राम के अलावा इस दुनिया में दूसरा कोई भजनीय नहीं है, पर उन्होंने तो स्वयं ने ही इस भव में संकट सहे हैं। भव-भ्रमण के संकट सहे हैं!

कहते हैं कृष्ण को तीनों काल भजो, पर उनने भी निर्दयता से, दयाहीन होकर शिशुपाल का वध किया था।

यदि ब्रह्मा को भजते हैं जो सब जगह व्याप्त बताया जाता है, तो संसार को खोकर वह आप स्वयं दु:खी हो रहा है।

शिव को भजते हैं, जो सब में सर्वोपरि माना जाता है तो वह सब जीवों का सृष्टि का/संहार करनेवाला है।

किस एक रूप का ध्यान करें, यह ही दुविधा-चिन्ता हैरान करती है।

गणेश को भजें तो वह हाथी का मुख लगाकर पशु काय में प्रगट है।

इन्द्र को भजते हैं जो सुरलोक में निवास करता है तो वह भी मृत्यु को प्राप्त होता है, वह भी अमर नहीं है।

देवी को सब लोग भजते हैं, यदि उसको भजते हैं तो उसके बकरों की बलि चढ़ती है जो कि महा अयोग्य कृत्य है।

शीतला को मन से पूजते हैं तो वह तो पुत्रों को रोगग्रस्त कर मार डालती है। इसप्रकार संसार जिनका भक्त है वह कोई भी पूर्ण/अपार/असीम नहीं पाया गया।

द्यानतराय कहते हैं कि केवल आत्मा को भजो जो कि सुख का आधार है। वह ही एक प्रभु है, बाकी सब आकाश-पुष्प की भाँति ही हैं।

कोढ़ी पुरुष कनक तन कीनो, अंधन आंखि दई सुखदाई॥ टेक॥

बहिरे शब्द वैन गूंगेको, लूले हाथ पांगुले पाई॥ कोढ़ी॥ १॥

हिये-सुन्न हू किये कवीसुर, मांस खात कीने मुनिराई॥ कोढ़ी॥ २॥

'द्यानत' दुख काहे नहिं मेटत, मोहि शरन तुम मन वच काई॥ कोढ़ी॥ ३॥

हे प्राणी! जिनेन्द्र के स्तवन से सब कष्ट मिट जाते हैं, दूर हो जाते हैं। उनके समरण से कोढ़ी पुरुष का कोढ़ मिट जाता है और देह सुवर्ण के समान निखर जाती है; उनके स्मरण से अंधे को सुख देनेवाली आँखें मिल जाती हैं।

उनके स्मरण से बहरा भी शब्द सुनने लगता है; गूँगा बोलने लगता है, लूला हाथ पा जाता है और पंगु (पांगला) को पैर प्राप्त हो जाते हैं। उनके स्मरण से, स्तवन से संवेदनहीन भी सहृदय श्रेष्ठ कवि बन जाता है और मांसाहारी भी मांस खाने का व्यसन छोड़कर, मांसाहार छोड़कर मुनि बन जाता है।

द्यानतराय कहते हैं कि मुझे मन, वचन और काय से आपकी ही शरण है। फिर मेरे दुखों को क्यों नहीं मिटाते!

काई - काय, शरीर।

चौबीसौं को वंदना हमारी ॥ टेक ॥

भवदुखनाशक, सुखपरकाशक, विघनविनाशक मंगलकारी ॥ १ ॥

तीनलोक तिहुँकालनिमाहीं, इन सम और नहीं उपगारी ॥ २ ॥

पंच कल्यानक महिमा लखकै, अद्‌भुत हरष लहैं नरनारी ॥ ३ ॥

'द्यानत' इनकी कौन चलावै, बिंब देख भये सम्यकधारी ॥ ४ ॥

हम ऋषभदेव से वर्धमान तक चौबीस तीर्थंकरों की वंदना करते हैं।

ये भव-भ्रमण के दुःख का नाश करनेवाले हैं, सुख के प्रकाशक हैं, सब विघ्न-बाधाओं को मेटनेवाले हैं, नाश करनेवाले हैं व सदा मंगल करनेवाले हैं।

तीन लोक और तीनों काल में इनके समान दूसरा कोई उपकारी नहीं है।

इनके पंचकल्याणक ध्यान के उत्कृष्ट माध्यम है, उनको देखकर, उनकी महिमा जानकर सभी नर-नारी प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि इनकी क्या बात करें! इनके प्रतिबिम्ब को देखकर ही प्राणी सम्यक्त्व को धारण कर लेते हैं।

(१७३)

जिन के भजन में मगन रहु रे! ॥ टेक ॥

जो छिन खोवै बातनिमांहिं, सो छिन भजन करौं अघ जाहिं ॥ १ ॥

भजन भला कहतैं क्या होय, जाप जपैं सुख पावै सोय ॥ २ ॥

बुद्धि न चहिये तन दुख नाहिं, द्रव्य न लागै भजनकेमाहिं ॥ ३ ॥

षट दरसनमें नाम प्रधान, 'द्यानत' जपैं बड़े धनमान ॥ ४ ॥

अरे भाई! जिनेन्द्र के भजन में मगन रहो, उनके भजन में लगे रहो।

जो एक क्षण भी बातों में गँवाता है, वह यदि उस एक क्षण में भजन करता तो पापों का नाश कर लेता।

भजन को मुँह से कहने से कोई लाभ नहीं होता। उसका निरंतर अंत:करण से जाप करते रहने से ही सुख की प्राप्ति होती है।

देह के दु:खों में बुद्धि मत लगा, भजन करने में कोई धन नहीं लगता। अर्थात् भजन करने के लिए द्रव्य नहीं जुटाना पड़ता।

छहों दर्शनों में प्रभु का नाम/प्रभु की भक्ति ही प्रमुख है। द्यानतराय कहते हैं कि जो उस नाम को जपते हैं, वे धन्य होते हैं, भाग्यशाली होते हैं।

जिन जपि जिन जपि, जिन जपि जीयरा ॥ टेक ॥

प्रीति करि आवै सुख, भीति करि जावै दुख,
नित ध्यावै सनमुख, ईति नावै नीयरा ॥ जिन. ॥ १ ॥

मंगल प्रवाह होय, विघनका दाह धोय,
जस जागै तिहुँ लोय, शांत होय हीयरा ॥ जिन. ॥ २ ॥

'द्यानत' कहां लौं कहै, इन्द्र चन्द्र सेवा बहै,
भव दुख पावकको, भक्ति नीर सीयरा ॥ जिन. ॥ ३ ॥

हे जीव ! तू जिनेन्द्र का वन्दन, स्तवन व नमन करते हुआ उनका निरंतर जाप कर।

उनकी भक्ति करने से सुख आता है, उनके स्मरण से दुःख दूर हो जाते हैं। जो अपने ध्यान में उन्हें निरन्तर सम्मुख रखता है उसके सारे भय, दुःख डरकर दूर हो जाते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, पक्षी, राज्य पर आक्रमण आदि बाधाएँ निकट नहीं आतीं।

जिनेन्द्र-स्मरण से पापनाशन की एक धारा निरंतर बहती है। विघ्न-अड़चनों की पीड़ा दाह धुल जाती है, मिट जाती है। तीन लोक में यश होता है और हृदय में, मन में शान्ति होती है।

द्यानतराय कहते हैं कि कहाँ तक कहें - जिनेन्द्र का स्मरण, उनकी भक्ति भव-भव की दुःखरूपी अग्नि को शमन करने के लिए नीर की शीतल अनुभूति के समान है। इन्द्र, चन्द्र आदि देवगण उनकी सेवा हेतु सदैव तत्पर रहते हैं।

ईति = प्राकृतिक आपदाएँ; भीति = भय; नावै = न आवे।

(१७५)

राग विलावल

जिन नाम सुमर मन! बावरे! कहा इत उत भटकै ॥ टेक ॥
विषय प्रगट विष-बेल हैं, इनमें जिन अटकै ॥ जिन नाम. ॥

दुर्लभ नरभव पायकै, नगसों मत पटकै।
फिर पीछैं पछतायगो, औसर जब सटकै ॥ जिन नाम. ॥ १ ॥

एक घरी है सफल जो, प्रभु-गुन-रस गटकै।
कोटि वरष जीयो वृथा, जो थोथा फटकै ॥ जिन नाम. ॥ २ ॥

'द्यानत' उत्तम भजन है, लीजै मन रटकै।
भव भवके पातक सबै, जै हैं तो कटकै ॥ जिन नाम. ॥ ३ ॥

अरे बावरे मन! तू श्री जिन के नाम का स्मरण कर, व्यर्थ ही तू क्यों इधर-उधर भटक रहा है? अरे जिन विषयों में तू अटक रहा है, जिनकी ओर ललचा रहा है वे तो प्रत्यक्ष में, स्पष्टता ही विष की बेल हैं।

यह मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है, जो तुझको प्राप्त हुआ है। तू इस रत्न को पर्वत से नीचे मत पटके अर्थात् व्यर्थ मत खो, वरना यह अवसर जब निकल जायेगा तब तू फिर पछताता रहेगा।

अरे वह ही एक घड़ी, एक क्षण सफल है जिस क्षण तू प्रभु नाम के रस को पीता है, प्रभु-नाम के रस का आस्वादन करता है। अन्यथा चाहे तू करोड़ों वर्षों तक बिना किसी अर्थ के जीवन जी, सब बेकार है, निष्फल है।

द्यानतराय कहते हैं कि सबसे उत्तम तो जिनेन्द्र का भजन है, जिनेन्द्र का गुण-स्तवन है, उसे मन लगाकर कंठस्थ कर लो तो भव-भवान्तर के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं, झड़ जाते हैं।

सटकै - बीत जाना।

जिनपद चाहै नाहीं कोय॥ टेक॥

तीरथंकर पुन्यपरकृति, पुन्यरासी जोय॥ जिन.॥ १॥

मुकति चाहै नाहिं लाहै, बिना चाहैं होय॥ जिन.॥ २॥

चाह दाह मिटाय 'द्यानत', आप आप समोय॥ जिन.॥ ३॥

जिनपद की प्राप्ति कौन नहीं करना चाहता? तीर्थंकर पद एक विशेष पुण्य प्रकृति के परिणाम से प्राप्त होता है और वह पुण्य प्रकृति अपार पुण्य होने पर ही उदय/प्रकट/प्रकाशित होती है।

मुक्ति चाहने से नहीं मिलती, मुक्ति तो समस्त चाह मिटने से होती है, मिलती है। किसी लाभ की आकांक्षा नहीं होने पर वह स्वत: ही होती है।

द्यानतराय कहते हैं कि चाह की दाह को मिटाकर, अपने आप में अपने आपका ही ध्यान करो, उसी में रम जावो, समा जावो।

(१७७)

जिनरायके पाय सदा शरनं ॥ टेक ॥

भव जल पतित निकारन कारन, अन्तरपापतिमिर हरनं ॥ जिन. ॥ १ ॥

परसी भूमि भई तीरथ सो, देव-मुकुट-मनि-छवि धरनं ॥ जिन. ॥ २ ॥

'द्यानत' प्रभु-पद-रज कब पावै, लागत भागत है मरनं ॥ जिन. ॥ ३ ॥

श्री जिनराज के पादपद्म की/चरण-कमल की मुझे सदा शरण है।

वे इस भवरूपी समुद्र से पापियों को बाहर निकालने व अंत:स्थल के पापरूपी अंधकार का विनाश करने के लिए कारण हैं।

जहाँ-जहाँ उनके चरणों का स्पर्श हुआ वह भूमि उनके स्पर्श से तीर्थ बन गई और वह भूमि देवों की मुकटों की मणियों की आभा से व्याप्त हो गई अर्थात् वह भूमि देवों द्वारा वंदनीय हो गई।

द्यानतराय कहते हैं कि कब प्रभु के चरणों की रज-धूलि का स्पर्श हो अर्थात् प्राप्ति हो जिससे मृत्यु का भय अविलम्ब पलायन हो जाए अर्थात् प्रभु की सन्निधि मिल जाने पर मृत्यु की शृंखला भंग हो जाती है, टूट जाती है।

जिनवरमूरत तेरी, शोभा कहिय न जाय॥ टेक॥

रोम रोम लखि हरष होत है, आनँद उर न समाय॥ जिन.॥ १॥

शांतरूप शिवराह बतावै, आसन ध्यान उपाय॥ जिन.॥ २॥

इंद फनिंद नरिंद विभौ सब, दीसत है दुखदाय॥ जिन.॥ ३॥

'द्यानत' पूजै ध्यावै गावै, मन वच काय लगाय॥ जिन.॥ ४॥

हे जिनेन्द्र। आपके बिम्ब की, मूर्ति की शोभा वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती, वह अवर्णनीय है।

आपकी प्रतिमा को देखकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो जाता है। इतना आनन्द होता है कि मन में नहीं समाता। हृदय पात्र से आनन्द छलकने लगता है।

आपका प्रशान्त रूप मोक्षमार्ग को बता रहा है और आपकी मुद्रा उसका उपाय बता रही है, और बता रही है कि ध्यान की मुद्रा यह ही है।

इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदि सभी के वैभव दुःखकारी/दुःख देनेवाले हैं यह स्पष्ट दीख रहा है।

द्यानतराय कहते हैं कि मन, वचन और काय से एकाग्र होकर इनकी पूजा करो, ध्यान करो, गुणगान करो।

(१७९)

जिन साहिब मेरे हो, निबाहिये दासको ॥ टेक ॥

मोह महातम घेर भर्यो है, कीजिये ज्ञान प्रकासको ॥ जिन. ॥ १ ॥

लोभरोगके वैद प्रभूजी, औषध द्यो गद नासको ॥ जिन. ॥ २ ॥

'द्यानत' क्रोध की आग बुझावो, बरस छिमा जलरासको ॥ जिन. ॥ ३ ॥

हे श्रीजिन। आप मेरे स्वामी हैं, आप इस दास का निर्वाह कीजिए, मुझे निबाहिए अर्थात् मुझे संसार-दुख से मुक्त कीजिए।

मोहरूपी घना अंधकार चारों ओर छाया हुआ है, भरा हुआ है, उस अंधकार को हटाने के लिए ज्ञान का प्रकाश कीजिए।

आप लोभ अर्थात् तृष्णारूपी रोग को दूर करने के लिए परम कुशल वैद्य हो। उस रोग से मुक्त करने के लिए, रोग का नाश करने के लिए आप कुछ औषध दीजिए।

द्यानतराय कहते हैं कि क्रोध की अग्नि धू-धू करके जल रही है, लपटें उगल रही हैं। उस क्रोध को शान्त/शमन करने के लिए उस पर क्षमारूप जल की वर्षा कीजिए अर्थात् मैं उत्तम क्षमा का धारक बन जाऊँ ऐसी शक्ति दीजिए।

गद = रोग।

जिनके हिरदै प्रभुनाम नहीं तिन, नर अवतार लिया न लिया॥ टेक॥
दान बिना घर-वास वासकै, लोभ-मलीन धिया न धिया॥ जिनके.॥

मदिरापान कियो घट अन्तर, जल मल सोधि पिया न पिया।
आन प्रानके मांस भखेतैं, करुनाभाव हिया न हिया॥ १॥

रूपवान गुनखान बानि शुभ, शीलविहीन तिया न तिया।
कीरतवंत मृतक जीवत हैं, अपजसवंत जिया न जिया॥ २॥

धाममाहिं कछु दाम न आये, बहु व्योपार किया न किया।
'द्यानत' एक विवेक किये बिन, दान अनेक दिया न दिया॥ ३॥

हे नर! जिसके हृदय में प्रभु का स्मरण नहीं है, प्रभु के नाम-उच्चारण की लगन नहीं है तो उसने जो यह नर भव पाया है वह पाकर भी नहीं पाए हुए के बराबर है अर्थात् उसके नरभव का कोई उपयोग नहीं हो रहा है। दान बिना गृहस्थ का जीवन जीवन नहीं है, लोभ से मलीन बुद्धि बुद्धि नहीं है, अर्थात् दोनों ही व्यर्थ हैं।

अरे मनुष्य! तू यदि अपने अन्तर में मद से भरा हुआ घट है अर्थात् निरन्तर मद-पान में रत हैं, तो बाह्य में जल छानकर पिया तो उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता वह भी न पिये के समान है। अन्य प्राणियों के मांस को यदि तू खाता है, और तेरे हृदय में कोई करुणा का भाव है तो वह करुणाभाव भी निष्फल है, निस्सार है, करुणाविहीन के समान है।

यदि कोई स्त्री रूपवान है, अत्यन्त गुणी है, बोलने में विनयवान है पर यदि चारित्र से च्युत हो तो उसका रूपवान, गुणवान होना न होने के बराबर है। कीर्तिवान व्यक्ति मरकर भी जीवित के समान है किन्तु अपयशवाला व्यक्ति जीवित होते हुए भी जीवनविहीन के समान है।

जिस व्यापार से घर में कमाई न हो तो ऐसा व्यापार करना नहीं करने के बराबर है। द्यानतराय कहते हैं कि यदि विवेक नहीं है तो विवेक के बिना ऐसा दिया गया दान भी न दिये के समान है।

धिया = बुद्धि।

जिनके हिरदै भगवान बसैं, तिन आनका ध्यान किया न किया ॥ टेक ॥
चक्री एक मिलाप भयेतैं, और जन न मिलिया मिलिया ॥ जिनके. ॥

इक चिन्तामणि वांछितदायक, और नग न गहिया गहिया।
पारस एक कनी कर आवै, और धन न लहिया लहिया ॥ १ ॥

एक भान दश दिशि उजियारा, और ग्रह न उदिया उदिया।
एक कल्पतरु सब सुखदाता, और तरु न उगिया उगिया ॥ २ ॥

एक अभय महा दान देयके, और सुदान दिया न दिया।
'द्यानत' ज्ञानसुधारस चाख्यो, अम्रत और पिया न पिया ॥ ३ ॥

हे ज्ञानी! जिसके हृदय आसन पर, जिनके मन में भगवान की छवि आसीन है वह अन्य देवों का ध्यान करे अथवा न करे कोई बात नहीं अर्थात् क्यों करें? यदि एक चक्रवर्ती से मेल हो जाए तो अन्य जनों से मेल-मिलाप हो या न हो, सब प्रयोजनहीन है।

यदि वांछित फल देनेवाला एक चिंतामणि रत्न प्राप्त हो जाए तो अन्य रत्न मिले, उसका कोई मूल्य नहीं है। पारस पत्थर का एक टुकड़ा भी हाथ आ जावे तो अन्य धन सुलभ होने पर भी निरुपयोगी है, अर्थहीन है।

एक अकेला सूर्य दश-दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला है, जब वह उदित है तब और ग्रहों का उदय हो या न हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार सर्वसुख और संपत्ति का दाता एक कल्पवृक्ष हो तो अन्य वृक्ष उगें अथवा नहीं, कोई अर्थवान नहीं है।

यदि किसी को भयरहित जीवन प्रदानकर अभयदान कर दिया तो और किसी प्रकार का दान किया या नहीं यह बेमाने हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जिसने ज्ञानरूपी अमृत का स्वाद चख लिया उसने अन्य अमृत पिया या नहीं यह सारवान नहीं है।

नग = रत्न; कणी - छोटा सा टुकड़ा; भान (भानु) = सूर्य।

(१८२)

राग धनासरी

जैन नाम भज भाई रे! ॥ टेक ॥
जा दिन तेरा कोई नाहीं, ता दिन नाम सहाई रे॥ जैन. ॥

अगनि नीर है शत्रु बीर है, महिमा होत सवाई।
दारिद जावै धन बहु आवै, जा मन नाम दुहाई रे॥ जैन. ॥ १ ॥

सोई साध सन्त सोई धन, जिन प्रभुसौं लौ लाई।
सोई जती सती सो ताकी, उत्तम जात कहाई रे॥ जैन. ॥ २ ॥

जीव अनेक तरे सुमरनसों, गिनती गनिय न जाई।
सोई नाम जपो नित 'द्यानत', तजि विकथा दुखदाई रे॥ जैन. ॥ ३ ॥

अरे भाई। जीत लिए हैं अपनी कषाय और विषयों को जिनने उन जिन/जैन के नाम का सदा सुमिरन करो, भजो। जिस दिन तुझे ऐसा प्रतीत हो कि इस संसार में तेरा कोई भी अपना नहीं है, उस दिन यह नाम ही तेरा सहायक हो जायेगा।

जिसके मन में इस नाम का सहारा है उसके प्रति अग्नि-जलरूप और शत्रु भाई-रूप हो जाता है, उसकी महिमा बढ़ जाती है, सवागुणी हो जाती है। जिसके मन में इस नाम का सहारा है उसकी दरिद्रता का नाश होकर बहुत धन की प्राप्ति होती है।

उस ही की साधना सफल है, वह ही सन्त है, वह ही धन्य है जो ऐसे प्रभु की भक्ति में लौ लगाते हैं, मन लगाते हैं, और वे ही उत्तम श्रेणी के कहलाते हैं। वे ही जती हैं और वे ही सती नाम से जानी जाती हैं, कहलाती हैं।

उन जिनेन्द्र के सुमिरन से अगणित जीव, जिनकी गिनती ही नहीं की जा सकती, इस संसार से पार हो गए हैं, तिर गए हैं। द्यानतराय कहते हैं कि दु:खदायी सारी विकथाएँ छोड़कर उन जिनेन्द्र का नाम नित जपो।

(१८३)

राग बिलावल

श्रीजिननाम अधार, सार भजि ॥ टेक ॥
अगम अतट संसार उदधितैं, कौन उतारै पार ॥ श्रीजिन. ॥

कोटि जनम पातक कटैं, प्रभु नाम लेत इक बार।
ऋद्धि सिद्धि चरननिसों लागै, आनँद होत अपार ॥ श्रीजिन. ॥ १ ॥

पशु ते धन्य धन्य ते पंखी, सफल करैं अवतार।
नाम बिना धिक् मानवको भव, जल बल ह्वै है छार ॥ श्रीजिन. ॥ २ ॥

नाम समान आन नहिं जग सब, कहत पुकार पुकार।
'द्यानत' नाम तिहूँपन जपि लै, सुरगमुकतिदातार ॥ श्रीजिन. ॥ ३ ॥

हे भव्य! श्रीजिन का नाम ही एक आधार है, सहारा है, अवलम्बन है, गुणों का सार है। उसका ही भजन करो, स्मरण करो। जिसकी गहराई का कोई पार नहीं है, थाह नहीं है, जिसका कोई किनारा नहीं है ऐसे दूर दूर तक व्याप्त इस संसाररूपी समुद्र से पार उतारनेवाला कौन है?

प्रभु का एक बार स्मरण करने से करोड़ों जनम के पाप नष्ट हो जाते हैं। ऋद्धि व सिद्धि चरणों में आकर लोटने लगती है और अपार आनन्द की अनुभूति होती है।

पशुओं व पक्षियों में भी वे धन्य हैं जो आपका नाम लेकर अपना जन्म सफल करते हैं। आपका नाम लिए बिना यह मनुष्य-जन्म, यह नरदेह निरर्थक है। अरे यह तो जलकर राख हो जाती है।

श्रीजिन के नाम के समान इस जगत में अन्य कुछ भी नहीं है, यह ही बार-बार कहते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि तू मन, वचन, काय के संकल्पसहित श्री जिन नाम को जप ले, यह ही स्वर्ग व मुक्ति को देनेवाला है।

तुम अधम-उधारन-हार हो, हम भगतनिके दुख हरो ॥ टेक ॥

मैं अघ-आकर तुम करुणाकर, जोग बन्यो यह सार हो ॥ तुम. ॥ १ ॥

पूत कूपूत होत है स्वामी, तात न निठुर विचार हो ॥ तुम. ॥ २ ॥

'द्यानत' दीन अनाथ राखि लै, चरन शरन आधार हो ॥ तुम. ॥ ३ ॥

हे प्रभु! आप पापियों का उद्धार करनेवाले हो, हम आपके भक्त हैं अतः हमारा भी दुःख दूर करो, मिटाओ।

मैं पापों की खान हूँ, भंडार हूँ; तुम करुणा करनेवाले हो, करुणा के भण्डार हो। अब मेरा आपसे संयोग बना इसमें यही सार है कि आप मेरे दुःख दूर करें।

हे स्वामी! पुत्र कुपुत्र भी हो जाता है पर पिता के उसके प्रति निष्ठुरता के विचार नहीं होते।

द्यानतराय कहते हैं कि मैं दीन व अनाथ हूँ। मुझे अपनी शरण में ले लो, रख लो। इन चरणों की शरण ही मेरा एकमात्र सहारा है।

अघ = पाप; आकर = उत्पत्ति स्थान, खान।

(१८५)

तुम प्रभु कहियत दीनदयाल ॥ टेक ॥
आपन आय मुकतमैं बैठे, हम जु रुलत जगजाल ॥ तुम. ॥

तुमरो नाम जपैं हम नीके, मन वच तीनौं काल।
तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल ॥ तुम. ॥ १ ॥

बुरे भले हम भगत-तिहारे, जानत हो हम चाल।
और कछू नहिं यह चाहत हैं, राग दोषकौं टाल ॥ तुम. ॥ २ ॥

हमसौं चूक परी सो बकसो, तुम तो कृपाविशाल।
'द्यानत' एक बार प्रभु जगतैं, हमको लेहु निकाल ॥ तुम. ॥ ३ ॥

हे प्रभु! आप दीन-निर्धनों पर करुणा करनेवाले अर्थात् दीनदयाल कहे जाते हो। आप तो मुक्त होकर मोक्षगामी हुए और वहाँ स्थित हो गए और हम इस जगतरूपी जाल में ही रुलते जा रहे हैं, भटकते जा रहे हैं।

हम मन-वचन से सुबह-दोपहर-शाम तीनों काल सदा आपका गुणगान करते हैं, नाम जपते हैं। पर तुम तो हमको कुछ देते नहीं हो, तो बताओ कि फिर हमारा रक्षक कौन है?

हम भले हों अथवा बुरे, हम तो आपके भक्त हैं। आप हमारा आचरण-चाल, रंग-ढंग जानते व समझते हैं। हम आपसे कुछ भी याचना नहीं करते। मात्र इतना ही चाहते हैं कि आप हमें राग व द्वेष से मुक्त कीजिए, उनसे बचाइए।

हमारी जो भी कोई भूल-चूक हुई हो, आप उसे क्षमा करें। आप तो दया के सागर हैं, महादयालु हैं। द्यानतराय कहते हैं कि हमको मात्र एकबार आप इस जगत से बाहर निकाल दें।

बकसो (बख्शना) = माफ करो, क्षमा करो।

(१८६)

राग काफी

तू जिनवर स्वामी मेरा, मैं सेवक प्रभु हों तेरा ॥ टेक ॥

तुम सुमरन बिन मैं बहु कीना, नाना जोनि बसेरा।
भाग उदय तुम दरसन पायो, पाप भज्यो तजि खेरा ॥ तू जिनवर. ॥ १ ॥

तुम देवाधिदेव परमेसुर, दीजै दान सबेरा।
जो तुम मोख देत नहिं हमको, कहाँ जाएँ किंहि डेरा ॥ तू जिनवर. ॥ २ ॥

मात तात तूही बड़ भ्राता, तोसौं प्रेम घनेरा।
'द्यानत' तार निकार जगततैं, फेर न ह्वै भवफेरा ॥ तू जिनवर. ॥ ३ ॥

हे जिनश्रेष्ठ। आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ।

आपका स्मरण नहीं करने के कारण मैंने अनेक स्थानों पर/अनेक योनियों में अपना बसेरा किया, घर बनाकर ठहरा अर्थात् अनेक भव धारण करता रहा। अब भाग्य-उदय से मुझे आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिसमें पाप अपना स्थान छोड़कर पलायमान हो रहे, भाग रहे हैं।

आप देवों के देव हैं, परमेश्वर हैं आप ज्ञान (के प्रकाश) का दान दीजिए। हम याचकों को यदि आप मुक्ति-लाभ प्रदान नहीं करते, तो हम कहाँ जायें, हमारे लिए अन्यत्र कहाँ स्थान है?

हे देव! तू ही मेरा माता-पिता, बड़ा भाई, हितैषी है। अब तू मुझे इस संसार से बाहर निकाल दे, तिरा दे ताकि फिर संसार में आना बन्द हो जावे, मिट जावे, भव-भ्रमण की क्रिया सदा के लिए समाप्त हो जावे।

हों = मैं; खेरा → खेड़ा - गाँव, स्थान।

तू ही मेरा साहिब सच्चा सांई॥ टेक॥

काल अनन्त रुल्यो जगमाहीं, आपद बहुविधि पाई॥ तू ही.॥ १॥

तुम राजा हम परजा तेरे, कीजिये न्याय न कांई॥ तू ही.॥ २॥

'द्यानत' तेरा करमनि घेरा, लेहु छुड़ाय गुसाईं॥ तू ही.॥ ३॥

हे जिनवर! तू ही मेरा सच्चा स्वामी है, मालिक है।

अनन्त काल से मैं इस जगत में भटकता रहा और बहुत प्रकार के कष्ट सहे।

आप राजा हैं, हम तेरी प्रजा हैं, क्या आप मेरे साथ न्याय नहीं करेंगे?

द्यानतराय कहते हैं कि मैं तो आपका शिष्य, भक्त हूँ। करमों के घेरे से घिरा हुआ हूँ। हे स्वामी! उनसे मुझको छुड़ा लो, मुक्त करो।

(१८८)

तेरी भगति बिना धिक है जीवना॥ टेक.॥

जैसे बेगारी दरजीको, पर घर कपड़ोंका सीवना॥ तेरी.॥ १॥

मुकट बिना अम्बर सब पहिरे, जैसे भोजनमें घीव ना॥ तेरी.॥ २॥

'द्यानत' भूप बिना सब सेना, जैसे मंदिरकी नीव ना॥ तेरी.॥ ३॥

हे प्रभु। तेरी भक्ति के बिना यह जीवन जीना व्यर्थ है, निरर्थक है, तिरस्कार योग्य है।

जैसे दरजी सारा दिन अन्य जनों के घरों के कपड़ों की सिलाई करता है, परन्तु उसे उन कपड़ों को पहनने का सुख नहीं मिलता। उसकी बेगार/श्रम व्यर्थ हो जाता है। उसी प्रकार तेरी भक्ति के बिना शेष सब कार्य बेगार ही हैं, अतः तेरी भक्ति के बिना यह जीवन जीना निरर्थक है, व्यर्थ है।

जैसे कपड़े तो सब पहन लिए, पर सिर पर मुकुट नहीं है, सिर पर कुछ नहीं है तो पोशाक अधूरी-सी रहती है। जैसे बिना स्निग्धता के, बिना चिकनाई के भोजन-नीरस-सूखा लगता है। वैसे ही तेरी भक्ति के बिना जीवन सूखा होता है, नीरस होता है, व्यर्थ होता है।

द्यानतराय कहते हैं कि जैसे राजा के बिना सेना का होना निरर्थक है, नींव के बिना मन्दिर का बनाना निरर्थक है, वैसे ही तेरी भक्ति के बिना यह जीवन निरर्थक है, व्यर्थ है।

(१८९)

त्रिभुवनमें नामी, कर करुना जिनस्वामी ॥ टेक ॥

चहुँगति जनम मरन किमि भाख्यो, तुम सब अंतरजामी ॥ त्रिभुवन. ॥ १ ॥

करमरोगके वैद तुम्ही हो, करों पुकार अकामी ॥ त्रिभुवन. ॥ २ ॥

'द्यानत' पूरब पुन्य उदयतैं, शरन तिहारी पामी ॥ त्रिभुवन. ॥ ३ ॥

हे जिनेन्द्र। आप तीनलोक में प्रसिद्ध हैं, आप हम पर करुणा कीजिए। चारों गतियों में मैंने किस-किस प्रकार जन्म लिया और मरण किया है वह सब मैं किस प्रकार कहूँ! आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं।

आप ही कर्मरोग से छुटकारा दिलानेवाले वैद्य हैं।

मैं अकामी, अन्य सब इच्छाओं/कामनाओं से रहित आपके समक्ष इस रोग से मुक्ति के लिए पुकार कर रहा हूँ, याचना कर रहा हूँ।

द्यानतराय कहते हैं - पूर्व कर्मों के अनुसार अब पुण्योदय आने पर मुझे आपकी शरण प्राप्त करने का अवसर मिला है।

(१९०)

दरसन तेरा मन भावै ।। टेक ।।

तुमकौं देखि त्रिपति नहिं सुरपति, नैन हजार बनावै ।। दरसन. ।।

समोसरनमें निरखै सचिपति, जीभ सहस गुन गावै।
कोड़ कामको रूप छिपत है, तेरो दरस सुहावै ।। दरसन. ।। १ ।।

आँख लगै अंतर है तो भी, आनँद उर न समावै।
ना जानौं कितनौं सुख हरिको, जो नहिं पलक लगावै ।। दरसन. ।। २ ।।

पाप नासकी कौन बात है, 'द्यानत' सम्यक पावै।
आसन ध्यान अनूपम स्वामी, देखैं ही बन आवै ।। दरसन. ।। ३ ।।

हे प्रभु! आपका दर्शन मनभावन है, मन को भानेवाला है, मन को अच्छा लगनेवाला है। आपके दर्शनों से देवताओं का राजा इन्द्र भी तृप्त नहीं हो पाया तब जीभर के आपके दर्शन करने के लिए उसने विक्रिया से हजार नयन बनाकर दर्शन किये।

समवशरण में वह इन्द्र आपके दर्शन करके आपके सहज गुणों की वचन-स्तुति करता है। आपकी सुन्दरता करोड़ों कामदेव के रूप को अपने में समेटे हुए है। ऐसे सुन्दर दर्शन मुझे अत्यन्त प्रिय लगते हैं, अच्छे लगते हैं।

आपके दर्शनों के लिए अन्तर की/मन की आँखें तत्पर हैं तो भी हृदय में आनन्द नहीं समा रहा है अर्थात् उमड़कर बाहर फैल रहा है। उस इन्द्र को न जाने कितना (अवर्णनीय) सुख मिलता है जो निरन्तर/निर्निमेष/बिना पलक झपकाये आपके दर्शन करता रहता है।

द्यानतराय कहते हैं आपके दर्शनों से पापों का नाश होना तो कोई बड़ी बात ही नहीं है, सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हो जाती है। आपकी ऐसी ध्यानासीन मुद्रा की अन्य कोई उपमा नहीं है। वह छवि देखते ही बनती है अर्थात् उसे देखने से मन नहीं भरता, उसे सदैव देखते रहने का मन करता है।

दास तिहारो हूं, मोहि तारो श्रीजिनराय।

दास तिहारो भक्त तिहारो, तारो श्रीजिनराय॥ टेक॥

चहुँगति दुखकी आगतैं अब, लीजे भक्त बचाय॥ दास.॥ १॥

विषय कषाय ठगनि ठग्यो, दोनोंतैं लेहु छुड़ाय॥ दास.॥ २॥

'द्यानत' ममता नाहरीतैं, तुम बिन कौन उपाय॥ दास.॥ ३॥

हे जिनराज! मैं आपका दास हूँ, सेवक हूँ, अनुयायी हूँ। मुझको तारिए - भवसागर के पार लगाइए। मैं आपका भक्त हूँ, मुझे तारिए। चारों गतियों की दु:खरूपी आग से अपने इस भक्त को बचा लीजिए।

इन्द्रिय विषय और कषायों ने बाहर व अन्तर में मुझे ठग बनकर ठग लिया है, मुझे इन दोनों से बचा लीजिए। द्यानतराय कहते हैं कि यह मोह-ममतारूपी व्याघ्रिनी से अपने आपको बचाने के लिए आपके अलावा अन्य कौन-सा उपाय है? अर्थात् कोई उपाय नहीं है।

(११२)

राग प्रभाती

देखे जिनराज आज, राजऋद्धि पाई॥ टेक॥

पहुपवृष्टि महा इष्ट, देवदुंदुभी सुमिष्ट,
शोक करै भ्रष्ट सो, अशोकतरु बड़ाई॥ देखे.॥ १॥

सिंहासन झलमलात, तीन छत्र चित सुहात,
चमर फरहरात मनो, भगति अति बढ़ाई॥ देखे.॥ २॥

'द्यानत' भामण्डलमें, दीसैं परजाय सात,
बानी तिहुँकाल झरै, सुरशिवसुखदाई॥ देखे.॥ ३॥

(इस भजन में समवशरण का वर्णन है।)

मैंने आज समवशरण में विराजित श्री जिनराज के दर्शन किए हैं। उसे देखकर लगता है कि मानो मुझे राज-ऋद्धि मिली है, पाई है, जो उनके स्वामीपन की प्रतीति, शक्ति का बोध कराता है।

उस समवशरण में हो रही पुष्पवृष्टि महाइष्टकारी है, समर्पण की, भक्ति-भावना की सूचक है, आदर भाव का प्रदर्शन है। कानों को मधुर लगनेवाली देव-दुंदुभि का नाद प्रियकर है, सारे शोक-संताप को दूर करनेवाला है अशोक वृक्ष। ये सब यश-वृद्धि के परिचायक हैं।

सिंहासन प्रकाश में झिलमिला रहा है, चमक रहा है। तीन छत्र मन को भा रहे हैं। चमर ढोरे जा रहे हैं जिससे स्वामी के प्रति भक्ति व बहुमान प्रगट हो रहा है।

द्यानतराय कहते हैं उनके प्रभा-मण्डल में सात भव की घटनाएँ दिखाई देती हैं और तीनों संक्रांति काल में प्रभु की दिव्य ध्वनि खिरती है जो स्वर्ग व मोक्ष का सुख प्रदान करनेवाली है।

ऋद्धि - तपस्या के प्रभाव से प्राप्त चामत्कारिक शक्तियाँ।

(१९३)
राग गौरी

देखो! भाई श्रीजिनराज विराजैं॥ टेक॥
कंचनमनिमय सिंहपीठपर, अन्तरीछ प्रभु छाजैं॥ देखो.॥

तीन छत्र त्रिभुवन जस जपैं, चौंसठि चमर समाजैं।
बानी जोजन घोर मोर सुनि, डर अहि पातक भाजैं॥ देखो.॥ १॥

साढ़े-बारह कोड़ दुंदुभी, आदिक बाजे बाजैं।
वृक्ष अशोक दिपत भामण्डल, कोड़ि सूर शशि लाजैं॥ देखो.॥ २॥

पहुपवृष्टि जलकन मंद पवन, इंद्र सेव नित साजैं।
प्रभु न बुलावैं 'द्यानत' जावैं, सुरनर पशु निज काजैं॥ देखो.॥ ३॥

(इस भजन में समवशरण का वर्णन है।)

अरे भाई देखो, दर्शन करो! श्री जिनराज विराजमान हैं। स्वर्ण के रत्नजड़ित सिंहासन से ऊपर आकाश में अधर आसीन होकर शोभायमान हैं।

तीन छत्र - तीन लोकों में व्याप्त आपके यश के प्रतीक हैं। ये आपके यश का बखान कर रहे हैं। चौंसठ देवगण मिलकर चंवर ढोर रहे हैं। योजन की दूरी तक आपकी वाणी सुनकर पाप इस प्रकार पलायित हो जाते हैं, हट जाते हैं जैसे मोर की ध्वनि सुनकर सर्प डरकर भाग जाता है अर्थात् मोर की ध्वनि के समान दिव्य ध्वनि को सुनकर पापरूपी सर्प भाग जाते हैं।

दुंदुभि आदि साढ़े बारह करोड़ वाद्य बज उठते हैं। अशोक वृक्ष के नीचे विराजित आपका दिव्यगात और चारों ओर प्रकाशमान आभा- मंडल मनोहारी है, जिसके तेज व कांति के समक्ष करोड़ों सूर्य व चन्द्र का उजास भी फीका लगता है।

मंद बयार और पुष्पवृष्टि वातावरण को सुवासमय/सुगन्धितकर मुग्ध कर रही है। इन्द्र प्रतिदिन आपकी पूजा करता है। प्रभु वीतरागी हैं वे किसी को भी नहीं बुलाते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि देव, मनुष्य, पशु सब अपनी कार्यसिद्धि के लिए स्वयं ही वहाँ समवशरण में खिंचे चले जाते हैं।

(१९४)

राग सोरठ

देखो! भेक फूल लै निकस्यो, बिन पूजा फल पायो ॥ टेक ॥
हरषित भाव मर्‌यो गजपगतल, सुरगत अमर कहायो ॥ देखो. ॥

मालिनि-सुता देहली पूजी, अपछर इन्द्र रिझायो।
हाली चरुसों दृढ़व्रत पाल्यो, दारिद तुरत नसायो ॥ देखो. ॥ १ ॥

पूजा टहल करी जिन गुरुजनि, तिन सुरभवन बनायो।
चक्री भरत नयौ जिनवरको, अवधिज्ञान उपजायो ॥ देखो. ॥ २ ॥

आठ दरब लै प्रभुपद पूजै, ता पूजन सुर आयो।
द्यानत आप समान करत हैं, सरधासों सिर नायो ॥ देखो. ॥ ३ ॥

अरे देखो! मेंढक मुँह में कमल का फूल लेकर पूजा हेतु निकला। उसने पूजा के भाव ही किए पर पूजा नहीं कर सका। फिर भी उसने बिना पूजा किए पूजा करने का फल पाया। अत्यन्त हर्ष से प्रमुदित वह राह में चलते हुए हाथी के पाँव नीचे आ गया और कुचला जाकर मर गया। अपने शुभ भावों के कारण देवों के मध्य जाकर देव हुआ और अमर अर्थात् देव कहलाया।

माली की लड़की ने जिन-मन्दिर की देहली को पूजकर भाव पूजा की और रूपवती अप्सरा के रूप में जन्म लिया, जिसके रूप पर इन्द्र भी रीझ गया। कृषक ने भी भाव पूजासहित व्रतों का दृढ़ता से पालन किया। उसने भी पूजा का शीघ्र ही फल पाया और दुःख-दरिद्र का नाश किया।

जिन-जिन भव्यजनों ने पूजा की या जिन मन्दिर की सेवा-व्यवस्था में योग दिया उन्होंने पूजा के फलस्वरूप स्वर्ग में जाकर जन्म लिया, वहाँ अपना घर स्थापित किया। भरत चक्रवर्ती ने भक्तिभाव से जिनेन्द्र को नमन किया जिससे उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई।

देवगण अष्ट द्रव्य से श्री जिनेन्द्र की पूजा करने को आते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जिन्होंने भी आपको श्रद्धा से नमन किया, उन्हें ही आपने अपने समान बना लिया अर्थात् वे भी पूज्य बन गये।

भेक - मेंढक; नयौ = नमन किया।

मेरी बेर कहा ढील करी जी॥ टेक॥
सूलीसों सिंघासन कीनो, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी॥ मेरी बेर.॥

सीता सती अगनिमैं पैठी, पावक नीर करी सगरी जी।
वारिषेणपै खड्ग चलायो, फूलमाल कीनी सुथरी जी॥ मेरी बेर.॥ १॥

धन्या वापी पर्‌यो निकाल्यो, ता घर रिद्ध अनेक भरी जी।
सिरीपाल सागरतैं तार्‌यो, राजभोगकै मुकत वरी जी॥ मेरी बेर.॥ २॥

सांप कियो फूलनकी माला, सोमापर तुम दया धरी जी।
'द्यानत' मैं कछु जाँचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी॥ मेरी बेर.॥ ३॥

हे प्रभु! जब मेरी बारी आई, तो क्यों ढिलाई की, देरी क्यों की? फाँसी के तख्ते को सिंहासन बनाकर आपने सेठ सुदर्शन की विपदा को दूर किया।

सती सीता की अग्नि-परीक्षा के समय अग्नि-प्रवेश के अवसर पर आपने अग्नि को जलरूप परिणत कर दिया। इसी प्रकार वारिषेण पर जब तलवार का वार हुआ तो उसको सुन्दर फूलों की माला बना दिया।

धनकुमार जब बावड़ी में पड़ा तब उसे बाहर निकालकर उसके घर पर अनेक प्रकार की रिद्धियाँ (ऋद्धियाँ) उत्पन्न कर दीं। श्रीपाल को सागर से बाहर निकाला और राजदोष से मुक्त करा दिया।

सोमा पर आपने कृपा की और उसे पहनाये गये साँप को फूलों की माला में परिणत कर दिया। द्यानतराय कहते हैं कि मैं आपसे कुछ भी याचना नहीं करता। बस यही भावना करता हूँ कि मैं रागरहित वैराग्य दशा को प्राप्त होऊँ।

(१९६)

राग बसन्त

मोहि तारो हो देवाधिदेव, मैं मनवचनतनकरि करौं सेव॥ टेक॥

तुम दीनदयाल अनाथनाथ, हमहूको राखो आप साथ॥ मोह.॥ १॥

यह मारवाड़ संसार देश, तुम चरनकलपतरु हर कलेश॥ मोह.॥ २॥

तुम नाम रसायन जीय पीय, 'द्यानत' अजरामर भव त्रितीय॥ मोह.॥ ३॥

हे देवाधिदेव। मैं मन, वचन और काय-सहित आपकी सेवा में रत हूँ, मुझे तारिए, पार लगाइए।

हे प्रभु! आप दीनदयाल हैं, दीनों के प्रति दयालु हैं, अनाथ के नाथ हैं। आप हमें अपने साथ रखिए।

मारवाड़ की भूमि-सा यह बंजर देश है। उसमें आपके चरण ही कल्पवृक्ष के समान हमारे सब क्लेशों का निवारण करनेवाले हैं, उन्हें दूर करनेवाले हैं।

आपका नाम ही औषधि है, जिसका सेवनकर, जिसे पीकर द्यानतराय कहते हैं कि तीन लोक के भवभ्रमण से छूटकर जरारहित, अमर - मृत्युरहित हो जाते हैं।

(१९७)

मानुष जनम सफल भयो आज॥ टेक॥
सीस सफल भयो ईस नमत ही, श्रवन सफल जिनवचन समाज॥ मानुष.॥

भाल सफल जु दयाल तिलकतैं, नैन सफल देखे जिनराज।
जीभ सफल जिनवानि गानतैं, हाथ सफल करि पूजन आज॥ मानुष.॥ १॥

पाँय सफल जिन भौन गौनतैं, काय सफल नाचैं बल गाज।
वित्त सफल जो प्रभुकौं लागै, चित्त सकल प्रभु ध्यान इलाज॥ मानुष.॥ २॥

चिन्तामनि चिंतित-वर-दाई, कलपवृच्छ कलपनतैं काज।
देत अचिंत अकल्प महासुख, 'द्यानत' भक्ति गरीबनिवाज॥ मानुष.॥ ३॥

मेरा मनुष्य जन्म पाना आज सफल हो गया। भगवान के चरणों में नमन करने के कारण शीश तथा समाज में जिन वचन सुनने के कारण ये कान सफल हो गए।

भाल (ललाट) भगवान की पूजा की केसर का तिलक लगाने के कारण और नयन श्रीबिंब के दर्शन करने के कारण सफल हुए हैं। जिव्हा श्रीजिन का गुणगान करने से तथा हाथों से श्रीजिन की पूजा करने से सफल हो गए हैं, इनका होना सार्थक हो गया है।

(पाँवों से) चलकर जिन मन्दिर तक जाने से पाँव सार्थक हो गये तथा यह देह जिनपूजा के मध्य भक्तिपूर्वक मग्न होकर नृत्य करने से सफल हो गई। वित्त (धन) प्रभु के निमित्त कार्य में संलग्न होने से सफल हो गया तथा चित्त ध्यान में लगने के कारण सफल हो गए हैं।

ऐसे चिंतामणि का चिंतन ही वरदान है और कल्पनाओं के साकार होने के लिए कल्पवृक्ष के समान है। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे दीनदयाल की भक्तिपूजा से अचिन्त्य, महासुख का लाभ होता है।

(१९८)

मैं नूं भावैजी प्रभु चेतना, मैं नूं भावै जी. ॥ टेक ॥

गुण रतनत्रय आदि विराजै, निज गुण काहू देत ना ॥ मैं नूं. ॥ १ ॥

सिद्ध विशुद्ध सदा अविनाशी, परगुण कबहूं लेत ना ॥ मैं नूं. ॥ २ ॥

'द्यानत' जो ध्याऊं सो पाऊं, पुद्गलसों कछु हेत ना ॥ मैं नूं. ॥ ३ ॥

मैं प्रभु के चैतन्य गुण की, चैतन्य स्वरूप की भावना करता हूँ, मुझे वह रुचिकर लगती है।

रत्नत्रय आदि गुणसहित वह विराजमान है। वे अपने गुण किसी को नहीं देते।

सिद्ध स्वरूप में वे पूर्ण विशुद्ध होकर सदा अविनाशी हैं। पर के गुणों को वे ग्रहण नहीं करते।

द्यानतराय कहते हैं कि मैं जो उनका ध्यान करता हूँ तो मुझे अपने स्वयं के स्वरूप की प्रतीति होती है। उसका पुद्गल से कोई संबंध नहीं है, कोई नाता नहीं है।

(१९९)

मोहि तारो जिन साहिब जी॥ टेक॥

दास कहाऊं क्यों दुख पाऊं, मेरी ओर निहारो॥ मोहि.॥ १॥

षटकाया प्रतिपालक स्वामी, सेवकको न बिसारो॥ मोहि.॥ २॥

'द्यानत' तारन तरन विरद तुम, और न तारनहारो॥ मोहि.॥ ३॥

हे जिन! हे स्वामी! मुझको भवसागर से पार उतारो, भवसागर से तार दो।

मैं आपका दास कहलाता हूँ, फिर मैं संसार के दु:खों का भार वहन क्यों करूँ अर्थात् क्यों दुख झेलूँ? आप कृपाकर मेरी ओर भी दृष्टि कीजिए।

आप षटकाय के जीवों के प्रतिपालक अर्थात् स्वामी हैं। आप इस सेवक को मत बिसराइए, मत भूलिए।

द्यानतराय कहते हैं कि आपका विरद, आपकी विशेषता/प्रसिद्धि है कि आप स्वयं तिरनेवाले हैं और दूसरों को भी तारनेवाले हैं। आपके अलावा दूसरों को तारनेवाला अन्य कोई नहीं है।

(२००)

परमेसुरकी कैसी रीत, मोहि बताओ मेरे मीत ॥ टेक ॥

उपजावै संसारी सोय, मारे सो हत्यारो होय ॥ १ ॥

जल थल अगन गगन भुविमाहिं, लघु दीरघ कीजे किहि ठाहिं ॥ २ ॥

घट घट व्यापी सबमें वही, एक एक क्यों मारै सही ॥ ३ ॥

पाप पुन्य करवावै आप, वेद कहै क्यों सुमरन जाप ॥ ४ ॥

मारै दुष्ट सुष्ट प्रतिपाल, दुष्ट बनावै क्यों विकराल ॥ ५ ॥

जानै नहीं दुष्ट अज्ञान, ज्ञान बिना कैसें भगवान ॥ ६ ॥

राग न द्वेष न ज्ञायकरूप, 'द्यानत' दरपन ज्यों चिद्रूप ॥ ७ ॥

हे मेरे मित्र! मुझे यह बताओ कि परमेश्वर की यह कैसी रीति है? माना जाता है कि वह संसार में जीवों को जन्म देता है, फिर वही उन्हें मारता है, इस प्रकार वह हत्यारा होता है!

जल में, स्थल में, अग्नि में या आकाश में, सारे संसार में वह किसी को छोटा बनाता है, किसी को बड़ा बनाता है (ऐसा क्यों?)!

माना जाता है कि वह संसार में घट-घट में, प्रत्येक देह में व्याप्त है, फिर वह एक-एक कर प्रत्येक को क्यों मारता है? (जिसमें वह स्वयं व्याप्त है उसे ही मारता है!) वह स्वयं ही पाप भी कराता है, पुण्य भी कराता है। फिर भी वेद कहते हैं कि उसका ही स्मरण करो, उसी का जाप करो।

संसार में दुष्ट लोग सज्जनों को मारते हैं, वह दुष्टों को उत्पन्न ही क्यों करता है? उन्हें इतना भयावह क्यों बनाता है?

यदि वह दुष्ट को नहीं जानता तो यह उसका अज्ञान है तो ज्ञान बिना वह कैसा भगवान है?

द्यानतराय कहते हैं जिसके राग नहीं है, द्वेष नहीं है, जो मात्र ज्ञातास्वरूप है, दर्पणरूप, दर्पण के समान स्वच्छ व निर्मल चेतनरूप है वह ही भगवान है।

सुष्ट = सज्जन।

(२०१)

प्रभु अब हमको होहु सहाय॥ टेक॥

तुम बिन हम बहु जुग दुख पायो, अब तो परसे पाँय॥ प्रभु.॥

तीन लोकमें नाम तिहारो, है सबको सुखदाय।
सोई नाम सदा हम गावैं, रीझ जाहु पतियाय॥ प्रभु.॥ १॥

हम तो नाथ कहाये तेरे, जावैं कहां सु बताय।
बाँह गहेकी लाज निबाहौ, जो हो त्रिभुवनराय॥ प्रभु.॥ २॥

'द्यानत' सेवकने प्रभु इतनी, विनती करी बनाय।
दीनदयाल दया धर मनमें, जमतैं लेहु बचाय॥ प्रभु.॥ ३॥

हे प्रभु! आप हमारे सहायक हो, आप हमारी सहायता करें। आपके बिना हमने बहुत काल तक, युगों-युगों तक बहुत दु:ख पाए हैं। अब हम आपके चरणों की शरण में आए हैं, अब आपके चरण-स्पर्श का लाभ मिला है।

तीनलोक में आपका नाम, आपका सुयश फैल रहा है, जो हमको अत्यन्त सुख देनेवाला है। हम भक्तिभाव से सदैव उसी नाम का गुणगान करते हैं, पूजा करते हैं, अनुनय और विनय करते हैं। तेरे नाम का गुणगान करते हैं, आपको भाँति-भाँति से पूजाकर रिझाने का यत्न करते हैं।

हे नाथ! हम तो आपके कहलाते हैं, आपको छोड़कर अन्यत्र हम कहाँ जावें यह बताओ। जिसने आपकी बाँह पकड़ी है अर्थात् आपकी शरण ली है उसकी मान-मर्यादा-प्रतिष्ठा का आप निर्वाह करें, आप तो तीनलोक के स्वामी हैं, नाथ हैं।

हे दयानिधान, हे दीनों पर दयालु, हे प्रभु! द्यानतराय की इतनी-सी विनती है कि अपने मन में करुणा धारणकर हमें बार-बार यम के मुँह में जाने से छुटकारा दिलाओ, मृत्यु से हमारी रक्षा करो, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से बचाओ, मुक्त करो।

(२०२)

प्रभु तुम चरन शरन लीनौं, मोहि तारो करुणाधार॥ टेक॥

सात नरकतैं नव ग्रीवक लौं, रुल्यो अनन्ती बार॥ प्रभु.॥ १॥

आठ करम वैरी बड़े तिन, दीनों दु:ख अपार॥ प्रभु.॥ २॥

'द्यानतकी' यह बीनती मेरो, जनम मरन निरवार॥ प्रभु.॥ ३॥

हे प्रभु! हे करुणा के आधार! मैंने आपके चरणों की शरण ली है, मुझे तारिए।

सात नरक से लेकर नव ग्रैवियक स्वर्ग पर्यन्त मैं अनन्तबार इधर से उधर भटका हूँ अर्थात् एक छोर से दूसरे छोर तक अनन्तबार भटकता रहा हूँ, रुलता रहा हूँ/जन्मधारण करता रहा हूँ।

मेरे आठ कर्म मेरे सबसे बड़े शत्रु हैं। इन्होंने मुझे अपार दु:ख दिए हैं। अर्थात् उन दु:खों का कोई पार नहीं है, छोर नहीं है। द्यानतराय कहते हैं कि अब मेरी यह विनती सुनिए मुझे जन्म-मरण के दु:खों से छुटकारा दिलाइए।

प्रभु! तुम नैनन-गोचर नाहीं ॥ टेक ॥

मो मन ध्यावै भगति बढ़ावै, रीझ न कछु मनमाहीं ॥ प्रभु. ॥ १ ॥

जनम-जरा-मृत-रोग-वैद हो, कहा करैं कहां जाहीं ॥ प्रभु. ॥ २ ॥

'द्यानत' भव-दुख-आग-माहिंतैं, राख चरण-तरु-छाहीं ॥ प्रभु. ॥ ३ ॥

हे प्रभु! आप इन्द्रिय-गोचर नहीं हो, इन नेत्रों से दिखाई नहीं देते, इस शरीर से देखे-जाने नहीं जाते।

मेरा मन आपका ध्यान करता है और आपके प्रति अपनी भक्ति भावना को बढ़ाता है, उसमें वृद्धि करता है। मन में कोई मोह नहीं है।

आप जन्म, बुढ़ापा, मृत्युरूपी रोग का निवारण करनेवाले वैद्य हो। आपको छोड़कर हम कहाँ जावें, क्या करें?

द्यानतराय कहते हैं कि मुझे भव- भव के दुःखों की दाह से, आग से बाहर निकालकर अपने चरण--रूपी वृक्ष की छाँह में रख लीजिए, शरण दीजिए अर्थात् तपन को दूरकर शीतलता प्रदान कीजिए।

(२०४)

राग विलावल

प्रभु तुम सुमरन ही में तारे॥ टेक॥
सूअर सिंह नौल बानरने, कहौ कौन व्रत धारे॥ प्रभु.॥

सांप जाप करि सुरपद पायो, स्वान श्याल भय जारे।
भेक बोक गज अमर कहाये, दुरगति भाव विदारे॥ प्रभु.॥ १॥

भील चोर मातंग जु गनिका, बहुतनिके दुख टारे।
चक्री भरत कहा तप कीनौ, लोकालोक निहारे॥ प्रभु.॥ २॥

उत्तम मध्यम भेद न कीन्हों, आये शरन उबारे।
'द्यानत' राग दोष बिन स्वामी, पाये भाग हमारे॥ प्रभु.॥ ३॥

हे प्रभु! आपका पवित्र स्मरण ही इस भवसागर से पार उतारनेवाला है। नहीं तो बताएँ कि सूअर, सिंह, नेवला और बन्दर ने कौनसे व्रत धारण किए थे? उन्होंने तो आपका नाम श्रवण करने से ही सद्‌गति प्राप्त कर ली।

साँप[1] ने भी आपका नाम जपकर स्वर्ग में देव पद पाया। कुत्ते और सियार को भय-मुक्त किया। मेंढक, बकरा व हाथी भी देव हुए और दुर्गति करानेवाले भावों का नाश किया।

भील, (अंजन) चोर, (यमपाल) चांडाल और वेश्या आदि बहुतों को दु:ख से मुक्त किया। भरत चक्रवर्ती ने कौन-सा तप किया कि वे तत्काल ही लोक और अलोक के ज्ञाता अरहंत केवली हो गए/सर्वज्ञ हो गए! जो भी आपकी शरण में आया उनमें आपने उत्तम व मध्यम का कोई भेद नहीं किया, जो भी आया उसी का उद्धार हो गया। द्यानतराय कहते हैं कि हे स्वामी! आप राग-द्वेषरहित हैं, वीतरागी हैं, आपको हमने पा लिया है, यह हमारा सौभाग्य है।

भेक - मेंढक; बोक = बकरा।

१. पार्श्वनाथ जब कुमार अवस्था में थे तब एक दिन उन्होंने एक जलती हुई लकड़ी के खोखे के भीतर छिपे हुए नाग-नागिन को णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से वे नाग-नागिन स्वर्ग में धरणेन्द्र एवं पद्मावती के रूप में उत्पन्न हुए।

(२०५)

प्रभु तेरी महिमा कहिय न जाय॥ टेक॥
थुति करि सुखी दुखी निंदातैं, तेरैं समता भाय॥ प्रभु.॥

जो तुम ध्यावै थिर मन लावै, सो किंचित् सुख पाय।
जो नहिं ध्यावै ताहि करत हो, तीन भवनको राय॥ प्रभु.॥ १॥

अंजन चोर महाअपराधी, दियो स्वर्ग पहुँचाय।
कथानाथ श्रेणिक समदृष्टी, कियो नरक दुखदाय॥ प्रभु.॥ २॥

सेव असेव कहा चलै जियकी, जो तुम करो सु न्याय।
'द्यानत' सेवक गुन गहि लीजै, दोष सबै छिटकाय॥ प्रभु.॥ ३॥

हे प्रभु! तेरी महिमा अवर्णनीय है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो तेरी स्तुति करते हैं वे सुखी होते हैं तो कई उसके विपरीत निंदा करके दु:खी होते हैं, पर आप सदा ही समतामय रहते हैं।

जो आपको ध्याता है, आपके चिंतन में अपना मन स्थिर करता है उसे कुछ सुख की अनुभूति, प्राप्ति होती है। जो आपको नहीं ध्याता है उसको भी आप तीन लोकों में राजा का पद दे देते हो।

अंजन चोर महाअपराधी था, उसको आपने स्वर्ग में स्थान प्राप्त कराया। पुराणों में जिसके नाम के सहारे कथाएँ कही गई हैं उस सम्यग्दृष्टि श्रेणिक को दु:खदायी नरक में पहुँचा दिया।

तो आपकी सेवा अथवा असेवा में इस जीव की कोई भूमिका नहीं है। जो आप करते हैं वह ही सही न्याय है। द्यानतराय कहते हैं कि हे प्रभु! आप इस सेवक के गुणों को ही ग्रहण करो और सब दोषों को हटा दो, उन्हें मत देखो, उनकी ओर ध्यान मत दीजिए।

प्रभु तेरी महिमा किहि मुख गावैं ॥ टेक ॥

गरभ छमास अगाउ कनक नग सुरपति नगर बनावैं ॥ प्रभु. ॥

क्षीर उदधि जल मेरु सिंहासन, मल मल इन्द्र न्हुलावैं।
दीक्षा समय पालकी बैठो, इन्द्र कहार कहावैं ॥ प्रभु. ॥ १ ॥

समोसरन रिध ज्ञान महातम, किहिविधि सरब बतावैं।
आपन जातकी बात कहा शिव, बात सुनैं भवि जावैं ॥ प्रभु. ॥ २ ॥

पंच कल्यानक थानक स्वामी, जे तुम मन बच ध्यावैं।
'द्यानत' तिनकी कौन कथा है, हम देखैं सुख पावैं ॥ प्रभु. ॥ ३ ॥

हे भगवान! हम किस मुँह से आपकी महिमा का गुणगान करें! आपके गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र के द्वारा रत्न व स्वर्ण से जड़ित नगर की रचना की जाती है।

जन्म के समय इन्द्र मेरू पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से महा-प्रक्षालन करता है और दीक्षा के समय इन्द्र स्वयं कहार बनकर आपको पालकी में बैठा कर ले जाता है।

समवशरण की ऋद्धि अनुपम होती है। उसकी ऋद्धि और आपके ज्ञान के महात्म्य को किस विधि से बताया जाए? दिव्यध्वनि से ज्ञान का उद्‌घाटन होता है। केवल अपने ही चैतन्य स्वरूप की बात करके, सुन करके भव्य पुरुष मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

हे स्वामी! आपके पाँच कल्याणक होते हैं (पाँच कल्याणकारी घटनाएँ होती हैं) उनका जो मन-वचन से ध्यान-चिंतन करते हैं, द्यानतराय कहते हैं कि उनकी तो बात भी निराली है। हम तो उन कल्याणकों की बातों को देख सुनकर ही सुखी/आनन्दित हो जाते हैं।

नग = पर्वत; महातम - महात्म्य, महिमा।

प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी ॥ टेक ॥
गणधर कहत पार नहिं पावैं, कहा बुद्धि है मेरी ॥ प्रभु. ॥

शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि, तुम जस होत न पूरा।
एक जीभ कैसैं गुण गावै, उलू कहै किमि सूरा ॥ प्रभु. ॥ १ ॥

चमर छत्र सिंघासन बरनों, ये गुण तुमतैं न्यारे।
तुम गुण कहन वचन बल नाहीं, नैन गिनैं किमि तारे ॥ प्रभु. ॥ २ ॥

हे प्रभु! मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ! आपके गुणों का कथन करने में गणधर भी समर्थ नहीं हो सके तब उन गुणों की गणना करने हेतु मुझ अल्पबुद्धि की क्षमता ही क्या है?

इन्द्र की पर्याय लेकर सैकड़ों जिह्वाओं का बल धारण करके भी आपके यश का पूर्ण गुणगान नहीं किया जा सकता। तब एक जिह्वा से आपका यशोगान कैसे किया जा सकता है? अर्थात् नहीं किया जा सकता। सूर्य कैसा है--क्या उलूक (उल्लू) इसका कथन कर सकता है?

सामान्यत: सभी आप के यशगान हेतु छत्र, चँवर, सिंहासन आदि प्रातिहार्यों का कथन करते हैं, पर ये छत्र, चँवर आदि सब तो आपसे सर्वथा भिन्न हैं। आपके गुणों का कथन-वर्णन की सामर्थ्य वचन-शक्ति में नहीं है। क्या कभी इन नेत्रों से तारों की गणना की जा सकती है?

(२०८)

प्रभुजी मोहि फिकर अपार॥ टेक॥
दान व्रत नहिं होत हमपै, होंहिंगे क्यों पार॥ प्रभु.॥

एक गुन श्रुत कहि सकत नहिं, तुम अनन्त भँडार।
भगति तेरी बनत नाहीं, मुकतकी दातार॥ प्रभु.॥ १॥

एक भवके दोष केई, थूल कहूँ पुकार।
तुम अनन्त जनम निहारे, दोष अपरंपार॥ प्रभु.॥ २॥

नांव दीनदयाल तेरो, तरनतारनहार।
बंदना 'द्यानत' करते हैं, ज्यों बनै त्यों तार॥ प्रभु.॥ ३॥

हे प्रभु! मुझे अतीव चिन्ता है। मुझसे दान, व्रत कुछ भी नहीं होता, कुछ भी नहीं सधता। तब किस प्रकार इस संसार-सागर से पार हो सकूँगा?

आपके अनन्त गुण हैं, आप गुणों के भण्डार हैं। परन्तु मैंने आपके किसी एक गुण की भी स्तुति नहीं की। मुक्ति की ओर अग्रसर करनेवाली आपकी भक्ति भी मुझसे नहीं हो पाती-नहीं बन पाती, मैं कैसे पार हो सकूँगा?

मैं स्थूल रूप से मात्र यह ही कह सकता हूँ कि मेरे एक भव में ही अनेक प्रकार के दोष हैं। जबकि आप अनन्त जन्मों को जानते हैं अर्थात् भूत, भविष्य व वर्तमान की समस्त पर्यायों को जानते हैं, उनमें अपार/जिनका पार नहीं पाया जा सकता वे सब दोष हैं और वे आपको दीख रहे हैं।

आपका नाम दीनदयाल है अर्थात् आप दीनों के प्रति दयालु हैं। आप स्वयं तिरने व अन्यजनों को तारनेवाले हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जैसे भी बने आप मुझे इस भवसागर से तार दें, इसके पार लगा दें।

नांव - नाम।

भजो जी भजो जिनचरनकमलको, छांडि विषय आमोदै जी॥ टेक॥

भाग उदय नरदेही पाई, अब मत जाहि निगोदै जी॥ भजो.॥ १॥

विषय भोग पाहनके वाहन, भव-जलमाहिं डुबो दै जी॥ भजो.॥ २॥

'द्यानत' और फिकर तज भज प्रभु, जो चाहै सो सो दै जी॥ भजो.॥ ३॥

सभी इन्द्रिय-विषयों का त्याग करके श्री जिनेन्द्र के चरण-कमल का भजन करो, वह आनन्ददायक है।

भाग्य से नर-देह मिली है इसका सदुपयोग करो, जिससे फिर निगोद में न जाना पड़े।

विषयभोग तो पत्थर की नाव से समान हैं जो भवसमुद्र के जल में डुबो देती है।

द्यानतराय कहते हैं कि सब प्रकार के विकल्पों से मुक्त होकर, चिन्ता छोड़कर प्रभु का भजन कर। ये ही मनवांछित फलदाता हैं।

(२१०)

भवि! पूजौ मन वच श्रीजिनन्द, चितचकोर सुख करन इंद॥ टेक॥

कुमतिकुमुदिनीहरनसूर, विघनसघनवनदहन भूर॥ भवि.॥ १॥

पाप उरग प्रभु नाम मोर, मोह-महा-तम दलन भोर॥ भवि.॥ २॥

दुख-दालिद-हर अनघ-रैन, 'द्यानत' प्रभु दैं परम चैन॥ भवि.॥ ३॥

हे भव्य! मनोयोग और वचनयोग से श्रीजिनेन्द्र की पूजा कर, जो तेरे चित्तरूपी चकोर को प्रसन्न, सुखी करने के लिए चन्द्रमा के समान हैं।

जो कुमतिरूपी कुमुदिनी (जो रात्रि को ही खिलती है) को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो कठिनाइयों के घने समूहरूपी वन को जलाकर भस्म कर देनेवाले हैं।

हे प्रभु! आपका नाम पापरूपी सर्प के लिए मयूर (मोर) की भाँति है। आपका गुण-चिंतन, आपका नाम मोहरूपी महाअंधकार का नाशकर भोर के समान है।

द्यानतराय कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान दुःखरूपी दरिद्रता का हरण (नाश/समाप्त) करने के लिए निर्मल (उज्ज्वल/दागरहित/सुन्दर) रत्न हैं। ऐसे प्रभु परमशांति के दाता हैं।

इंद → इंदु - चन्द्रमा; उरग = साँप; सूर - सूरज; अनघ - निष्कलुष, निर्मल, दागरहित; रैन = रत्न।

(२११)

भोर उठ तेरो, मुख देखों जिनदेवा! ॥ टेक ॥

देवनके नाथ इन्द्र तेतो पूजैं मुनिवृन्द, ताके पति गनधर करैं तेरी सेवा ॥ १ ॥

अतिशय कारज वसु प्रतिहारज, अनँत चतुष्ठय ठाकुर एवा ॥ २ ॥

'द्यानत' तारौ इतनौ विचारौ, इसकौं एक हमारो सेवा ॥ ३ ॥

हे जिनेन्द्रदेव! (मेरा अहो भाग्य है कि मैं) नित्य प्रात: उठकर आपके दर्शन करता/पाता हूँ। देवों के देव इन्द्र भी आपकी पूजा करते हैं। मुनिजनों के प्रमुख गणधरदेव भी आपकी सेवा करते हैं। ऐसे महिमावान हैं आप, (मेरा अहोभाग्य है कि मैं) नित्य प्रात: उठकर आपके दर्शन करता/पाता हूँ।

आप अतिशयकारी अष्ट प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं, अनन्त चतुष्टय के धनी/स्वामी हैं।

द्यानतराय विनती करते हैं कि हे भगवन्! आप इतना विचार करके कि इसे केवल हमारा ही सहारा है हमें इस भवसागर से तार दीजिए।

अष्ट प्रातिहार्य - १. अशोकवृक्ष, २. सिंहासन, ३. सिर पर तीन छत्र, ४. भामण्डल, ५. दिव्यध्वनि, ६. देवकृत पुष्पवृष्टि, ७. यक्षों द्वारा ६४ चमर ढुराना, ८. दुन्दुभि बजना।
अनन्त चतुष्टय - अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य।

(२१२)

रे! मन गाय लै, मन गाय लै, श्रीजिनराय॥ टेक॥

भवदुख चूरैं आनंद पूरैं, मंगलके समुदाय॥ रे मन.॥ १॥

सबके स्वामी अन्तरजामी, सेवत सुरपति पाय॥ रे मन.॥ २॥

कर ले पूजा और न दूजा, 'द्यानत' मन-वच-काय॥ रे मन.॥ ३॥

अरे मेरे मन! तू श्री जिनराय के गीत गा, उनका भजन कर।

इससे भव-भव के दु:खों का नाश होता है और सब मंगल होता है, शुभ के समूह का आगमन होता है।

वे सबके स्वामी हैं, अन्तर्यामी/सर्वज्ञ हैं। इन्द्र आदि देव भी उनके चरणों की पूजा करते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि तू भी मन, वचन, काय से इनकी पूजा-भक्ति कर। इनके समान दूसरा कोई नहीं है।

(२१३)

रे मन! भज भज दीनदयाल॥ टेक॥
जाके नाम लेत इन छिनमैं, कटैं कोट अघजाल॥ रे मन.॥

परमब्रह्म परमेश्वर स्वामी, देखैं होत निहाल।
सुमरन करत परम सुख पावत, सेवत भाजै काल॥ रे मन.॥ १॥

इंद फनिंद चक्रधर गावैं, जाको नाम रसाल।
जाको नाम ज्ञान परगासै, नाशै मिथ्याजाल॥ रे मन.॥ २॥

जाके नाम समान नहीं कछु, ऊरध मध्य पताल।
सोई नाम जपो नित 'द्यानत', छांडि विषय विकराल॥ रे मन.॥ ३॥

ऐ मेरे मन! तू उस दीनदयाल का सदा स्मरण कर। उसका भजन कर, जिसका नाम लेते ही क्षणभर में करोड़ों (संख्यात) पापों के समूह का, पापों के जाल का नाश हो जाता है।

वे ऐसे परम ब्रह्म, परम ईश्वर, स्वामी हैं जिनको देखने से, जिनके दर्शन से जीवन कृतकृत्य हो जाता है, धन्य हो जाता है। उनके गुण-स्मरण से मन में सुखानुभूति होती है। उनकी पूजा व भक्ति आदि से मृत्यु का भय, संकट भी टल जाता है।

इन्द्र, नगेन्द्र, चक्रवर्ती आदि भक्तिपूर्वक उनका सरस गुणगान करते हैं। उनके नाम-स्मरण से ही ज्ञान का उजास हो जाता है। उनके गुण-स्मरण से मिथ्यात्व का जाल छिन्न-छिन्न हो जाता है।

जिनके नाम की, गुणों की समता करनेवाला ऊर्ध्व, मध्य और पाताल अर्थात् तीन लोकों में कोई भी नहीं है। द्यानतराय कहते हैं कि इन्द्रिय-विषयों को, जिनका परिणाम दारुण दु:खदायी, विकराल व भयावना है, छोड़कर एकमात्र उसके ही नाम का, गुणों का नित्य निरन्तर जाप करो।

(२१४)

वीतराग नाम सुमर, वीतराग नाम।। टेक।।
भजन बिना किये यार, होगा बदनाम।। वीतराग.।।

जाको करै धूमधाम, सो तो धूमधाम।
पातशाह होय चुके, सर्यो कौन काम।। वीतराग।। १।।

बातैं परवीन करै, काम करै खाम।
काल सिंह आवत है, पकर एक ठाम।। वीतराग.।। २।।

आठ जाम लागि रह्यौ, चाम निरख दाम।
'द्यानत' कबहूँ न भूल, साहिब अभिराम।। वीतराग.।। ३।।

हे जीव! तू केवल उसके नाम का स्मरण कर जिसके राग-द्वेष समाप्त हो गए हों। वह वीतराग है, उसके गुणगान का बहुमान किए बिना, तेरी सब जगह बदनामी ही होगी।

जिस पुद्गल के लिए तूने इतनी धूमधाम, इतना आडंबर कर रखा है, वह सब मात्र आडंबर है। अरे तुम बादशाह भी हो गए तो इससे तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ?

चतुराई की बातें करते हुए भी तू जो कार्य कर रहा है वे तो खामियों से, कमियों से भरे हुए हैं। जब कालरूपी सिंह आ जायेगा तो वह तुझे पकड़कर ले जावेगा।

तू अब तक आठों पहर अपनी देह की, चाम की ही देख-रेख करने, उसे निरखने-सँवारने में ही लगा रहा। अपनी चमड़ी को सहलाता-सँभालता रहा है। द्यानतराय कहते हैं कि तू कभी भी मत भूल कि तेरा साहिब, तेरा मालिक 'आत्मा' अत्यन्त सुन्दर है।

(२१५)

बंदे! तू बंदगी ना भूल ॥ टेक ॥

चाहता है सुख पोषिवेको, यह तौ सूल उसूल ॥ बंदे. ॥

जो कोई तुझे सूल बोवै, बो उसे तू फूल।
तुझे फूलके फूल होंगे, उसे सूलके सूल ॥ बंदे. ॥ १ ॥

आया है क्या लेके बंदे, क्या ले जायेगा धूल।
कर खैरात साहिब के नामसे, पाप जलै ज्यों तूल ॥ बंदे. ॥ २ ॥

एक साइत फरामोस न हूजै, सीख सुनो यह भूल।
'द्यानत' पाक बेएब साहिबके, नामको कर कुबूल ॥ बंदे ॥ ३ ॥

हे भक्त! तू भगवान की भक्ति-पूजा-वंदना करना मत भूल। तू अपने भोग के लिए, विषयों के पोषण के लिए सुख चाहता है। यह कामना - यह वांछा ही सिद्धांततः शूल के समान है।

जो कोई भी तेरे लिए कांटे बोवे, तू उसके लिए फूल उपजा। तुझे फूल के फलरूप/बदले में फूल प्राप्त होंगे और उसे शूल के फलरूप/बदले में शूल प्राप्त होंगे।

तू आया था तब क्या लेकर आया था और जाते समय क्या धूल अपने साथ ले जायेगा? कुछ दान उस प्रभु का नाम लेकर कर तो तेरे पाप घास के ढेर के समान जल जाएँगे।

तू यह आधारभूत सीख सुन कि तू एक घड़ी भी उस भगवान को विस्मृत मत कर। द्यानतराय कहते हैं कि सर्वदोषों से मुक्त, सर्वगुणसम्पन्न अपने प्रभु के नाम का स्मरण कर, उसे ही अंगीकार कर।

बंदे = मनुष्य; बंदगी = भक्ति, वंदना; उसूल = नियम, सिद्धान्त; साइत - साअत · घड़ी, समय; फरामोस-फरामोश = भूलना, विस्मरण; पाक - पवित्र; बेएब - दोषरहित।

(२१६)

बंदे तू बंदगी कर याद॥ टेक॥
जिन कामोंमें तू लगा है, वे बातें सब बाद॥ बंदे.॥

कौन तेरा तू है किसका, एकला सु अनाद।
लोकरंजनके लिये ना, पड़ि करमके नाद॥ बंदे.॥ १॥

भोजन आसन नींद सुदिढ़, छोड़ दे उनमाद।
संग त्याग सु सदा जाग रे, भज समाधीस्वाद॥ बंदे.॥ २॥

जीवत मृत्यक हो रहा है तजिये हरष विषाद।
'द्यानत' ब्रह्मज्ञानसुख रमिये, ना करिये बकवाद॥ बंदे.॥ ३॥

अरे भक्त! तू भक्ति करना याद रख। जिन कामों में तू उलझ रहा है वे सब बातें व्यर्थ हैं, निरर्थक हैं।

सोच, कौन तेरा है? तू किसका है? तू अकेला है। अनाथ है? लोक को, दुनिया को प्रसन्न करने के लिए तू कर्मों के स्वर में स्वर मत मिला अर्थात् उनके कहने में, बहकावे में मत पड़।

भोजन, आसन और निद्रा के कारण उत्पन्न आलस्य व मस्ती को छोड़ दे। तू परिग्रह को छोड़कर, जाग्रत रह और ध्यान-समाधि के रस का आस्वादन कर।

तू जीता हुआ भी मरे के समान हो रहा है। सब हर्ष व विषाद को छोड़कर समता में रह। द्यानतराय कहते हैं कि तू सब बकवास, निरर्थक बातें बन्द करके ब्रह्मज्ञान में अर्थात् ध्यान-समाधि के सुख में रम जा।

बाद - व्यर्थ, निरर्थक; नाद = ऊँची आवाज, गरजना, कोलाहल; अनाद = अ-नाद = शान्त; उन्माद = अत्यधिक अनुराग।

सच्चा सांई, तू ही है मेरा प्रतिपाल॥ टेक॥

तात मात सुत शरन न कोई, नेह लगा है तेरे नाल॥ सच्चा.॥ १॥

तनदुख मनदुख जनदुखमाहीं, सेवक निपट बिहाल॥ सच्चा.॥ २॥

'द्यानत' तुम बहु तारनहारे, हमहुको लेहु निकाल॥ सच्चा.॥ ३॥

हे मेरे स्वामी! तू ही मेरा सच्चा रक्षक है।

ये माता-पिता पुत्र कोई भी मेरे नहीं हैं, उनकी मुझे कोई शरण या संरक्षण नहीं है। मुझको तेरे साथ (तुझसे) अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई है।

इस देह का दु:ख, मन का दु:ख व सबजनों में अपनेपन का दु:ख, उन सब में आपके इस सेवकका हाल-बेहाल हो रहा है।

द्यानतराय कहते हैं कि आप बहुतजनों को तारनेवाले हो। अब हमको भी इस भवसागर से बाहर निकाल लो।

साईं = स्वामी; तेरे नाल = तेरे साथ (तुझसे)।

सेठ सुदरसन तारनहार॥ टेक॥

तीन बार दिढ़ शील अखंडित, पालैं महिमा भई अपार॥ सेठ.॥ १॥

सूलीतैं सिंघासन हूवा, सुर मिलि कीनौं जैजैकार॥ सेठ.॥ २॥

सह उपसर्ग लह्यो केवलपद, 'द्यानत' पायो मुकतिदुवार॥ सेठ.॥ ३॥

हे भगवन्! आप सेठ सुदर्शन को तारनेवाले हैं। उस सेठ सुदर्शन को जिसने तीन बार अखंडित शील की महिमा को, शील की दृढ़ता को यथावत रखकर अर्थात् शील का पालनकर अत्यन्त यश को प्राप्त किया, जिसका कोई पार नहीं है।

उस सेठ सुदर्शन को जिसके फांसी के तख्ते पर लटक रही प्राणघातक डोरी भी सिंहासनरूप परिवर्तित हो गई और देवताओं ने मिलकर/एकत्र होकर उनका व आपका जय-जयकार किया।

जिनने उपसर्ग सहकर कैवल्य की प्राप्ति की। द्यानतराय कहते हैं कि उनने मुक्ति का द्वार पा लिया।

(२१९)

हम आये हैं जिनभूप!, तेरे दरसन को॥ टेक॥

निकसे घर आरतिकूप, तुम पद परसनको॥ हम.॥ १॥

बैननिसों सुगुन निरूप, चाहैं दरसनकों॥ हम.॥ २॥

'द्यानत' ध्यावै मन रूप, आनँद बरसन को॥ हम.॥ ३॥

हे जिनराय! हम आपके दर्शन करने को आए हैं।

उस घर से बाहर निकलकर जो दु:खों का कुआँ हैं, हम तेरे पद का, तेरे चरण-कमल का स्पर्शन करने आए हैं।

हे अरूपी! हम वचनों से आपका गुण-स्तवन करते हैं और आपके रूप के दर्शन की कामना करते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि मन में आपका ध्यान-चिंतवन करते हैं, तब आनंद बरस पड़ता है अर्थात् मन आनन्द से भर-भर जाता है।

हे जिनराजजी, मोहि दुखतैं लेहु छुड़ाइ॥ टेक॥

तनदुख, मनदुख, स्वजनदुख, धनदुख कह्यो न जाइ॥ हे जिन.॥ १॥

इष्टवियोग अनिष्टसमागम, रोग सोग बहु भाइ॥ हे जिन.॥ २॥

गरभ जनम मृत बाल विरध दुख, भोगे धरि धरि काइ॥ हे जिन.॥ ३॥

नरक निगोद अनन्ती बिरियां, करि करि विषय कषाइ॥ हे जिन.॥ ४॥

पंच परावर्तन बहु कीनें, तुम जानों जिनराइ॥ हे जिन.॥ ५॥

भववन भ्रमतम दुखदव जम हर, तुम बिन कौन सहाइ॥ हे जिन.॥ ६॥

'द्यानत' हम कछु चाहत नाहीं, भव भव दरस दिखाइ॥ हे जिन.॥ ७॥

हे श्री जिनराज! मुझे दु:खों से छुड़ाओ, दु:खों से मुक्त करो।

मुझे तन का, मन का, अपने परिजनों का व धन का सब का दु:ख है, जिनका कथन नहीं किया जा सकता।

अपने प्रियजनों से विछोह और अन्य अप्रियजनों से मेल, रोग और शोक इन सब की अधिकता है।

बार-बार अनेक देह के धारण कर गर्भ, जन्म, मृत्यु, बचपन, बुढ़ापा आदि के दु:ख भोगे हैं।

विषय-भोगों में लीन रहकर, कषायों में रत रहकर मैं अनंतबार नरक में गया, निगोद में गया।

इन इंद्रिय-विषय-कषायों के कारण अनेक बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के परावर्तन पूरे किए हैं। हे जिनराय! वे सब आप जानते हैं।

यह भवरूपी वन है जहाँ भ्रमरूपी अंधकार है, दु:खों की दाह/अग्नि है, मृत्यु का दु:ख है जिन्हें दूर करने के लिए आपके अतिरिक्त और कौन सहाई है? अर्थात्

आप ही एकमात्र सहायक हैं, आपही एक मात्र सहारा हैं। द्यानतराय कहते हैं कि हम आपसे कोई अन्य याचना नहीं करते। केवल यह ही चाहते हैं कि भव-भव में आपके दर्शनों का लाभ हमें प्राप्त होता रहे।

काइ = काया, शरीर, देह।

(२२१)

हो श्रीजिनराज नीतिराजा! कीजै न्याव हमारो॥ टेक॥

चेतन एक सु मैं जड़ बहु ये, दोनों ओर निहारो॥ हो.॥ १॥

हम तुममाहिं भेद इन कीनों, दीनों दुख अति भारो॥ हो.॥ २॥

'द्यानत' सन्त जान सुख दीजे, दुष्टैं देश निकारो॥ हो.॥ ३॥

हे जिनराय। आप सर्वश्रेष्ठ नीतिज्ञ हैं। आप हमारा न्याय कीजिए।

मैं चेतन एक हूँ-अकेला हूँ और ये पुद्गल बहुत सारे हैं। दोनों की ओर देखिए।

इन कर्मों ने ही आपमें व मुझमें भेद कर रखा है अर्थात् आपमें व मुझमें जो भेद है इन कर्मों का ही है, इन कर्मों के ही कारण है। आप कर्मरहित हैं और हम कर्मसहित। ये कर्म बहुत दुःखदायक हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि हमें भी भला जानकर सुख दीजिए और (कर्म) जो दुष्ट हैं, उन्हें देश निकाला दीजिए अर्थात् दुष्टों को बाहर निकालिए।

(२२२)

राग दुलरीकी ढाल

श्रीजिनदेव! न छांडि हों, सेवा मन वच काय हो॥ टेक॥
सब देवनिके देव हो, सब गुरुके गुरुराय हो॥ श्री.॥

गरभ जनम तप ज्ञान शिव, पंचकल्यानक-ईश हो।
पूजैं त्रिभुवनपति सदा, तुमको श्रीजगदीश हो॥ श्री.॥ १॥

दोष अठारह छय गये, गुणहि छियालिस खान हो।
महा दुखीको देत हो, बड़े रतनको दान हो॥ श्री.॥ २॥

नाम थापना, दरबको, भाव खेत अरु काल हो।
षट विधि मंगल जे करैं, दुख नासै सुखमाल हो॥ श्री.॥ ३॥

एक दरब कर जो भजै, सो पावै सुख सार हो।
आठ दरब ले हम जजैं, क्यों नहिं उतरैं पार हो॥ श्री.॥ ४॥

गुन अनन्त भगवन्तजी, कहि न सकैं सुरराय हो।
बुद्धि तनकसी मोविषैं, तुम ही होहु सहाय हो॥ श्री.॥ ५॥

तातैं बन्दों जगगुरू! बन्दों दीनदयाल हो।
बन्दों स्वामी लोकके, बन्दों भविजनपाल हो॥ श्री.॥ ६॥

विनती कीनीं भावसों, रोम रोम हरषाय हो।
इस संसार असार में, 'द्यानत' भक्ति उपाय हो॥ श्री.॥ ७॥

हे भव्य! मन, वचन और काय से श्री जिनदेव की सेवाभक्ति को मत छोड़ना। श्री जिनेन्द्रदेव ही सब देवों के देव हैं, सब गुरुओं के गुरु अर्थात् परमगुरु हैं।

हे जिनेन्द्रदेव! हे तीर्थंकर! आपके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष -- ये पाँच कल्याणक होते हैं। हे तीन लोक के नाथ! आप जगत के ईश्वर हो, जिनकी सदैव पूजा होती है।

आपने अठारह दोषों को दूर कर दिया है तथा आपके छियालीस गुण हैं। जो दु:खी हैं उनको आप महान रत्न प्रदान करते हैं।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, भाव और काल - इन छह प्रकार से आप मंगलकारी व दु:ख का नाश करनेवाले सुखदाता हैं।

जो अपने एक आत्मद्रव्य की ही आराधना करते हैं, वे सुख को साररूप में पाते हैं। हम आठ द्रव्य से आपकी पूजा करते हैं, तब भवचक्र से क्यों नहीं पार होंगे अर्थात् अवश्य होंगे।

हे भगवन्! आपके अनन्त गुण हैं, इन्द्र भी उनका वर्णन करने में समर्थ नहीं है। मैं तो अल्पबुद्धि हूँ इसलिए आप मेरी सहायता करें।

हे जगतगुरु, हे दीनदयाल, तीन लोक के स्वामी, भव्यात्माओं के पालक मैं आपकी वंदना करता हूँ।

मैंने भावपूर्वक आपकी स्तुति-विनती की है। मेरा रोम-रोम पुलकित हो रहा है। द्यानतराय कहते हैं कि इस असार संसार से छूटने के लिए आपकी भक्ति ही एकमात्र साधन है, उपाय है।

राग सोरठ

जिनराय! मोहे भरोसो भारी ॥ टेक ॥
सुर नरनाथ विभूति देहु तौ, अब नहिं लागत प्यारी ॥ जिनराय. ॥

सिरीपाल भूपाल विथा गई, लहि सम्पत अधिकारी।
सूली सेठ अगनितैं सीता, कहा भयो जो उबारी ॥ जिनराय. ॥ १ ॥

विदित रूप धुर तसकर तुमतैं, भये अमर अवतारी।
भवसुदत्त अरु सालभद्रकी, किहि कारण रिधि सारी ॥ जिनराय. ॥ २ ॥

भेक स्वान गज सिंह भये सुर, विषय रीति विस्तारी।
कृश्न पिता सुत बहु रिधि पाई, विनाशीक हम धारी ॥ जिनराय. ॥ ३ ॥

जातिविरोध जात जीवनिके, मूरति देखि तिहारी।
मानतुङ्गके बन्धन टूटे, यह शोभा तुम न्यारी ॥ जिनराय. ॥ ४ ॥

तारन तरन सुविरद तिहारो, यह लखि चिन्ता डारी।
'द्यानत' शिवपद आप हि देहो, बनी सु बात हमारी ॥ जिनराय. ॥ ५ ॥

हे जिनराज! मुझे आप पर अत्यन्त भरोसा है, विश्वास है? यदि कोई देव या राजा मुझे कोई वैभव प्रदान करे तो अब वह भी मुझे प्रिय नहीं है।

राजा श्रीपाल ने आप पर विश्वास किया तो उसकी सब व्यथा दूर हो गई, उसे बहुत सम्पत्ति भी मिली। सेठ सुदर्शन को सूली से और सीता को अग्निकुण्ड से बचाने व उबारनेवाले आप ही हैं।

अंजन चोर के रूप में विख्यात भी देवगति को प्राप्त हुए। सुदत्त व भद्रसाल किस कारण सब ऋद्धि के स्वामी हुए?

मेंढक, कुत्ता, गज और सिंह सब देव पद को प्राप्त हुए और उस व्यवस्था का विस्तार किया। प्रद्युम्न ने कष्टों को नष्ट करनेवाले आपका आधार लिया और बहुत प्रकार की ऋद्धि पाई।

आपके दर्शन करने से प्राणियों का जातिगत विरोध भी मिट जाता है, समाप्त हो जाता है। आपके गुणानुवाद से मानतुंग के बंधन भी टूट गए। आपकी महिमा, शोभा ऐसी ही निराली है।

आपका विरद स्व-पर दोनों को तारनेवाला है, उद्धारक है। यह देखकर सब चिन्ताएँ दूर हो गई हैं। द्यानतराय कहते हैं कि आप हमें भी मोक्ष पद देवें, तब हमारी बात बने।

भेक = मेंढक; विरद → विरुद - कीर्तिगाथा।

(२२४)

अब समझ कही ॥ टेक ॥

कौन कौन आपद विषयनितैं, नरक निगोद सही ॥ अब. ॥ १ ॥

एक एक इन्द्री दुखदानी, पांचौं दुखत नही ॥ अब. ॥ २ ॥

'द्यानत' संजम कारजकारी, धरौ तरौ सब ही ॥ अब. ॥ ३ ॥

हे जिय! मुझे अब जो समझ आई है सो कहता हूँ कि विषयों के कारण नरक व निगोद में क्या-क्या दु:ख, कौन-कौन-से दु:ख सहे हैं।

एक-एक इन्द्रिय अनेक दु:ख देनेवाली है, उनके अपने-अपने अलग-अलग दु:ख हैं। फिर पाँचों इन्द्रियों के दु:खों की तो बात ही क्या?

द्यानतराय कहते हैं कि संयम ही कार्यकारी है। संयम धारण करके सब ही तिर सकते हैं।

(२२५)

आरसी देखत मन आर-सी लागी ॥ टेक ॥

सेत बाल यह दूत कालको, जोवन मृग जरा बाघिनि खागी ॥ आरसी. ॥ १ ॥

चक्री भरत भावना भाई, चौदह रतन नवों निधि त्यागी ॥ आरसी. ॥ २ ॥

'द्यानत' दीच्छा लेत महूरत, केवलज्ञान कला घट जागी ॥ आरसी. ॥ ३ ॥

दर्पण को देखकर हृदय में एक आरे-सी, सुई के समान चुभन हो गई।

दर्पण देखा तो उसमें अपने सफेद बाल दिखाई दिये, सफेद बाल काल को/मृत्यु का एक दूत है अर्थात् बीत रहे जीवन का सूचक है। और दिखाई दिया कि यौवनरूपी मृग को बुढ़ापेरूपी बाघिन खा गई।

भरत चक्रवर्ती ने भावनाओं का चिन्तवन किया। नौ निधि और चौदह रत्न को त्याग दिया।

द्यानतराय कहते हैं कि जिसके कारण दीक्षा लेने के मुहूर्त में ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई अर्थात् केवलज्ञान की व्यवस्था - कला - समझ में आ गई।

आरसी - दर्पण; आर → आरी = लकड़ी चीरने का दाँतेदार औजार।

(२२६)

राग धनासरी

कर सतसंगति रे भाई! ॥ टेक ॥

पान परत नरपतकर सो तो, पाननिसों कर असनाई ॥ कर. ॥

चंदन पास नींम चन्दन ह्वै, काठ चढ़यो लोह तर जाई।
पारस परस कुधातु कनक ह्वै, बूंद उदधि-पदवी पाई ॥ कर. ॥ १ ॥

करई तूंवरी संगतिके फल, मधुर मधुर सुर करि गाई।
विष गुन करत संग औषधके, ज्यों बच खाय मिटै बाई ॥ कर. ॥ २ ॥

दोष घटै प्रगटै गुन मनसा, निरमल ह्वै तजि चपलाई।
'द्यानत' धन्य धन्य जिनके घट, सतसंगति सरधा आई ॥ कर. ॥ ३ ॥

हे भाई! तू भले लोगों के साथ रह, उनकी संगति कर। नागरबेल का पान खाने वाले राजा के हाथ में पान के साथ वह साधारण पत्ता भी, जिसमें पान का बीड़ा लिपटा कर रखा जाता है, पहुँच जाता है। अर्थात् नागरबेल के पत्ते की संगति के कारण साधारण पेड़ का पत्ता भी राजा के हाथों में पहुँच जाता है।

चंदन वृक्ष के पास का नीम का पेड़ भी चन्दन की सुवास में भरा रहता है। लकड़ी की नाव के साथ उसमें लगा हुआ लोहा भी पानी पर तिर जाता है। पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है तथा समुद्र की एक बूँद भी समुद्र के साथ रहकर कहलाने लगती है।

तुंबी (तूमड़ी) कड़वी होती है। परन्तु उसका फल तंबूरे में लगकर मधुर एवं कर्णप्रिय स्वरनाद को गुँजाता है। विष भी औषधि के साथ, औषधि रूप में गुणकारी परिणाम देने लगता है और उसके सेवन से प्राण-रक्षा होती है। जैसे कड़वी बच खाने से वात रोग का शमन होता है।

सत्संगति से दोष घट जाते हैं, गुण प्रकट होते हैं और चपलाई-उग्रता शान्त होकर निर्मलता का प्रादुर्भाव होता है। द्यानतराय कहते हैं कि वे लोग धन्य हैं जिनके मन में सत्संगति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई है।

असनाई = आशनाई, प्रेम, दोस्ती; बच - एक कड़वी औषधि; बाई - वायुरोग, वातरोग।

(२२७)

राग आसावरी जोगिया

काया! तू चल संग हमारै ॥ टेक ॥

निशि दिन दोनों रहें एकठे, अब क्यों नेह निवारै ॥ काया. ॥

पट आभूषन सौंधे आछे, अन्न पात्र नित दीने।
ते सब ले दल मल करि डारे, फिर दीनें रस भीने ॥ काया. ॥ १ ॥

पांच वरन रस पांच गंध दो, फरस आठ सुर सातैं।
सब भुगताये सूम कहाये, दान दियो नहिं जातैं ॥ काया. ॥ २ ॥

तेरे कारन जीव सँहारे, बोल्यो झूठ अपारा।
चोरी की परनारी सेई, डूबे परिग्रह धारा ॥ काया. ॥ ३ ॥

तोहि सगे उद्यम करि पोषे, भूलि न अपना कोई।
एतेपर तू रीझै नाहीं, बुद्धि कहांतैं खोई ॥ काया. ॥ ४ ॥

'द्यानत' सुख दीये तू जानै, कृतघनि! लख उपगारा।
मिथ्या मोहति मरत प्रलापै, भव-वनडोलनहारा ॥ काया. ॥ ५ ॥

ओ मेरी देह! (मृत्यु के बाद) तू भी मेरे साथ चल। रात-दिन तू और मैं दोनों साथ-साथ रहे हैं, अब तू इस प्रेम-बंधन को क्यों तोड़ रही है?

तुझे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाये, आभूषण पहनाये, सुन्दर-सुन्दर पात्रों में तुझको अच्छा-स्वादिष्ट भोजन सुलभ कराया गया, उन सब को मथकर तूने मलरूप कर दिया - मैला बना दिया, फिर भी/उसके बाद भी तुझे सदा रसवान पदार्थ दिए जाते रहे।

पाँच रंग, पाँच रस, दो गंध व आठ स्पर्श, इन सबका भोग किया पर इनका दान नहीं किया, इसलिए सूम-कंजूस कहलाए।

ओ मेरी देह! तेरे कारण मैंने अनेक जीवों का घात किया, बहुत झूठ बोला, चोरी की, परनारी का सेवन भी किया और बहुत परिग्रह भी जुटाया। तेरे लिए

इतना कुछ किया अब तो तू मेरे साथ चल! तुझे अपना मानकर, परिश्रम करके तेरा पोषण किया और यह भूल गए कि यहाँ कोई भी अपना नहीं है। इस पर भी तू प्रसन्न नहीं होती, मैंने कहाँ तक अपनी समझ खो दी!

द्यानतराय कहते हैं कि मैंने तुझे क्या-क्या सुख दिए, तू सब जानती है! अरे कृतघ्नी! तुझ पर किए उपकारों को तो जरा देख। इस मिथ्यात्व और मोह के कारण अन्यजनों की मृत्यु के समय तथा अपनी देहत्याग के समय विलाप किया और इस कारण भव-भव में मैं भ्रमण करता रहा।

[illegible] -- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पाँच वर्ण = काला, पीला, नीला, लाल, सफेद; पाँच रस - तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा, मीठा; दो गंध = सुगन्ध, दुर्गन्ध; आठ स्पर्श = मृदु कठोर, स्निग्ध-रूक्ष, शीत उष्ण, गुरु-लघु।

(२२८)

राग मल्हार

काहेको सोचत अति भारी, रे मन! ॥ टेक ॥
पूरब करमनकी थित बाँधी, सो तो टरत न टारी ॥ काहे. ॥

सब दरबनिकी तीन कालकी, विधि न्यारीकी न्यारी।
केवलज्ञानविषैं प्रतिभासी, सो सो ह्वै है सारी ॥ काहे. ॥ १ ॥

सोच किये बहु बंध बढ़त है, उपजत है दुख ख्वारी।
चिंता चिता समान बखानी, बुद्धि करत है कारी ॥ काहे. ॥ २ ॥

रोग सोग उपजत चिंतातैं, कहौ कौन गुनवारी।
'द्यानत' अनुभव करि शिव पहुँचे, जिन चिंता सब जारी ॥ काहे. ॥ ३ ॥

अरे मन! तू क्यों-किसलिए इतना सोचता है! पूर्व में किए हुए कर्मों का स्थिति बंध हो चुका है, वह किसी भी प्रकार से टाला नहीं जा सकता अर्थात् वह सब तो भोगना ही है।

तीनों काल भूत, भविष्यत, वर्तमान में सभी द्रव्यों की अपनी-अपनी अलग-अलग परिणति है। वे सब परिणतियाँ केवल ज्ञान में प्रत्यक्ष भासती हैं, दीखती हैं, वे सब वैसी ही होंगी।

जितना-जितना सोच विचार होता है, उतना संक्लेश बढ़ता है। उससे कर्मबंध होता है, तो दुःख ही बढ़ता है। चिन्ता चिता के समान कही जाती है, उससे बुद्धि जल जाती है, नष्ट हो जाती है, काली हो जाती है।

चिन्ता के कारण रोग व शोक दोनों ही बढ़ते हैं। उनसे किसी भी प्रकार गुणों की वृद्धि नहीं होती। द्यानतराय कहते हैं कि जिसने इस प्रकार जान लिया, उन्होंने अनुभव किया और मोक्ष प्राप्त किया, उन्होंने चिन्ताओं को ही समूल नष्ट कर दिया।

(२२९)

कौन काम अब मैंने कीनों, लीनों सुर अवतार हो॥ टेक॥

गृह तजि गहे महाव्रत शिवहित, विफल फल्यो आचार हो॥ कौन.॥ १॥

संयम शील ध्यान तप खय भयो, अव्रत विषय दुखकार हो॥ कौन.॥ २॥

'द्यानत' कब यह थिति पूरी है, लहौं मुकतपद सार हो॥ कौन.॥ ३॥

अरे, ऐसा मैंने कौन-सा सुकार्य किया था, जिसके कारण मैंने स्वर्ग में जन्म लिया!

मैंने घर-बार छोड़कर मोक्ष की प्राप्ति हेतु महाव्रत को धारण किया, उनका पालन किया, उस आचरण का यह फल मिला कि मुझे देव पर्याय मिली। इस देव पर्याय में संयम, शील, ध्यान, तप आदि नष्ट हो गये और यहाँ विषय-भोग और अव्रत मिले जो दुखदायी हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि अब यह स्थिति (आयु) कब पूरी हो और कब सारवान मोक्षरूपी पद की प्राप्ति हो! अर्थात् वह मनुष्य पर्याय कब मिले जिसमें संयम, तप, शील और ध्यान हो, क्योंकि इनकी चरमस्थिति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, उससे हीन स्थिति शुभ फल को ही दायक हो सकती है।

कौन काम मैंने कीनों अब, लीनों नरक निवास हो ।। टेक ।।
बहुतनि तप करि सुर शिव साध्यो, मैं साध्यो दुखरास हो ।।

नरभव लहि बहु जीव सताये, साधे विषय विलास हो ।।
पीतम रिपु रिपु पीतम जानें, मिथ्यामत-विसवास हो ।। कौन. ।। १ ।।

धनके साथी जीव बहुत थे, अब दुख एक न पास हो ।
यहां महादुख भोग छूटिये, राग दोषको नास हो ।। कौन. ।। २ ।।

देव धरम गुरु नव तत्त्वनिकी, सरधा दिढ़ अभ्यास हो ।
'द्यानत' हौं सुखमय अविनाशी, चेतनजोति प्रकाश हो ।। कौन. ।। ३ ।।

हे भाई! मैंने ऐसा कौन-सा कार्य किया कि जिसके कारण मुझे नरक में निवास मिला है? मैंने तो बहुत तप किया, अनेक देवों की भक्ति की। मैंने दु:ख सहन करके साधना भी की!

परन्तु नरभव पाकर मैंने बहुत जीवों को यातना दी, उनको सताया और इन्द्रिय-विषय और भोगों में रत रहा। दुश्मन को अपना प्रिय और प्रिय को अपना दुश्मन समझता रहा। मिथ्या मतों में विश्वास किया।

जब तक मेरे पास धन था, बहुत से लोग मेरे साथी हो गए थे। अब धन नहीं रहा, दु:ख आ पड़ा है, तब एक भी मेरा साथी नहीं है। अब नरक में बहुत दु:ख पाकर छूटूँगा तो राग व द्वेष दोनों का नाश हो और देव, धर्म और गुरु, और नौ तत्वों की श्रद्धा व उनका अभ्यास हो।

द्यानतराय कहते हैं कि तब ही कभी न विनाश को प्राप्त होनेवाले सुख की प्राप्ति होगी और अपनी ही चेतन-ज्योति का अर्थात् ज्ञान का प्रकाश हो सकेगा।

पीतम = प्रिय व्यक्ति

(२३१)

राग सोरठा

गलतानमता कब आवैगा॥ टेक॥
राग-दोष परणति मिट जै है, तब जियरा सुख पावैगा॥ गलता.॥

मैं ही ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मैं, तीनों भेद मिटावैगा।
करता किरिया करमभेद मिटि, एक दरब लौं लावैगा॥ गलता.॥ १॥

निहचैं अमल मलिन व्योहारी, दोनों पक्ष नसावैगा।
भेद गुण गुणीको नहिं ह्वै है, गुरु शिख कौन कहावैगा॥ गलता.॥ २॥

'द्यानत' साधक साधि एक करि, दुविधा दूर बहावैगा।
वचनभेद कहवत सब मिटकै, ज्यों का त्यों ठहरावैगा॥ गलता.॥ ३॥

हे आत्मन्! पुद्गल की इस औदारिक देह में व अन्य देहों में पूरण-गलन के साथ बार-बार नष्ट होता हुआ तू कब अपने शुद्ध स्वरूप में आवेगा? जब तेरे राग व द्वेष दोनों ही दूर होवेंगे तब ही यह जीव आनन्दस्वरूप को प्राप्त करेगा।

मैं ही ज्ञाता हूँ, मैं ही ज्ञान हूँ, मैं ही ज्ञेय हूँ तथा मैं ही अपने स्वभावों का कर्ता हूँ, मैं ही क्रिया हूँ और मैं ही कार्य हूँ - ऐसे सब भेदों को मिटाकर मैं एकमात्र आत्मद्रव्य हूँ। इन सबका समुच्चय एकरूप हूँ - जब ये भाव होंगे तब ही सुख पावेगा।

मैं निश्चय से मलरहित हूँ व व्यवहार दृष्टि से मलसहित हूँ। अपने निश्चय स्वरूप में/शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने पर निश्चय-व्यवहार का भेद मिट जावेगा, बेमानी हो जावेगा। गुण और गुणी का भेद नहीं रहेगा और तब गुरु शिष्य का भेद भी नहीं रहेगा।

द्यानतराय कहते हैं कि मैं कब अपने निश्चयस्वरूप में अर्थात् साधक और साध्य के भेद को मिटाकर, एक होकर इस दुविधा को दूर करूँगा। वचन से कही जानेवाली भिन्न-भिन्न बातों को आत्मसात कर कब मैं अपने एक शुद्धरूप में, जैसा है उसी रूप में, स्थिर होऊँगा!

(२३२)

राग जैजैवंती

चाहत है सुख पै न गाहत है धर्म जीव,
सुखको दिवैया हित भैया नाहिं छतियाँ॥ टेक॥

दुखतैं डरै है पै भरै है अघसेती घट,
दुखको करैया भय दैया दिन रतियां॥ चाहत.॥ १॥

बोयो है बँबूलमूल खायो चाहै अंब भूल,
दाह ज्वर नासनिको सोवै सेज ततियां॥ चाहत.॥ २॥

'द्यानत' है सुख राई दुख मेरुकी कमाई,
देखो राई चेतनकी चतुराई बतियां॥ चाहत.॥ ३॥

हे जीव! तू सुख चाहता है, पर सुख को देनेवाले धर्म को ग्रहण नहीं करता! ऐसी हितकारी बात तेरी छाती में, हिये में, मन में नहीं आती!

तू सदा दुःख से डरता है, पर पापों से तूने अपना घड़ा भर रखा है, जो दुःख का कारण है/दुःख उत्पन्न करनेवाला है और दिन-रात भयदायक अर्थात् भयकारी है।

तेरी बातें ऐसी हैं जैसे कोई बबूल बोकर भूल से आम खाना चाहता है। जैसे कोई दाह व ज्वर का नाश करने के लिए गर्म-गर्म (तप्त) सेज पर सोता हो?

द्यानतराय कहते हैं कि सुख राई के समान अत्यन्त अल्प/सूक्ष्म लगता है और दुःख मेरु के समान दीर्घ-विशाल लगता है। फिर भी इस चेतन राजा की चतुराई-भरी बातों को तो देखो कि वह बिना किसी यत्न के सदा सुख की कामना करता है!

अंब - आम; बायो - बोया है।

(२३३)

चेतन! मान हमारी बतियां ॥ टेक ॥

यह देही तुझ लार न चलसी, क्यों पोषै दिन रतियां ॥ चेतन. ॥ १ ॥

जीवघाततैं नरक जायसी, आँच सहोगे ततियां ॥ चेतन. ॥ २ ॥

'द्यानत' सुरग मुकति सुखदाई, करुणा आनो छतियां ॥ चेतन. ॥ ३ ॥

अरे चेतन, तू हमारी बात मान ले।

देख यह देह तेरे साथ जानेवाली नहीं है। फिर भी तू दिन-रात इसका पोषण क्यों करता है?

हे चेतन! प्राणियों के जीवन का घात करने के कारण हिंसा के दोषी होकर नरक को जाना होगा और वहाँ अग्नि की दग्धता - ताप में झुलसना पड़ेगा, दु:ख भोगना पड़ेगा।

द्यानतराय कहते हैं कि तुम अपने हृदय में करुणा को धारण करो, जो सुख को देनेवाली है, सुखदाता है। उससे ही स्वर्ग व मुक्ति के सुखों की प्राप्ति हो सकेगी।

(२३४)

राग गौरी

चेत रे! प्रानी! चेत रे!, तेरी आव है थोरी॥ टेक॥
सागरथिति धरि खिर गये, बँधे कालकी डोरी॥ चेत.॥

पाप अनेक उपायकै, माया बहु जोरी।
अन्त समय सँग ना चलै, चलै पापकी बोरी॥ चेत.॥ १॥

मात पिता सुत कामिनी, तू कहत है मोरी।
देहकी देह तेरी नहीं जासों, प्रीति है तोरी॥ चेत.॥ २॥

सिख सुन ले तू कान दे, हो धरमके धोरी।
कहै 'द्यानत' यह सार है, सब बातैं कोरी॥ चेत.॥ ३॥

हे प्राणी! तू चेत, जाग, तेरी आयु थोड़ी ही शेष है।

अरे जिनकी सागरपर्यन्त की आयु-स्थिति थी, वे भी इस काल की डोरी से बँधे होने के कारण समाप्त हो गए, नष्ट हो गए, खिर गए, मिट गए।

हे प्राणी! तूने अनेक पाप कार्य करके बहुत सम्पत्ति का संचय किया। परन्तु अन्त समय पर ये संचित सम्पत्ति साथ नहीं जाती। यदि साथ जाती है तो मात्र उपार्जित पाप (-पुण्य) कर्मों की गठरी, बोरी।

माता-पिता, पुत्र, स्त्री, जिन्हें तू अपना कहता है, वे भी तेरे नहीं हैं, जैसे - तेरी देह भी तेरी अपनी नहीं है। उनसे तेरी प्रीत है अर्थात् जो तेरे नहीं हैं, तू उनसे प्रीत करता है!

हे प्राणी! ध्यानपूर्वक कान लगाकर सुन, तू बहुत धर्मात्मा बनता है। द्यानतराय कहते हैं कि धर्म ही सार है और अन्य सारी बातें निरर्थक व कोरी हैं।

आव - आयु।

(२३५)

जग ठग मित्र न कोय वे॥ टेक॥

सब कोऊ स्वारथको साथी, स्वारथ बिना न होय वे॥ जग.॥ १॥

यह दुनिया है चाहरबाजी, गाफिल होय न सोय वे॥ जग.॥ २॥

'द्यानत' जन तिनपर बलिहारी, जे साधरमी लोय वे॥ जग.॥ ३॥

यह सारा संसार ठग-रूप है, यहाँ पर कोई भी अपना नहीं है, कोई भी मित्र नहीं है।

सब अपने-अपने कार्य के लिए, स्वार्थ के लिए साथी हैं। स्वार्थ के बिना कोई किसी का नहीं है।

यह दुनिया सब कोलाहल/कुटिलता से भरी हुई है, इसमें तू असावधान होकर मत सो।

द्यानतराय कहते हैं कि मैं उन लोगों पर बलिहारी जाता हूँ जो साधर्मी हैं।

चहर = कोलाहल, शोर।

(२३६)

जीव! तैं मूढ़पना कित पायो ॥ टेक ॥
सब जग स्वारथको चाहत है, स्वारथ तोहि न भायो ॥ जीव. ॥

अशुचि अचेत दुष्ट तनमांही, कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निजसुख हरिकै, विषय रोग लपटायो ॥ जीव. ॥ १ ॥

चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो।
तीन लोकको राज छांडिके, भीख मांग न लजायो ॥ जीव. ॥ २ ॥

मूढ़पना मिथ्या जब छूटै, तब तू संत कहायो।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव विलसो, यों सद्गुरु बतलायो ॥ जीव. ॥ ३ ॥

हे जीव! हे ज्ञानी। तूने यह मूढ़पना कहाँ से पाया? सारा जगत स्वार्थ को चाहता है, परन्तु तुझे स्व अर्थ (स्व के लिए, स्व का भला) रुचिकर नहीं हुआ।

यह पुद्गल देह है, यह अचेतन है, जड़ है, अपवित्र है, अशुचि से दूषित है। क्या जानकर तू इसमें ठहरा हुआ है? तेरी अपनी आत्मा तो अपने ही अतीन्द्रिय सुख से पूरित होकर सर्वश्रेष्ठ है। तूने उसे छोड़कर अपने को इन्द्रिय विषयरूपी रोगों से लिपटा रखा है!

तू चेतन स्वभाववाला है, फिर तू जड़ क्यों हो रहा है? क्यों अपने स्वरूप को भूला जा रहा है। तू त्रिलोक का स्वामी है, सर्वज्ञ है। अपना ऐसा स्वरूप भूलकर तुझे अन्यत्र भीख माँगते तनिक भी लज्जा नहीं आती?

मूर्खतावश हुए इस विपरीत श्रद्धान अर्थात् मिथ्यात्व को जब तू छोड़े, तब तू संत कहलाये। द्यानतराय कहते हैं कि सद्गुरु यह उपदेश देते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति होने पर यह आत्मा अनन्त सुख का भोक्ता होता है।

स्वारथ = स्व-अरथ, अपने लिए।

राग आशावरी जोगिया

जीव! तैं मेरी सार न जानी॥ टेक॥
हम तुम बहुत बार मिल बिछुरे, आदि किन्हीं न पिछानी॥ जीव.॥

पाप पुन्य दो धुरके साथी, नरक सुरगलौं दौरैं।
कह तैनैं को दिढ़ करि पोष्यो, सो करि है तुम गौरैं॥ जीव.॥ १॥

सीस आंख मुख कान पान पद, सब ही पच पच मूए।
तैं अपनो हित क्यों नहिं कीना, हम कब आड़े हूए॥ जीव.॥ २॥

जो कोई जन चाकर राखै, कण दै काम करावै।
तू क्यों सोय रह्यो निशिवासर, पछताये क्या पावै॥ जीव.॥ ३॥

मैं करई तूँबरि जो जानै, परिग्रह भार निकारै।
छयकर राग दोष तप सोखै, भव जल पार उतारै॥ जीव.॥ ४॥

नर कायाको सुरपति तरसैं, कब मैं लैऊं दिच्छा।
आगैं पंच महाव्रत धरिये, करि यों 'द्यानत' सिच्छा॥ जीव.॥ ५॥

हे जीव! तूने मेरी वास्तविकता को, मेरी असलियत को, तत्व की बात को नहीं जाना। तू और मैं अनेक बार मिले हैं और अनेक बार बिछुड़े हैं। इस तथ्य का आदि कब हुआ, यह कोई नहीं जानता।

पाप-पुण्य, दोनों इस धुरी के पृथक् -पृथक् छोर हैं, साथी हैं, जो कभी नरक व कभी स्वर्ग तक की दौड़ लगाते हैं। तुम ही जरा इस बात पर ध्यान दो कि इसे बनाए रखने के लिए कितना पोषण दिया?

शीश, नेत्र, मुँह, कान पाकर के भी सब पच-पच कर मर गए। तूने अपना हित क्यों नहीं किया? ये सब कब तुझे रोकने के लिए बाधक बने? कब बीच में आए? अर्थात् तेरा अपना हित करने में ये तेरे बाधक कब बने?

जो कोई भी किसी को नौकर रखता है वह उसे अन्न आदि देकर काम कराता है। तू रात-दिन क्यों सोता रहा? तूने इन इन्द्रियों का खूब पोषण किया है फिर तूने इनसे अपना हित क्यों नहीं साधा? अब पछताने से क्या मिलेगा?

इस सबको कड़वी तूमड़ी जानकर छोड़ दे और परिग्रह को छोड़कर, राग-द्वेष दोनों को नष्टकर तथा तप करके उनको सुखा दे, रसविहीन कर दे तो तू इस संसार-समुद्र से पार हो जावेगा।

इस मनुष्य जन्म को पाने के लिए इन्द्र भी तरसता है कि कब मैं मनुष्य भव-मनुष्य देह को पाकर, दीक्षा ग्रहण करूँ! द्यानतराय कहते हैं कि इस प्रकार शिक्षा लेकर, फिर पाँच महाव्रत को धारण करो, उनका पालन करो। [illegible]

(२३८)

जीवा! शूं कहिये तनैं भाई॥ टेक॥

पोतानूं रूप अनूप तजीनैं, शामाटै विषयी थाई॥ जीवा.॥

इन्द्रीना विषय विषथकी मौटा, ज्ञाननू अम्रत गाई।
अमृत छोड़ीनै विषय विष पीधा, साता तो नथी पाई॥ जीवा.॥ १॥

नरक निगोदना दुख सह आव्यो, वळी तिहनैं मग धाई।
एहवी बात रूड़ी न छै तमनैं, तीन भवनना राई॥ जीवा.॥ २॥

लाख बातनी बात एम छै, मूकीनै विषयकषाई।
'द्यानत' ते बारैं सुख लाधौं, एम गुरू समझाई॥ जीवा.॥ ३॥

ओ जीवात्मा, तुझे क्या कहें भाई! अपने पूर्व कर्म के संयोग से सुन्दर रूप प्राप्त करके तूने उसे विषयों से आच्छादित कर दिया है, उनमें उलझा रखा है।

इन्द्रिय-विषयों में उलझकर तू उनको ही अमृत के समान मानता रहा, उनके गीत गाता रहा और इस प्रकार तूने अमृत को छोड़कर विषयों के रस को पीया, तो उससे तुझे साता की प्राप्ति नहीं हुई।

तूने नरक-निगोद के दुःखों को सहा। अब मनुष्य जन्म पाकर भी तू पुनः उसी मार्ग पर चल रहा है, भाग रहा है! यह बात तुझे अच्छी न लगी! तू तीन भुवन का राजा होकर भी एक इतनी--सी बात नहीं समझ सका!

लाख बात की एक बात यह है कि तू विषय कषायों को छोड़-तज। द्यानतराय कहते हैं कि तभी तुझे सुख की प्राप्ति हो सकेगी, सद्गुरु ने इस प्रकार समझाया है।

इस भजन में गुजराती भाषा के शब्दों का प्रयोग किया गया है -
शूं = क्या; तनै = तुझे; पोतानूं - अपने मूल स्वरूप को, आत्मस्वरूप को; तजीनैं - तजकरके; शामाटै - किसलिए; थाई - हुआ; न पाई - नहीं प्राप्त हुई; वली = पुनः; तिहनै = उसी; एहवी = ऐसी; रूडी = अच्छी; पीधा - पीया; मूकि - छोड़-तज।

(२३९)

जैनधरम धर जीयरा! सो चार प्रकार॥ टेक॥
दान शील तप भावना, निहचै व्योहार॥ जैन.॥

निहचै चारोंको धनी, चेतन शिवकार।
परम्परा शिव देत हैं, शुभभावविथार॥ जैन.॥ १॥

दान दये बहु सुख लये, को कहै विचार।
निरधन बामण दानतैं, लहै रतन अपार॥ जैन.॥ २॥

घर तजि बन दिढ़ शील जे, पालैं मुनि सार।
अनुव्रत सीता शीलतैं, पावक जलधार॥ जैन.॥ ३॥

तपकी महिमा को कहै, जानै नरनार।
सिंघ तनिक तपस्या करी, भयो देवकुमार॥ जैन.॥ ४॥

भावन भावैं धन्य जे, तजि परिग्रहभार।
मेंढक पूजा भावसों, गयो सुरगमँझार॥ जैन.॥ ५॥

नमस्कार यह जोग है, यह मंगलाधार।
ये ही उत्तम लोकमें, यह शरन निहार॥ जैन.॥ ६॥

घातैं घातैं जीवको, रख लेहु उबार।
'द्यानत' धर्म न भूलिये, संसार असार॥ जैन.॥ ७॥

हे जिया - हे जीव! तू हृदय में जैनधर्म को धारण कर। यह निश्चय और व्यवहार से दान, शील, तप एवं षोडशकारण भावनाओं का चिन्तन - इन चार रूपों में धारण किया जा सकता है।

जो इन चारों का धनी है अर्थात् जिसने इन चारों को धारण किया है वह चेतन ही मंगलकारी है। ये चारों शुभ भावों का विस्तार करते हुए परम्परा से मोक्ष का दाता है, मोक्ष प्रदान करता है।

दान की महिमा बताते हुए कहते हैं कि दान देने से बहुत सुख मिलता है, ऐसे विचार करके कहा जाता है - निर्धन ब्राह्मण दान के कारण, अपार, बहुत, जिसका पार नहीं पाया जा सकता, ऐसे धन/रतन की प्राप्ति करते हैं।

शील की महिमा बताते हुए कहते हैं कि घर छोड़कर जो वन में जाकर दृढ़ता से शील का पालन करते हैं और मुनियों के लिए जो साररूप महाव्रत हैं, उस धर्म को पालन करते हैं, उनकी तो बात ही क्या? अणुव्रत पालन करनेवाली सीता ने शील के कारण ही अग्नि को जलधारा में परिवर्तित कर दिया।

तप की महिमा बताते हुए कहते हैं कि तप की महिमा कौन कहे, वह तो सभी नर और नारी जानते हैं। सिंह ने भी तनिक-सी तपस्या की और देवकुमार हुआ अर्थात् स्वर्ग में देव हुआ।

भावना का महत्व बताते हुए कहते हैं कि जो सारे परिग्रह का बोझ उतारकर (सोलहकारण) भावना भाते हैं, वे धन्य हैं। मेंढक पूजा के भाव के कारण ही स्वर्ग में जाकर देव हुआ।

ये चारों रूप ही नमन करने योग्य हैं। मंगल करनेवाले हैं। ये ही लोक में उत्तम हैं और ये ही शरण हैं।

कर्म जो जीव को सदा घातते हैं, यह धर्म उनसे बचाता है। द्यानतराय कहते हैं कि इस धर्म को कभी भी मत भूलो। यह संसार तो असार है - सारहीन है।

विथार - विस्तार।

झूठा सपना यह संसार॥ टेक॥
दीसत है विनसत नहिं बार॥ झूठा.॥

मेरा घर सबतैं सिरदार, रह न सके पल एकमँझार॥ झूठा.॥ १॥

मेरो धन सम्पति अति सार, छांड़ि चलै लागै न अबार॥ झूठा.॥ २॥

इन्द्रीविषै विषैफल धार, मीठे लगैं अन्त खयकार॥ झूठा.॥ ३॥

मेरो देह काम उनहार, सो तन भयो छिनकमें छार॥ झूठा.॥ ४॥

जननी तात भ्रात सुत नार, स्वारथ बिना करत हैं ख्वार॥ झूठा.॥ ५॥

भाई शत्रु होंहिं अनिवार, शत्रु भये भाई बहु प्यार॥ झूठा.॥ ६॥

'द्यानत' सुमरन भजन अधार, आग लगैं कछु लेहु निकार॥ झूठा.॥ ७॥

यह संसार एक झूठा सपना है। अरे जो दिखाई देता है, उसके विनाश होने में कोई देर नहीं लगती।

मनुष्य अपने घर के लिए गर्व करता है मेरा घर सब में श्रेष्ठ है, सर्वोपरि है। पर वह घर भी एक पल में नष्ट हो जाता है।

यह धन-सम्पत्ति मेरे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, पर वह भी तुरन्त छोड़कर चली जाती है। उसे भी जाने में देर नहीं लगती।

इन्द्रिय विषय-भोग विष फल के समान दु:खदायी हैं जो प्रारम्भ में तो मीठे/रुचिकर लगते हैं और अन्त में दु:खी करते हैं, क्षय करते हैं, नाश करते हैं।

मनुष्य अपनी सुन्दरता का गर्व करता है कि मेरी देह कामदेव के समान सुन्दर है। वह सुन्दर देह भी पलभर में जलकर स्वाहा हो जाती है, राख हो जाती है।

माता, पिता, भाई, पत्नी, पुत्र सब स्वार्थ सधने तक ही मधुर व्यवहार करते हैं, स्वार्थ न सधने पर सब खारे हैं। कभी भाई शत्रु हो जाता है और कभी शत्रु भाई के समान प्यारा हो जाता है।

द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे में भजन ही एकमात्र आधार है जो सांसारिक दुःखरूपी अग्नि में बाहर निकालता है।

अनिबार = जिसका निवारण न किया जा सके; अनिवार = कभी-कभी।

(२४१)

त्यागो त्यागो मिथ्यातम, दूजो नहीं जाकी सम,
तोह दुख दाता तिहूँ, लोक तिहूँ काल॥ त्यागो.॥

चेतन अमलरूप, तीन लोक ताको भूप,
सो तो डार्यो भवकूप, दे नहिं निकाल॥ त्यागो.॥ १॥

एकसौ चालीस आठ, प्रकृतिमें यह गाँठ,
जाके त्यागैं पावै शिव, गहैं भव जाल॥ त्यागो.॥ २॥

'द्यानत' यही जतन, सुनो तुम भविजन,
भजो जिनराज तातैं, भाज जै है हाल॥ त्यागो.॥ ३॥

अरे भाई! मिथ्यात्व के अंधकार को, अज्ञान को छोड़ो। तीनों लोक व तीनों काल में इसके समान दु:ख देनेवाला कोई नहीं है।

यह चेतन मलरहित है, तीन लोक का स्वामी है, ज्ञाता है। उसको यह मिथ्यात्व भवरूपी कुएँ में डाल देता है और निकलने नहीं देता।

यह मिथ्यात्व जीव को एक सौ अड़तालीस कर्म-प्रकृतियों की जकड़न में जकड़े रखता है, बाँधे रखता है, जिनको छोड़ने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और यह भव-जाल समाप्त हो जाता है।

द्यानतराय कहते हैं कि ओ भव्य पुरुष! सुनो! मिथ्यात्व को दूर करने का एक यही उपाय है, यही एक यत्न है कि तुम श्री जिनराज का भजन करो जिससे यह मिथ्यात्व की दशा (स्थिति/हाल) दूर हो जावे।

तू तो समझ समझ रे! भाई॥ टेक॥

निशिदिन विषय भोग लपटाना, धरम वचन न सुहाई॥ तू तो.॥

कर मनका लै आसन मार्‌यो, वाहिज लोक रिझाई।
कहा भयो बक-ध्यान धरेतैं, जो मन थिर न रहाई॥ तू तो.॥ १॥

मास मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध मान छल लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई॥ तू तो.॥ २॥

मन वच काय जोग थिर करकैं, त्यागो विषयकषाई।
'द्यानत' सुरग मोख सुखदाई, सदगुरु सीख बताई॥ तू तो.॥ ३॥

अरे भाई! तू अब तो समझ, विवेकपूर्वक विचार कर। दिन-रात तू विषय-भोग में उलझ रहा है, लिपट रहा है। तुझे धर्म का उपदेश, धर्म के वचन तनिक भी नहीं सुहाते - अच्छे नहीं लगते।

तू लोक-दिखाने के लिए, माला की मणि को हाथ में थामकर आसन लगाकर बैठता है और लोगों को रिझाता है, तू अपने आपको धर्मात्मा के रूप में दिखाता है। अरे जब तेरा मन चंचल होकर भटक रहा है तो बगुले की भाँति ध्यान लगाने से क्या लाभ है?

तूने एक-एक मास के उपवास/लंघन करके काया को अत्यन्त कमजोर/शिथिल कर लिया, सुखा लिया। इस काया को कृश कर दिया लेकिन क्रोध-मान-माया और लोभ, इन कषायों को नहीं जीता, वश में नहीं किया, तो तेरा कौनसा कार्य सिद्ध होगा?

मन, वचन, काय इन तीनों योगों को थिर करके, विषय वासना, कषायों को छोड़। द्यानतराय कहते हैं कि यह ही सद्‌गुरु का उपदेश है। इससे ही स्वर्ग व मोक्ष की, लौकिक व पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है।

मनका = माला का मणिया/दाना।

(२४३)

तेरो संजम बिन रे, नरभव निरफल जाय॥ टेक॥

बरष मास दिन पहर महूरत, कीजे मन वच काय॥ तेरो.॥ १॥

सुरग नरक पशु गतिमें नाहीं, कर आलस छिटकाय॥ तेरो.॥ २॥

'द्यानत' जा बिन कबहुँ न सीझैं, राजविषैं जिनराय॥ तेरो.॥ ३॥

हे प्राणी ! संयम के बिना तेरा नरभव निष्फल बीत रहा है।

तू मन, वचन, काय से सदा अर्थात् प्रति समय, वर्ष, माह, दिन, प्रहर व मुहूर्त इसका (संयम का) पालन कर, इसको धारण कर।

तू देव, नारकी व तिर्यंच पर्याय में भी आलस छोड़कर संयम का पालन कर।

द्यानतरायजी कहते हैं - जिनराज भी इस संयम के अभाव में सिद्ध नहीं हुए थे।

दियैं दान महा सुख पावै ॥ टेक ॥

कूप नीर सम घर धन जानौं, कढ़ैं बढ़ै, अनकढ़ैं सड़ जातै ॥ १ ॥

मिथ्याती पशु दानभावफल, भोग-भूमि सुरवास बसावै ॥ २ ॥

'द्यानत' गास अरध चौथाई, मन-वांछित विधि कब बनि आवै ॥ ३ ॥

हे भव्य प्राणी! दान देने से बहुत सुख प्राप्त होता है।

घर पर रखे हुए धन को कुएँ में पड़े जल के समान जानो, जो कि निकाले जाते रहने पर ही शुद्ध रहता है और बाहर न निकालने पर, वहीं पड़े रहने पर सड़ जाता है।

मिथ्यात्वी जीव भी दान की भावना के कारण भोगभूमि में व स्वर्ग में जाकर जन्म लेता है। द्यानतराय कहते हैं कि अपने ग्रास में से आधा अथवा चौथाया हिस्सा भी दान देने से मनवांछित फल प्राप्त हो जाता है। अर्थात् इतना अल्प दान भी कार्यकारी हो जाता है।

(२४५)

दुरगति गमन निवारिये, घर आव सयाने नाह हो॥ टेक॥

पर घर फिरत बहुत दिन बीते, सहित विविध दुखदाह हो॥ १॥

निकसि निगोद पहुँचवो शिवपुर, बीच बसैं क्या लाह हो॥ २॥

'द्यानत' रतनत्रय मारग चल, जिहिं मग चलत हैं साह हो॥ ३॥

हे आत्मन्! भव-भ्रमण के कारण जो तुम्हारी दुर्गति हो रही है उसका निवारण करो, उसे दूर करो और हे सयाने, अपने घर में, जिसके तुम स्वामी हो उसमें तुम वापस आ जाओ।

भव-भव में, अन्य-अन्य घर में, पर्यायों में भ्रमण करते हुए तुम्हें बहुत काल/समय बीत गया; जहाँ तुम बहुत प्रकार के दु:खों के ताप के साथ रहे हो। निगोद से निकलकर मोक्ष को जावो। उन दोनों के बीच में इस संसार में बसेरा करने से तुम्हें क्या लाभ होगा?

द्यानतराय कहते हैं कि हे आत्मन्! रत्नत्रय के सुपथ पर चल। जिस मार्ग पर साधु-सज्जन चलते हैं।

नाह = नाथ, स्वामी, मालिक; लाह = लाभ; साह = साधु, सज्जन।

(२४६)

धिक! धिक! जीवन समकित बिना ॥ टेक ॥

दान शील तप व्रत श्रुतपूजा, आतम हेत न एक गिना ॥ धिक. ॥

ज्यों बिनु कन्त कामिनी शोभा, अंबुज बिनु सरवर ज्यों सुना।
जैसे बिना एकड़े बिन्दी, त्यों समकित बिन सरब गुना ॥ धिक. ॥ १ ॥

जैसे भूप बिना सब सेना, नींव बिना मन्दिर चुनना।
जैसे चन्द बिहूनी रजनी, इन्हें आदि जानो निपुना ॥ धिक. ॥ २ ॥

देव जिनेन्द्र, साधु गुरू, करुना, धर्मराग व्योहार भना।
निहचै देव धरम गुरु आतम, 'द्यानत' गहि मन वचन तना ॥ धिक. ॥ ३ ॥

जिसके जीवन में समताभाव जागृत नहीं हुए उसके जीवन को धिक्कार है। उसने आत्मा के लिए हितकारी दान, शील, तप, व्रत, श्रुतपूजा, इन सबमें से किसी एक को भी नहीं माना।

जैसे बिना पति के स्त्री की शोभा नहीं होती, जैसे कमल दल के बिना सरोवर की शोभा नहीं होती; यह ठीक वैसा ही है कि जैसे किसी अंक के बिना शून्य (बिन्दी) का कोई महत्व नहीं होता। उसी प्रकार समता भाव के बिना, सम्यकत्व के बिना गुण का कोई महत्व नहीं होता।

हे ज्ञानी! इसे ऐसे ही जानो कि जैसे राजा के बिना सेना, नींव के बिना किसी मन्दिर का निर्माण, जैसे चन्द्रमा बिना रात्रि सुशोभित नहीं होती।

व्यवहार से जिनेन्द्रदेव, साधुगण, करुणा, धार्मिक अभिरुचि को धर्म कहा गया है। द्यानतराय कहते हैं कि निश्चय से अपनी आत्मा ही देव है, धर्मगुरु है, उसकी ही मन-वचन-काय से विवेकपूर्वक आराधना कर।

(२४७)

नहिं ऐसो जनम बारंबार॥ टेक॥

कठिन कठिन लह्यो मनुष भव, विषय भजि मति हार॥ नहिं.॥

पाय चिन्तामन रतन शठ, छिपत उदधिमँझार।
अंध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गँवार॥ नहिं.॥ १॥

कबहुँ नरक तिरजंच कबहूँ, कबहुँ सुरगबिहार।
जगतमहिं चिरकाल भमियो, दुलभ नर अवतार॥ नहिं.॥ २॥

पाय अम्रत पाँय धोवै, कहत सुगुरु पुकार।
तजो विषय कषाय 'द्यानत', ज्यों लहो भवपार॥ नहिं.॥ ३॥

हे मानव! ऐसा जनम अर्थात् मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता। यह मनुष्य भव बहुत ही कठिनाई व संयोग से मिलता है। विषयों में रमकर इसको मत गवाँ, मत खो।

अरे दुष्ट, तू चिंतामणि रतन को पाकर समुद्र में मत फेंक। अरे अंधे के हाथ में बटेर आ जाए, तो वह अपनी नासमझी के कारण उसे हाथ से छोड़ देता है।

कभी नरक, कभी तिर्यंच और कभी स्वर्ग की पर्यायों में, विषयसुखों में रमण करता रहा। इस जगत में अनन्तकाल से इस प्रकार अनेक भवों में रुलता आ रहा है, और अब यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है।

यह मनुष्यजन्मरूपी अमृत पाकर, तू उसे पाँव धोने में व्यय कर रहा है अर्थात् निकृष्ट कामों में लगाकर व्यर्थ कर रहा है, निरर्थक कर रहा है! द्यानतराय कहते हैं कि अरे भाई, तू कषाय और विषयों को छोड़। तभी तू इस संसार के पार हो सकेगा, हो जावेगा।

छिपत - क्षेपत - फेंकना।

निज जतन करो गुन-रतननिको, पंचेन्द्रीविषय सभी तसकर॥ टेक॥

सत्य कोट खाई करुनामय, बाग विराग छिमा भुवि भर॥ निज.॥ १॥

जीव भूप तन नगर बसै है, तहँ कुतवाल धरमको कर॥ निज.॥ २॥

'द्यानत' जब भंडार न जावै, तब सुख पावै साहु अमर॥ निज.॥ ३॥

हे पथिक! अपने गुणरूपी रत्नों को यत्नपूर्वक सँभालकर रखो। पाँचों इन्द्रियों के विषय इन गुणों को लूटनेवाले तस्कर हैं।

उन गुणों की रक्षा हेतु तू स्थिति को समझकर सत्य का परकोटा बना, उसके चारों ओर करुणा की खाई और वैराग्यरूपी उपवन- बगीचा बना, उसमें क्षमा की भूमि/आधार बना।

यह जीव राजा इस देहरूपी नगर में निवास करता है, उसकी (जीव की) रक्षा करने के लिए धर्म को कोतवाल बना।

द्यानतराय कहते हैं कि जब तू अपने गुणरूपी भंडार को सुरक्षित रख सके अर्थात् उन्हें नष्ट होने से बचा सके, तब ही अविनाशी, कभी भी नष्ट न होनेवाले सुख की अनुभूति कर सकेगा।

(२४९)

परमारथ पंथ सदा पकरौ॥ टेक॥

कै अरचा परमेश्वरजीकी, कै चरचा गुन चित्त धरौ॥ परमारथ.॥ १॥

जप तप संजम दान छिमा करि, परधन परतिय देख डरौ॥ परमारथ.॥ २॥

'द्यानत' ज्ञान यही है चोखा, ध्यानसुधामृत पान करौ॥ परमारथ.॥ ३॥

हे भव्यप्राणी! अपना कल्याण करने के लिए इस परम लाभकारी मार्ग पर चलो, आरोहण करो।

या तो तुम प्रभु की पूजा करो या हृदय से उनके गुणों की चर्चा करो, उनके गुणों का विचार करते रहो।

जीवन में जप, तप, संयम, दान, क्षमा आदि धारण करो। दूसरे के धन व दूसरे की स्त्री को देखकर, भय के कारण उनसे दूर रहो।

द्यानतराय कहते हैं कि यह ज्ञान ही अच्छा है। सदा ध्यानरूपी अमृत का पान करो।

प्राणी लाल! छांडो मन चपलाई॥ टेक॥

देखो तन्दुलमच्छ जु मनतैं, लहै नरक दुखदाई॥ प्राणी.॥

धारै मौन दया जिनपूजा, काया बहुत तपाई।
मनको शल्य गयो नहिं जब लों, करनी सकल गंवाई॥ प्राणी.॥ १॥

बाहूबल मुनि ज्ञान न उपज्यो, मनकी खुटक न जाई।
सुनतैं मान तज्यो मनको तब, केवलजोति जगाई॥ प्राणी.॥ २॥

प्रसनचंद रिषि नरक जु जाते, मन फेरत शिव पाई।
तनतैं वचन वचनतैं मनको, पाप कह्यो अधिकाई॥ प्राणी.॥ ३॥

देंहिं दान गहि शील फिरैं बन, परनिन्दा न सुहाई।
वेद पढ़ैं निरग्रंथ रहैं जिय, ध्यान बिना न बड़ाई॥ प्राणी.॥ ४॥

त्याग फरस रस गंध वरण सुर, मन इनसों लौ लाई।
घर ही कोस पचास भ्रमत ज्यों, तेलीको वृष भाई॥ प्राणी.॥ ५॥

मन कारण है सब कारजको, विकलप बंध बढ़ाई।
निरविकलप मन मोक्ष करत है, सूधी बात बताई॥ प्राणी.॥ ६॥

'द्यानत' जे निज मन वश करि हैं, तिनको शिवसुख थाई।
बार बार कहुं चेत सवेरो, फिर पाछैं पछताई॥ प्राणी.॥ ७॥

हे प्राणी! हे प्रिय! तुम मन की चंचलता को छोड़ो। देखो, तंदुलमच्छ ने मन की चपलता के कारण नरक के दुखदायी कष्ट पाए।

अरे, मौन धारण किया, दया भी की, जिनपूजा भी की और काया को बहुत साधा भी, पर जब तक मन का शल्य न निकला, तब तक सब क्रियाएँ व्यर्थ ही गईं।

मन में शल्य होने पर बाहुबली को केवलज्ञान नहीं हो सका। मन की शल्य बनी ही रहीं और जैसे ही बात सुनकर मान छूटा, तत्काल केवलज्ञान-दीप का प्रकाश जगमगा उठा।

कुछ ऋषि-तपस्वी जो नरक में जाते, उनका मन बदलते ही, चिन्तन की दिशा बदलते ही वे मोक्षगामी हुए। अरे, तन से अधिक वचन से और वचन से अधिक मन से पाप होता है।

दान दिया, शील ग्रहण किया, परनिन्दा भी नहीं की। वेद पढ़े, ज्ञानी हुए, सब परिग्रह छोड़ दिया, परन्तु ध्यान के बिना ये सब महत्त्व न पा सके।

स्पर्श, रस, गंध-वर्ण, स्वर अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों को छोड़। जो भी इसमें मन लगाते हैं वे कोल्हू के बैल जो पचास कोस का चक्कर लगाने पर भी वहीं का वहीं रहता है, जैसी दशा को प्राप्त होते हैं।

सब कार्यों के लिए मन ही कारण है। मन से ही विकल्प होते हैं और बंध बढ़ते हैं। निर्विकल्प मन ही मोक्ष को प्राप्त करता है - सीधी बात यह बताई गई है।

द्यानतराय कहते हैं कि जो मन को वश में करते हैं वे मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं। अरे, तुझे बार-बार समझाते हैं। जब समझ आती है तभी जागृति होती है, सवेरा होता है। अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा।

प्राणी लाल! धरम अगाऊ धारौ ॥ टेक ॥

जबलौं धन जोबन हैं तेरे, दान शील न बिसारौ ॥ प्राणी. ॥

जबलौं करपद दिढ़ हैं तेरे, पूजा तीरथ सारौ।
जीभ नैन जबलौं हैं नीके, प्रभु गुन गाय निहारौ ॥ प्राणी. ॥ १ ॥

आसन श्रवन सबल हैं तोलौं, ध्यान शब्द सुनि धारौ।
जरा न आवै गद न सतावै, संजम परउपकारौ ॥ प्राणी. ॥ २ ॥

देह शिथिल मति विकल न तौलौं, तप गहि तत्त्व विचारौ।
अन्तसमाधि-पोत चढ़ि अपनो, 'द्यानत' आतम तारौ ॥ प्राणी. ॥ ३ ॥

हे प्राणी, हे लाल! अब तुम पहले धर्म-धारण करो। जब तक यौवन व धन तुम्हारे पास हैं, तुम दान, शील व संयम को मत भूलो।

हे प्राणी! जब तक हाथ-पाँवों में दृढ़ता है, शक्ति है तब तक पूजा करो, सब तीर्थ-क्षेत्रों की यात्रा करो। जब तक जीभ व आँखों में शक्ति है अर्थात् वचन-उच्चारण की व देखने की शक्ति भली प्रकार है तब तक अपने प्रभु के गुणों का गुणगान करो, स्तवन-स्मरण करो।

हे प्राणी! जब तक सुनने की और आसन पर अभ्यासपूर्वक बैठने या खड़े होने की शक्ति है तब तक शास्त्र-श्रवणकर हृदय में धारण करो, ध्यान करो। अरे जब तक बुढ़ापा न आवे, रोग न सतावे तुम संयम का पालन करो, अन्य जनों का भला करो, उपकार करो।

हे प्राणी! जब तक देह अशक्त न हो, तब तक तत्त्व-चिंतनकर तप-साधन करो, उनके निर्वाह का अभ्यास करो। तत्पश्चात् अन्त समय में समाधिरूपी जहाज पर चढ़कर इस आत्मा को भवसागर के पार करलो, तार दो, ऐसा द्यानतराय कहते हैं।

अगाऊ = पहले, अग्रिम; गद = रोग।

प्रानी! ये संसार असार है, गर्व न कर मनमाहिं ॥ टेक ॥
जे जे उपजैं भूमिपै, जमसौं छूटैं नाहिं ॥ प्रानी. ॥

इन्द्र महा जोधा बली, जीत्यो रावनराय।
रावन लछमनने हत्यो, जम गयो लछमन खाय ॥ प्रानी. ॥ १ ॥

कंस जरासँध सूरमा, मारे कृष्ण गुपाल।
ताको जरदकुमारने, मार्‌यो सोऊ काल ॥ प्रानी. ॥ २ ॥

कई बार छत्री हते, परशुराम बल साज।
मार्‌यो सोउ सुभूमिने, ताहि हन्यो जमराज ॥ प्रानी. ॥ ३ ॥

सुर नर खग सब वश करे, भरत नाम चक्रेश।
बाहूबलपै हारकै, मान रह्यो नहिं लेश ॥ प्रानी. ॥ ४ ॥

जिनकी भौंहें फरकतें, डरते इन्द फनिंद।
पाँयनि परवत फोरते, खाये काल-मृगिंद ॥ प्रानी. ॥ ५ ॥

नारी संकलसारखी, सुत फाँसी अनिवार।
घर बंदीखाना कहा, लोभ सु चौकीदार ॥ प्रानी. ॥ ६ ॥

अन्तर अनुभव कीजिये, बाहिर करुणाभाव।
दो बातनिकरि हूजिये, 'द्यानत' शिवपुरराव ॥ प्रानी. ॥ ७ ॥

हे प्राणी! यह संसार अपार है, साररहित है। इसके विषय में तू अपने मन में गर्व - मान मत कर। जो-जो भी इस पृथ्वी पर जन्मे हैं, वे कोई भी यम से बचे नहीं है अर्थात् जो जन्मता है वह मरता है।

इन्द्र जैसे महान बली योद्धा को रावण ने जीत लिया। महाबली रावण को वीर लक्ष्मण ने मारा और उस वीर लक्ष्मण को भी यम ने खा लिया। गउएँ

पालनेवाले श्रीकृष्ण ने कंस और जरासंध जैसे वीर पुरुषों को मारा, उस श्रीकृष्ण को जरदकुमार ने मार डाला, उस जरदकुमार को भी काल ने मार डाला।

बलपूर्वक परशुराम ने कई बार क्षत्रियों का नाश किया, उनको सुभूमि ने मारा, यम ने उसको भी मार डाला।

भरत चक्रवर्ती ने देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि को वश में किया पर वे बाहुबली से हार गए और उनका तनिक भी मान नहीं रहा अर्थात् उनका मान खण्डित हो गया।

जिनकी भौंहें फड़कते ही, भृकुटि तनते ही इन्द्र-नागेन्द्र भयाकुल हो जाते थे, अपने पाँवों से जो पर्वत को भी तोड़ देते, उनको भी कालरूपी सिंह ने खा लिया।

नारी साँकल के समान तथा सुत - बेटा उस फाँसी के समान है जिसका निवारण करना कठिन है। जिसे हटाना कठिन है। घर एक कारागार के समान है और लोभ चौकीदार है।

अरे, अपने अन्तर में अनुभव करो और बाहर करुणाभाव रखो। द्यानतराय कहते हैं कि ये दोनों बातें जिसमें होती हैं वह मोक्षपुरी का राजा होता है।

(२५३)

बसि संसारमें मैं, पायो दुःख अपार॥ टेक॥
मिथ्याभाव हिये धर्‌यो नहिं, जानों सम्यकचार॥ बसि.॥

काल अनादि हि हौं रुल्यौ हो, नरक निगोदमँझार।
सुर नर पद बहुते धरे पद, पद प्रति आतम धार॥ बसि.॥ १॥

जिनको फल दुखपुंज है हो, ते जानें सुखकार।
भ्रम मद पीय विकल भयो नहिं, गह्यो सत्य व्योहार॥ बसि.॥ २॥

जिनवानी जानी नहीं हो, कुगति-विनाशनहार।
'द्यानत' अब सरधा करी दुख, मेटि लह्यो सुखसार॥ बसि.॥ ३॥

हे प्रभु! इस संसार में बसकर/रहकर मैंने बहुत दुःख पाए हैं। मैंने मिथ्यात्व को हृदय में धारण कर रखा है, जिसके कारण सम्यक् आचरण को मैं जान ही नहीं सका।

अनादि से मैं नरक-निगोद में भटकता हुआ, रुलता हुआ चला आ रहा हूँ। अनेक बार देव भी हुआ, मनुष्य भी हुआ और आत्मस्वभाव को भूलकर अनेक प्रतिकूल स्थितियों को धारण करता रहा।

जिन क्रियाओं का परिणाम ही दुःख का कारण है, दुःख का भंडार है, उनको मैं सुखकारक जानता रहा, समझता रहा। भ्रमरूपी शराब के नशे में मत्त होकर सुध गँवाकर दुःखी हुआ और सत्य व्यवहार से विचलित रहा अर्थात् सत्य को नहीं जान सका।

जिनवाणी को मैंने जाना नहीं, सुना-समझा नहीं। जो कुमति का नाश करनेवाली है, उससे बचानेवाली, उसे दूर करनेवाली है। द्यानतराय कहते हैं कि अब मुझे उस पर श्रद्धा जागृत हो गई है जिससे दुःख मिटने लगे हैं और सुख का सार समझ में आने लगा है।

(२५४)

राग सोरठ

भाई! आपन पाप कमाये आये, क्यों न परीसह सहिये ॥ टेक ॥
आगैं नूतन बंध रुकत है, पूरब करमनि दहिये ॥ भाई. ॥

न्यौति जिमाये तिनको चहिये, घर आये नहिं गहिये।
पर-वश तो सब जीव सहत हैं, स्ववश सहैं धनि कहिये ॥ १ ॥

ऋणके दाम भेज घर दीजे, माँगैं क्यों ले रहिये।
कोटिजनमतपदुर्लभ जे पद, ते पद सहज हिं लहिये ॥ २ ॥

दोष दुष्ट धन लेहु लालची, प्रान जास।
बात कहूं चितमें जब आवै, तुम अन्तरकी जानौं।
दीनदयाल निकाल जगततैं, 'द्यानत' दास पिछानौं ॥ ३ ॥

अरे भाई! तुमने स्वयं ने पाप उपार्जित किए हैं, तो उसका फल कैसे-क्यों नहीं भुगतोगे-सहोगे? आगे किए जाने वाले नए बंध की शृंखला को रोको और पूर्व में जो कर्म किए हैं उनकी निर्जराकर उन्हें भी समाप्त करो।

जिन कर्मों को आमंत्रित किया, बुलाया, उनका पोषण किया, वे घर आ गए हैं अर्थात् उदय में आ गये हैं, प्रकट हो गये हैं, अब उन्हें पकड़ कर मत रखिए। कर्मों के वश होकर सभी फल भोगते हैं, परन्तु जो उनकी स्वयं उदीरणा कर निर्जरा करते हैं, वे धन्य हैं, अर्थात् तप से उनको समय से पूर्व उदय में लाकर नष्ट कर देते हैं वे धन्य हैं।

जिस किसी से भी जो क़र्ज लिया है उसको वापस उसके घर जाकर दीजिए, उसे रखकर क़र्ज न बनाए रखें। माँगी हुई चीज को क्यों ग्रहण किये रहते हो? इस प्रकार कर्मरूपी ऋण को चुकाकर उसे नाश करें, उससे मुक्त होवें। जो करोड़ों जन्मों से दुर्लभ हो रहा है वह मोक्ष पद है, उसे इस प्रकार सहज ही में प्राप्त कीजिए।

यह कर्मरूपी दुष्ट धन का लालच उत्पन्न करता है, दोष उत्पन्न करता है। जब वह चित में आता है तो प्राणों का नाश करता है। आप तो अन्तर की सब बात जानते हो।

हे दीनदयाल! द्यानतराय कहते हैं कि मुझे, अपने दास को पहचान कर जगत में बाहर निकालो अर्थात् मुक्ति प्रदान करो।

(२५२)

राग काफी

भाई! कहा देख गरवाना रे॥ टेक॥

गहि अनन्त भव तैं दुख पायो, सो नहिं जात बखाना रे॥ भाई.॥

माता रुधिर पिताके वीरज, तातैं तू उपजाना रे।

गरभ वास नवमास सहे दुख, तल सिर पांव उचाना रे॥ भाई.॥ १॥

मात अहार चिगल मुख निगल्यो, सो तू असन गहाना रे।

जंती तार सुनार निकालै, सो दुख जनम सहाना रे॥ भाई.॥ २॥

आठ पहर तन मलि मलि धोयो, पोष्यो रैन बिहाना रे।

सो शरीर तेरे संग चल्यो नहिं, खिनमें खाक समाना रे॥ भाई.॥ ३॥

जनमत नारी, बाढ़त भोजन, समरथ दरब नसाना रे।

सो सुत तू अपनो कर जानै, अन्त जलावै प्राना रे। भाई.॥ ४॥

देखत चित्त मिलाप हरै धन, मैथुन प्राण पलाना रे।

सो नारी तेरी ह्वै कैसे, मूवें प्रेत प्रमाना रे॥ भाई.॥ ५॥

पांच चोर तेरे अन्दर पैठे, तैं ठाना मित्राना रे।

खाय पीय धन ज्ञान लूटके, दोष तेरे सिर ठाना रे॥ भाई.॥ ६॥

देव धरम गुरु रतन अमोलक, कर अन्तर सरधाना रे।

'द्यानत' ब्रह्मज्ञान अनुभव करि, जो चाहै कल्याना रे॥ भाई.॥ ७॥

अरे भाई! क्या देखकर तुम इतना गर्व कर रहे हो! अनन्त भव धारणकर तुमने जो दुख पाया है, उन दुखों का वर्णन किया जाना संभव नहीं है।

माता के रज, पिता के वीर्य से तेरी उत्पत्ति हुई, गर्भ में नौ महीने दु:ख पाए - जहाँ सिर नीचे तथा पाँव ऊपर किये रहे।

गर्भवास में माता ने मुँह से चबाकर जो आहार निगला वह भोजन ही तुझे खाने को मिला। जैसे सुनार जंत्री में तार खींचता है, जन्म के समय उसी प्रकार गर्भ से बाहर निकला और दुःख भोगे।

आठों पहर इस शरीर की स्वच्छता के लिए बार-बार तन धोता रहता है, नहाता रहता है और दिन और रात इसके पोषण में लगा रहता है। वह शरीर तेरे साथ नहीं चलता और क्षणमात्र में खाक में मिल जाता है।

यह देह स्त्री के द्वारा उत्पन्न की जाती है, भोजन के द्वारा यह बढ़ती है, बड़ी होती है। तू जिस पुत्र को अपना जानता है वही तुझे, तेरी इस देह को अन्त में जला देता है।

स्त्री जो देखते ही चित्त का हरण कर लेती है, उससे मिलाप होता है तो धन हर लेती है और मैथुन में शक्ति का हरण कर लेती है। फिर मरते ही जो तुझे प्रेत समान मानने लगती है वह नारी तेरी कैसे है?

पाँच चोर (इन्द्रियाँ) तेरे भीतर बैठे हैं उनसे तूने मित्रता कर रखी है। वे खा-पीकर के, तेरे ज्ञान-धन का नाश करके, सारा दोष तेरे ही सिर मँढ देंगे।

अरे! देव, धर्म, गुरु ये अनमोल रत्न हैं। इनमें अंतरंग से श्रद्धा कर। द्यानतराय कहते हैं कि जो तू अपना कल्याण चाहता है तो ब्रह्मज्ञान का, अपनी आत्मा का अनुभव कर।

(२५६)

राग सोरठमें ख्याल

भाई काया तेरी दुखकी ढेरी, बिखरत सोच कहा है।
तेरे पास सासतौ तेरो, ज्ञानशरीर महा है॥ भाई.॥

ज्यों जल अति शीतल है काचौ, भाजन दाह दहा है।
त्यों ज्ञानी सुखशान्त कालका, दुख समभाव सहा है॥ भाई.॥ १॥

बोदे उतरैं नये पहिरतैं, कौंने खेद गहा है।
जप तप फल परलोक लहैं जे, मरकै वीर कहा है॥ भाई.॥ २॥

'द्यानत' अन्तसमाधि चहैं मुनि, भागौं दाव लहा है।
बहु तज मरण जनम दुख पावक, सुमरन धार बहा है॥ भाई.॥ ३॥

अरे भाई! यह काया तो दुख का ढेर है। इसके बिखरने का तू क्या विचार करता है, सोच करता है! तेरे पास तो तेरा शाश्वत ज्ञान-शरीर है जो महान है।

जो जल शीतल है, बहुत ठंडा है, वह भी बरतन के गरम होने पर उसमें पड़ा होने के कारण गरम हो जाता है, उबलता है। इसीप्रकार ज्ञानी सुख में शान्ति का अनुभव करता हुआ, दुःख में भी समभाव-परणति करता रहता है।

पुराने या खराब होने पर वे कपड़े उतारकर नए कपड़े पहने जाते हैं, उसमें खेद की, दुख की क्या बात है! जप-तप का फल परलोक में मिलता है। यहाँ तो मरकर वह वीर कहलाता है।

द्यानतराय कहते हैं कि जो मुनि अन्त समय में अपना समाधिमरण चाहता है, उसे भाग्य से यह एक अवसर मिला है। बहुत जन्म-मरण के दुःखों की अग्नि को छोड़कर, उसके यानी आत्मा के स्मरण की धारा में बहता चल, भक्ति में मगन हो जा।

(२५७)

राग सोरठ

भाई! ज्ञानका राह दुहेला रे॥ टेक॥

मैं ही भगत बड़ा तपधारी, ममता गृह झकझेला रे॥ भाई.॥

मैं कविता सब कवि सिरऊपर, बानी पुदगलमेला रे।
मैं सब दानी मांगै सिर द्यौं, मिथ्याभाव सकेला रे॥ भाई.॥ १॥

मृतक देह बस फिर तन आऊं, मार जिवाऊं छेला रे।
आप जलाऊं फेर दिखाऊं, क्रोध लोभतैं खेला रे॥ भाई.॥ २॥

वचन सिद्ध भाषै सोई है, प्रभुता वेलन वेला रे।
'द्यानत' चंचल चित्त पारा थिर, करै सुगुरुका चेला रे॥ भाई.॥ ३॥

अरे भाई! ज्ञान की राह/ज्ञान का मार्ग अत्यन्त कठिन लगता है/कठिन होता है। मैं ज्ञान पाने के अनेक उपाय करता हूँ। कभी मैं भक्त बनता हूँ, कभी बहुत तप करके तपस्वी बनता हूँ, फिर भी मोह-ममता-गृहस्थी के धक्के खाता रहता हूँ।

अपने को ज्ञानी बताने के लिए सब कवियों का सिरमौर/सरदार बनकर कविता करने लगता हूँ, पुद्गल शब्दों का मैला लगा लेता हूँ। जो-जो जैसा जैसा माँगता है उसे वैसा वैसा देकर मैं अपने को दानी समझता हूँ, इस प्रकार सब मिथ्या भाव करता हूँ।

देह मरणशील है। उस देह में बसता हूँ/रहता हूँ और मरता हूँ और फिर किसी अन्य देह में पुन: आ जाता हूँ। अन्त तक (ज्ञानप्राप्ति तक) इसी प्रकार देह का मारना-जिलाना चलता रहता है। क्रोध-लोभ आदि कषायों में स्वयं जलता हूँ और सबको उन कषायों के खेल-परिणाम दिखाता रहता हूँ।

द्यानतरायजी कहते हैं कि हे जीव! ज्ञानसिद्ध (जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है वह) जो वचन कहता है वह (ही) सत्य है। तू भी ऐसी प्रभुता/ऐसा ज्ञान पाने में देर मत कर। ज्ञान प्राप्ति के लिए तू पारे के समान चंचल अपने चित्त को स्थिर कर और सुगुरु/सद्गुरु का चेला/शिष्य बन जा।

दुहेला = दु:खदाई, कठिन; झकझेला = झकोला = धक्के; छेला = अन्तिम, अंत; वेल = समय; वेला = विलंब, देर करना।

भाई! ज्ञानका राह सुहेला रे॥ टेक॥
दरब न चहिये देह न दहिये, जोग भोग न नवेला रे॥ भाई.॥

लड़ना नाहीं मरना नाहीं, करना बेला तेला रे।
पढ़ना नाहीं गढ़ना नाहीं, नाच न गावन मेला रे॥ भाई.॥ १॥

न्हाना नाहीं खाना नाहीं, नाहिं कमाना धेला रे।
चलना नाहीं जलना नाहीं, गलना नाहीं देला रे॥ भाई.॥ २॥

जो चित चाहे सो नित दाहै, चाह दूर करि खेला रे।
'द्यानत' यामें कौन कठिनता, वे परवाह अकेला रे॥ भाई.॥ ३॥

अरे भाई! ज्ञान की राह सबसे सरल है, सुगम है, सीधी है। इसके लिए न किसी द्रव्य की आवश्यकता है, न देह को जलाने की, कष्ट देने की आवश्यकता है और न किसी नए योग या भोग की आवश्यकता है।

इसके लिए किसी से लड़ना नहीं है, इसके लिए मरना नहीं है। न कोई बेला या तेला अर्थात् दो-दो व तीन-तीन दिन का उपवास करना है। न पढ़ना है, न कोई किसी वस्तु का निर्माण करना है, न नाचना, न गाना और न कोई मेला (लोगों को इकट्ठा) करना है।

ज्ञान पाने के लिए न नहाने की आवश्यकता है, न खाने की आवश्यकता है, न द्रव्य उपार्जन की आवश्यकता है। न कहीं चलना है, न जलना है, न नष्ट होना है अर्थात् न तन को क्षीण करना है।

यह चित्त कुछ-न-कुछ 'चाह' करता है, इच्छा करता है, बस वह चाह ही नित्य दाह उत्पन्न करती है अर्थात् वह चाह ही दुःख का कारण है अतः तू मात्र 'चाह' का खेल समाप्त कर, बस ज्ञान की राह मिल जायेगी। द्यानतराय कहते हैं कि बता इसमें कौन-सी कठिन बात है? तू बिना किसी प्रकार की चाह के अकेला-निसंग-चिन्तारहित हो जा।

सुहेला → सहल = सुगम, सरल, आसान।

(२५९)

मानों मानों जी चेतन यह, विषै भोग छांड देहु,
विषै की समान कोऊ, नाहीं विष आन ॥ टेक ॥

तात मात पुत्र नार, नदी नाव ज्यों निहार,
जोवन गुमान जानों, चपला समान ॥ मानों. ॥ १ ॥

हाथी रथ प्यादे बाज, इनसों न तेरो काज,
सुपने समान देख, कहा गरबान ॥ मानों. ॥ २ ॥

ये तो देहके मिलापी, तू तो देहसों अव्यापी,
ज्ञान दृष्टि धर देखि, चेतिये सुजान ॥ मानों. ॥ ३ ॥

हे मेरे चेतन! तुम यह बात मानलो - विषय-भोग को छोड़ दो। यह जान लो कि इन्द्रिय-विषयों के समान अन्य कोई विष नहीं है। अर्थात् इसके समान घातक पदार्थ अन्य कोई नहीं है।

माता-पिता, पुत्र, स्त्री ये सब नदी और नाव के संयोग के समान हैं अर्थात् इनका संयोग बहुत अल्पकाल का है। जिस यौवन पर तुम गर्व करते हो वह बिजली के समान चंचल है।

हाथी-रथ, सिपाही व घोड़े - इन सबसे तेरा कार्य सिद्ध नहीं होता, ये सब स्वप्न के समान हैं। इनका क्या गर्व करना!

ये सब तो जब तक तेरी देह है तब तक साथ रहनेवाले हैं और तू देह से भिन्न है, उसमें व्याप्त नहीं है। ज्ञान और विवेक से देखकर हे भव्य पुरुष! तुम चेत जाओ।

(२६०)

राग होरी

मिथ्या यह संसार है, झूठा यह संसार है रे॥ टेक॥

जो देही षट्‌रससों पोषै, सो नहिं संग चलै रे।
औरनिको तोहि कौन भरोसो, नाहक मोह करै रे, भाई॥ मिथ्या.॥ १॥

सुखकी बातैं बूझै नाहीं, दुखको सुक्ख लखै रे।
मूढ़ोंमाहीं माता डोलै, साधौं पास डरै रे, भाई॥ मिथ्या.॥ २॥

झूठ कमाता झूठी खाता, झूठी जाप जपै रे।
सच्चा सांई सूझै नांहीं, क्यों करि पार लगैरे, भाई॥ मिथ्या.॥ ३॥

जमसों डरता फूला फिरता, करता मैं मैं मैं रे।
'द्यानत' स्याना सोही जाना, जो प्रभु ध्यान धरै रे, भाई॥ मिथ्या.॥ ४॥

अरे भाई! यह संसार मिथ्या है, झूठा है, हेय है।

जिस देह को छहों रसों के व्यंजनों से पोषण करते हो, वह तुम्हारे साथ नहीं जाता तो फिर औरों का तो भरोसा ही क्या है? तुम इनसे व्यर्थ ही मोह करते हो।

जो वास्तविक सुख है, उसके बारे में तो कुछ भी नहीं जानता। दुःख को सुख समझता है, सुख जानता है। तू अज्ञानियों के साथ मूर्ख-अज्ञानी होकर मस्त हो रहा है और साधुओं की संगति से डरता है।

तू झूठ ही कमाता है, झूठ ही खाता है और झूठ का ही जाप-रटन करता है। तुझे सच्चा सांई - आत्मा जो वास्तव में तेरा स्वामी है वह दीखता ही नहीं है, तो तू किस प्रकार पार हो सकेगा!

मृत्यु से तुझे डर लगता है, फिर भी अहं में डूबा हुआ मैं-मैं करता फिरता है। द्यानतराय कहते हैं कि जो सयाना है वह ही यह भेद जानता है और प्रभु का स्मरण - ध्यान करता है।

सांई = स्वामी, मालिक।

(२६१)

मेरी मेरी करत जनम सब बीता ॥ टेक ॥

परजय-रत स्वस्वरूप न जान्यो, ममता ठगनीने ठग लीता ॥ मेरी. ॥ १ ॥

इंद्री-सुख लखि सुख विसरानौ, पांचों नायक वश नहिं कीता ॥ मेरी. ॥ २ ॥

'द्यानत' समता-रसके रागी, विषयनि त्यागी ह्वै जग जीता ॥ मेरी. ॥ ३ ॥

हे प्राणी ! इस संसार में यह मेरा है, यह मेरा है, ऐसा करते- करते सारा जनम बीता जाता है।

अपने से भिन्न परवस्तु को अपना मानकर उसमें ही रत रहा। अपने स्वरूप को नहीं पहचाना और मोह-ममतारूपी ठगनी के द्वारा ठगा जाता रहा है।

इन्द्रिय सुख को पाकर अपने आत्मिक सुख को भूल गया और इन पाँचों इन्द्रियों को अपने वशीभूत नहीं कर सका।

द्यानतराय कहते हैं कि जो इन्द्रिय-विषयों के त्यागी हैं और समता रस में डूबे हुए हैं उन्होंने ही इस जगत को जीता है।

(२६२)

राग सारंग

मेरे मन कब ह्वै है बैराग॥ टेक॥

राज समाज अकाज विचारौं, छारौं विषय कारे नाग॥ मेरे.॥ १॥

मन्दिर वास उदास होयकैं, जाय बसौं बन बाग॥ मेरे.॥ २॥

कब यह आसा कांसा फूटै, लोभ भाव जाय भाग॥ मेरे.॥ ३॥

आप समान सबै जिय जानौं, राग दोषकों त्याग॥ मेरे.॥ ४॥

'द्यानत' यह विधि जब बनि आवै, सोई घड़ी बड़भाग॥ मेरे.॥ ५॥

मेरे मन में कब विरक्तता होकर वैराग्य की भावना होगी? राजकार्य, सामाजिक कार्य इन सबको निरर्थक जानकर इन्द्रिय-विषयरूप काले नागों से कब छुटकारा होगा अर्थात् विषयों का त्याग होगा!

मन्दिर व घर से उदासीन होकर बन में, बगीचे में जाकर प्रकृति की गोद में कब निवास करूँगा?

कब आशा का पात्र नष्ट हो और हृदय से लोभ भी निकल जाए अर्थात् कामनाएँ - तृष्णा समाप्त हो!

कब ऐसा होगा कि सभी जीवों को अपने समान जानूँ! उनसे सभी प्रकार का राग-द्वेष का भाव त्यागूँ!

द्यानतराय कहते हैं कि जब इस प्रकार सब घटनाएँ घटित हों वह घड़ी ही अत्यन्त भाग्यशाली होगी।

(२६३)

राग सारंग

मोहि कब ऐसा दिन आय है ॥ टेक ॥
सकल विभाव अभाव होंहिंगे, विकलपता मिट जाय है॥ मोहि. ॥

यह परमातम यह मम आतम, भेद-बुद्धि न रहाय है।
औरनिकी का बात चलावै, भेद-विज्ञान पलाय है॥ मोहि. ॥ १ ॥

जानैं आप आपमें आपा, सो व्यवहार विलाय है।
नय-परमान-निखेपन-माहीं, एक न औसर पाय है॥ मोहि. ॥ २ ॥

दरसन ज्ञान चरनके विकलप, कहो कहाँ ठहराय है।
'द्यानत' चेतन चेतन ह्वै है, पुदगल पुदगल थाय है॥ मोहि. ॥ ३ ॥

हे भगवन्! मेरा ऐसा दिन कब आयेगा जब मेरे सारे विभाव समाप्त होकर मेरे सारे विकल्प मिट जायेंगे – समाप्त हो जायेंगे!

मेरा यह आत्मा ही परमात्मा बन जाये। इसमें कोई भेद या अन्तर न रह जावे। पर अन्य क्या बात करें जब तनिक भी भेद-ज्ञान नहीं है।

एकमात्र मैं स्वयं अपने आपको सबसे अलग जानूँ। वहाँ ज्ञाता-ज्ञेय का भेद व्यवहार भी विलीन हो जाए अर्थात् ज्ञानरूप अनुभूति ही शेष रह जाए। नय, प्रमाण, निक्षेप के भेद का एक अवसर भी शेष न रहे। ऐसा दिन कब आयेगा?

मुझे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी विकल्प भी न रहे अर्थात् तीनों रत्नत्रय एकरूप ही हो जाएँ। द्यानतराय कहते हैं चेतन चेतन होकर रहे और पुदगल-पुदगल रूप ही रहे। वह दिन कब आयेगा!

(२६४)

राग ललित

ये दिन आछे लहे जी लहे जी ॥ टेक ॥

देव धरम गुरूकी सरधा करि, मोह मिथ्यात दहे जी दहे जी ॥ ये. ॥ १ ॥

प्रभु पूजे सुने आगमको, सतसंगतिमाहिं रहे जी रहे जी ॥ ये. ॥ २ ॥

'द्यानत' अनुभव ज्ञानकला कछु, संजम भाव गहे जी गहे जी ॥ ये. ॥ ३ ॥

हे प्राणी ! (मनुष्य पर्याय के) ये दिन तेरे लिए अत्यन्त शुभ आए हैं। इन दिनों में धर्म और गुरु की श्रद्धा करके मोह व मिथ्यात्व का नाश कर।

इन दिनों प्रभु की पूजा करो, आगम का उपदेश सुनो और भले-सज्जन लोगों का साथ करो।

द्यानतराय कहते हैं कि इससे अर्जित अनुभव ज्ञान व जीने की कला, व्यवस्था को जानकर, समझकर संयम-साधन के भाव जागृत करो व इनका पालन करो।

(२६५)

राग केदारो

रे जिय! जनम लाहो लेह ॥ टेक ॥
चरन ते जिन भवन पहुँचैं, दान दैं कर जेह॥ रे जिय.॥

उर सोई जामैं दया है, अरु रुधिरको गेह।
जीभ सो जिन नाम गावै, सांचसौं करै नेह॥ रे जिय.॥ १॥

आंख ते जिनराज देखैं, और आँखैं खेह।
श्रवन ते जिनवचन सुनि शुभ, तप तपै सो देह॥ रे जिय.॥ २॥

सफल तन इह भांति ह्वै है, और भांति न केह।
ह्वै सुखी मन राम ध्यावो, कहैं सदगुरु येह॥ रे जिय.॥ ३॥

अरे जिया! तुम इस दुर्लभ उपयोगी मनुष्य जीवन का सुरुचिपूर्वक, भक्तिपूर्वक लाभ प्राप्त करो। अपने हाथों से दान दो व स्वयं अपने पाँवों से चलकर जिन मन्दिर में पहुँचो · प्रवेश करो।

वह ही हृदय सार्थक है जिसमें करुणा होती है अन्यथा तो यह मात्र रुधिर/रक्त का घर है। जीभ से जिन-नाम का स्मरण करो और सत्य से सदा अनुराग करो।

नेत्रों से जिनराज के दर्शन करने से ही उनकी सार्थकता है अन्यथा तो ये आँखें धूल के समान निरर्थक हैं। कानों से जिनराज के वचन सुनें तो ही कान सार्थक हैं और देह से शुभ तप तपें तो ही देह सार्थक है।

इस प्रकार की क्रियाओं से ही यह देह, यह तन सार्थक है, सफल है, इस प्रकार यह जनम सफल होता है, अन्य किसी प्रकार से सफल नहीं होता। सद्गुरु उपदेश देते हैं कि प्रमुदित होकर अपने मन में, अपने इष्ट का ध्यान करो। इस प्रकार इस जन्म का लाभ प्राप्त करो।

लाह - लाभ; लेह = स्वादिष्ट, चाटने योग्य; खेह - व्यर्थ, धूल।

(२६६)

विपतिमें धर धीर, रे नर! विपतिमें धर धीर॥ टेक॥

सम्पदा ज्यों आपदा रे!, विनश जै है वीर॥ रे नर.॥ १॥

धूप छाया घटत बढ़ै ज्यों, त्योंहि सुख दुख पीर॥ रे मन.॥ २॥

दोष 'द्यानत' देय किसको, तोरि करम-जँजीर॥ रे मन.॥ ३॥

हे नर। विपत्ति में तू धैर्य धारण कर।

यह सम्पदा परिग्रह है, आपदा है, आपत्ति है। जो इस सम्पदा को त्यागते हैं वे ही वीर होते हैं अर्थात् अपरिग्रही ही वीर होते हैं।

जिस प्रकार धूप के साथ-साथ वस्तु की छाया भी कभी छोटी, कभी बड़ी होती रहती है, छाया के समान कभी सुख होते हैं, कभी दुःख होते हैं, उसी प्रकार सुख-दुःख की पीड़ा भी कभी छोटी, कभी बड़ी, कभी कम या अधिक, कभी मन्द या तीव्र होती जाती है।

द्यानतराय कहते हैं कि इसमें दोष किसको दें? अरे कर्म की जंजीर को तोड़ दो, क्योंकि कर्म ही सुख-दुख का, जन्म-मरण का कारण है।

वीर! री पीर कासों कहिये॥ टेक॥

ध्रौव्य अनूपम अचल मुकति गति, छाँडि चहूँगति दुख क्यों सहिये॥

चेतन अमल शरीर मलिन जड़, तासों प्रीति कहौ क्यों चहिये।
अनुभव अम्रत विषय विषम फल, त्यागि सुधारस विष क्यों गहिये॥ १॥

तिहुँ जगठाकर रतनत्रयनिधि, चाकर दीन भये क्यों रहिये।
'द्यानत' पीर सुलहि प्रभु भेषज, रोम रोम आनँद लौं लहिये॥ २॥

हे वीर! तुम अपनी कष्ट-कथा किसको कहते हो? तुम्हारे दु:खों का कारण तुम स्वयं ही हो तब किससे अपनी पीड़ा कहते हो? उपमारहित, स्थिर, मोक्ष की पंचमगति को छोड़कर, चार गति के दु:खों को क्यों सहन करते हो?

यह चेतन निर्मल है, मलरहित है। यह देह मलसहित है, जड़ है, तो इससे क्यों प्रीति करते हो? आत्मानुभव अमृत है; इन्द्रिय-विषय अत्यन्त दु:खदायी हैं तो तुम अमृत को छोड़कर विष को क्यों ग्रहण करते हो?

तुम रत्नत्रय की सम्पदा को पाकर तीन लोक के नाथ हो सकते हो, तो दीन होकर नौकर-चाकर की भाँति क्यों रहते हो? द्यानतराय कहते हैं कि यह प्रभु नाम उत्तम औषधि है इसका अनुपान कर रोम-रोम से आनन्द की अनुभूति करो।

(२६८)

समझत क्यों नहिं वानी, अज्ञानी जन॥ टेक॥
स्यादवाद-अंकित सुखदायक, भाषी केवलज्ञानी॥ समझत.॥

जास लखैं निरमल पद पावै, कुमति कुगतिकी हानी।
उदय भया जिहिमें परगासी, तिहिं जानी सरधानी॥ समझत.॥ १॥

जामें देव धरम गुरु वरनें, तीनौं मुकतिनिसानी।
निश्चय देव धरम गुरु आतम, जानत विरला प्रानी॥ समझत.॥ २॥

या जगमांहि तुझे तारनको, कारन नाव बखानी।
'द्यानत' सो गहिये निहचैसों, हूजे ज्यों शिवथानी॥ समझत.॥ ३॥

अरे अज्ञानी पुरुष! तू दिव्यध्वनि जिनवाणी को क्यों नहीं समझता है? वह जिनवाणी स्याद्वाद-सिद्धान्त से चिह्नित है अर्थात् स्याद्वाद द्वारा पहचानी जाती है, सुखदायक है और केवलज्ञानी के द्वारा कही हुई है।

उस जिनवाणी को देख-समझकर प्राणी निर्मल पद को प्राप्त करता है और कुमति व कुगति दोनों को ही नष्ट करता है। जिसके अन्त:करण में ज्ञानरूप प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है, उदय होता है उसके हृदय में श्रद्धान, आस्था दृढ़ होती है।

मुक्ति का मार्ग दिखाने व बतलानेवाले देव, शास्त्र व गुरु की महिमा जिस वाणी में कही गई है ऐसे देव, शास्त्र व गुरु के स्वरूप को कोई बिरला प्राणी ही अपनी आत्मा में अनुभव करता है, जानता है।

इस भवसागर से पार उतारने हेतु यह जिनवाणी नाव के समान साधन है। द्यानतराय कहते हैं कि जो उस दिव्यध्वनि को निश्चय से अपनी आत्मा में ग्रहण करते हैं वे शिवसुख को पाते हैं, सिद्धशिला पर अपना स्थान पाते हैं।

(२६९)

संसारमें साता नाहीं वे॥ टेक॥

छिनमें जीना छिनमें मरना, धन हरना छिनमाहीं वे॥ संसार.॥ १॥

छिनमें भोगी छिनमें रोगी, छिनमें छय-दुख पाहीं वे॥ संसार.॥ २॥

'द्यानत' लखके मुनि होवैं जे, ते पावैं सुख ठाहीं वे॥ संसार.॥ ३॥

इस संसार में सुख नहीं है। यहाँ क्षण-क्षण में जीना, क्षण-क्षण में मरना और क्षण में ही धन को लूट लेना होता रहता है। कभी किसी क्षण में खूब भोग भोगता है, तो कभी किसी क्षण में रोगग्रस्त हो जाता है और क्षण में ही दु:ख पाकर क्षत हो जाता है, मर जाता है।

द्यानतराय कहते हैं कि संसार की यह दशा देखकर जो मुनि/त्यागी/वैरागी हो जाते हैं, वे ही सुख प्राप्त करते हैं।

(२७७)

राग आसावरी

सोग न कीजे बावरे! मरें पीतम लोग॥ टेक॥
जगत जीव जलबुदबुदा, नदि नाव सँजोग॥

आदि अन्तको संग नहिं, यह मिलन वियोग।
कई बार सबसों भयो, सनबंध मनोग॥ सोग.॥ १॥

कोट वरष लौं रोइये, न मिलै वह जोग।
देखैं जानैं सब सुनैं, यह तन जमभोग॥ सोग.॥ २॥

हरिहर ब्रह्मासे खये, तू किनमें टोग।
'द्यानत' भज भगवन्त जो, विनसै यह रोग॥ सोग.॥ ३॥

अरे बावले। अपने प्रियजनों की मृत्यु पर तू शोक न कर। इस जगत का जीवन पानी के बुलबुले के समान क्षणिक है। आत्मा का इस देह से संयोग नदी में नाव के समान अल्पकालीन है।

इस आत्मा का यह देह-संयोग अर्थात् मिलन और वियोग शुरू से अन्त तक साथ रहनेवाला नहीं है। इस प्रकार का मनोहर सम्बन्ध अनेक बार सभी प्रकार की देहों से बन चुका है।

एक बार पाकर नष्ट हुआ संयोग/सम्बन्ध करोड़ों वर्षों तक रोने पर भी पुनः नहीं मिलता। सब इसे देखते, जानते व सुनते हैं कि यह देह तो यम का भोग/भोजन है अर्थात् यम का ग्रास है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसों का भी क्षय होता है तो तेरी क्या बिसात है, क्या हस्ती है? द्यानतराय कहते हैं कि तू भगवान का भजन कर जिससे यह मृत्यु-रोग ही नष्ट हो जाए।

सनबंध = सम्बन्ध।

(२७१)

राग रामकली

हम न किसीके कोई न हमारा, झूठा है जगका ब्योहारा॥ टेक॥
तनसम्बन्धी सब परिवारा, सो तन हमने जाना न्यारा॥ हम.॥

पुन्य उदय सुखका बढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा।
पाप पुन्य दोऊ संसारा, मैं सब देखन जाननहारा॥ १॥

मैं तिहुं जग तिहुं काल अकेला, पर संजोग भया बहु मेला।
थिति पूरी करि खिर खिर जांहीं, मेरे हर्ष शोक कछु नाहीं॥ २॥

राग भावतैं सज्जन मानैं, दोष भावतैं दुर्जन जानैं।
राग दोष दोऊ मम नाहीं, 'द्यानत' मैं चेतनपदमाहीं॥ ३॥

हे प्राणी! न तो हम किसी के हैं और न कोई हमारा है। जग में जो अपने-पन का व्यवहार प्रचलित है, वह नितान्त झूठा है, मिथ्या है। यह सब परिवार इस शरीर से सम्बन्धित है; परन्तु हम जानते हैं कि यह तन भी हमसे न्यारा है, अलग है।

पुण्योदय होता है तो सुख की वृद्धि होती है। पाप का उदय होता है तो अपार (जिसका कोई पार नहीं होता) दुःख उत्पन्न होता है। पाप और पुण्य ये दोनों ही क्रियाएँ संसार की हैं, मैं तो इन सबका दृष्टा मात्र हूँ, देखनेवाला हूँ।

मैं तीन लोक में, तीन काल में सदा अकेला हूँ। पर के संयोग के कारण यह (पारिवारिक) मेला-सा जुट गया है। जैसे-जैसे इसकी स्थिति पूरी होती जाती है, ये सब संयोग विघटते जाते हैं, खिर जाते हैं, खत्म होते जाते हैं इसलिए इन संयोगों के प्रति मेरे न कोई हर्ष है और न मेरे कोई शोक है, न विषाद है।

राग-भाव के कारण अपनापन होता है, जिसके कारण प्राणी अपना समझा व कहा जाता है, सज्जन व भला आदमी समझा व जाना जाता है। और बैरभाव के कारण वह दुष्ट गिना जाता है। परन्तु न तो यह राग-भाव मेरा है और न यह द्वेष-भाव ही मेरा है। द्यानतराय कहते हैं कि मेरा तो यह चेतनपद है, जो इन दोनों (राग-द्वेष) से भिन्न है - वह ही मेरा अपना है।

(२७२)

राग गौरी

हमारो कारज कैसें होय॥ टेक॥
कारण पंच मुकति मारगके, जिनमेंके हैं दोय॥ हमारो.॥

हीन संघनन लघु आयूषा, अल्प मनीषा जोय।
कच्चे भाव न सच्चे साथी, सब जग देख्यो टोय॥ हमारो.॥ १॥

इन्द्री पंच सुविषयहि दौरैं, मानैं कह्या न कोय।
साधारन चिरकाल वस्यो मैं, धरम बिना फिर सोय॥ हमारो.॥ २॥

चिन्ता बड़ी न कछु बनि आवै, अब सब चिन्ता खोय।
'द्यानत' एक शुद्ध निजपद लखि, आपमें आप समोय॥ हमारो.॥ ३॥

हे प्रभु! हमारा कार्य कैसे सिद्ध हो? कैसे सम्पन्न हो? मुक्तिमार्ग के कारण पंच परमेष्ठी हैं, जिनमें से कार्यरूप तो केवल अरहंत और सिद्ध, ये दो ही हैं।

हमारा संहनन (शक्ति) हीन अर्थात् कमजोर है। आयु भी थोड़ी है, तथा बुद्धि भी थोड़ी ही है। इस प्रकार के कच्चे - बिना पके भाव हमारे सच्चे साथी नहीं हो सकते। यह भाव-जगत में हमने देख लिया है।

हमारी पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ रही हैं। वे किसी का कहना सुनती ही नहीं हैं अर्थात् मन इन्द्रिय-विषयों में ही लुब्ध रहता है, उनमें ही राचता है, मुग्ध होता है। बहुत काल तक मैं साधारण वनस्पति रूप में एकेन्द्रिय बनकर निगोद राशि में भटकता रहा, जहाँ धर्म की प्रतीति ही नहीं है।

हाँ, यह चिन्ता तो बहुत है पर इसका निराकरण कैसे हो - यह दिखाई नहीं देता। द्यानतराय कहते हैं कि अब चिन्ता को छोड़कर अपने आप में अपने आप को ही देखो और उसी में स्वयं लीन हो जावो।

(२७३)

राग गौरी

हमारो कारज ऐसे होय॥ टेक॥

आतम आतम पर पर जानैं, तीनौं संशय खोय॥ हमारो.॥

अंत समाधिमरन करि तन तजि, होय शक्र सुरलोय।
विविध भोग उपभोग भोगवै, धरमतनों फल सोय॥ हमारो.॥ १॥

पूरी आयु विदेह भूप ह्वै, राज सम्पदा भोय।
कारण पंच लहै गहै दुद्धर, पंच महाव्रत जोय॥ हमारो.॥ २॥

तीन जोग थिर सहै परीसह, आठ करम मल धोय।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव विलसै, जनमैं मरै न कोय॥ हमारो.॥ ३॥

हे साधक! हमारा कार्य इस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि हम अपनी आत्मा को आत्मा जानें। इस आत्मा से भिन्न जो भी है वह दूसरा है, वह पर है, उसे पर जानें। उसमें संशय, विमोह व विभ्रम तनिक भी न करें अर्थात् स्व को 'स्व' और पर को 'पर' जानें।

अंत समय समाधिमरण करते हुए इस देह को छोड़ें और देवलोक में जाकर देवरूप में, इन्द्ररूप में अगला जन्म धारण करें जहाँ अनेक प्रकार के भोग व उपभोग उपलब्ध हैं उन्हें धर्म के फल रूप में भोग करें।

पंच महाव्रत के पालन व दुर्द्धर तप के फलरूप में, धर्म के फलरूप में ही विदेह क्षेत्र में राजा होकर राज-सम्पदा, भोग-सामग्री प्राप्त होती है। इन पंच महाव्रत व दुर्द्धर तप से मोक्ष के कारणरूप पाँच लब्धियाँ[1] प्राप्त होती हैं।

---

१. क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि।

मन, वचन, काय की चंचलता को रोककर स्थिर होवें तथा जो भी अन्य बाह्य परीषह आवें उनको समता व दृढ़तापूर्वक सहन करें; इस प्रकार अष्ट कर्मरूपी मैल को धोवें। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसी ही क्रिया से कर्म-मल नष्ट होकर मोक्ष में अनन्तसुख रूप लक्ष्मी की प्राप्ति होती है अर्थात् जन्म व मरण नहीं होता।

(२७४)

हमारे ये दिन यों ही गये जी ॥ टेक ॥

कर न लियो कछु जप तप जी, कछु जप तप,
बहु पाप बिसाहे नये जी ॥ हमारे. ॥ १ ॥

तन धन ही निज मान रहे, निज मान रहे,
कबहूँ न उदास भये जी ॥ हमारे. ॥ २ ॥

'द्यानत' जे करि हैं करुना, करि हैं करुना,
तेइ जीव लेखेमें लये जी ॥ हमारे. ॥ ३ ॥

ओह! हमारा अब तक का समय निरर्थक ही गया।

हमने कुछ भी जप-तप नहीं किया। कुछ जप-तप किया भी तो खूब नए-नए पाप ही उपार्जित किए हैं।

तन-धन को ही अपना मानते रहे और उनको अपना मानकर कभी उनसे उदास नहीं हुए, विरक्त नहीं हुए।

द्यानतराय कहते हैं कि जिन्होंने (जिन जीवों ने) करुणा धारण की है वे ही जीव आपने अपने लेखे में (गणना में) लिये हैं अर्थात् आपने उन्हीं पर ध्यान दिया है।

(२७५)

ज्ञानी जीव-दया नित पालैं ॥ टेक ॥

आरँभतैं परघात होत है, क्रोध घात निज टालैं ॥ ज्ञानी. ॥

हिंसा त्यागि दयाल कहावै, जलै कषाय बदनमें।
बाहिर त्यागी अन्तर दागी, पहुँचै नरकसदनमें ॥ ज्ञानी. ॥ १ ॥

करै दया कर आलस भावी, ताको कहिये पापी।
शांत सुभाव प्रमाद न जाकै, सो परमारथव्यापी ॥ ज्ञानी. ॥ २ ॥

शिथिलाचार निरुद्यम रहना, सहना बहु दुख भ्राता।
'द्यानत' बोलन डोलन जीमन, करैं जतनसों ज्ञाता ॥ ज्ञानी. ॥ ३ ॥

ज्ञानी जीव सदैव दयालु होते हैं। आरम्भ (क्रिया) करने से परजीवों का घात होता है और क्रोध से स्वयं का घात होता है। ज्ञानी उन दोनों अवस्थाओं को टालते हैं, उनसे अपने को बचाते हैं अर्थात् वे निजघात व परघात दोनों को टालते हैं।

बाह्य में हिंसा छोड़ने पर दयालु कहे जाते हैं, परन्तु कषायों के कारण अंतरंग में वे जल रहे हैं। ऐसे बाहर से त्यागी दिखाई देनेवाले, अंतरंग में सब परिग्रहों को ढो रहे जीव/प्राणी नरकगामी होते हैं।

दया करने में जिन्हें आलस्य आता है, उन्हें पापी कहा जाता है। परन्तु जो शांत स्वभावी हैं, अप्रमादी-प्रमादरहित है, सावधान हैं वे परमार्थ में लीन रहते हैं।

अरे भाई! शिथिलाचार और पुरुषार्थहीन बने रहना तो बहुत दु:खों का कारण है। द्यानतराय कहते हैं कि बोलने में, चलने में, भोजन में जो यत्नपूर्वक व्यवहार करता है, वह ही ज्ञानी है।

आरम्भ क्रिया - पाप क्रिया।

(२७६)

कब हौं मुनिवरको व्रत धरिहौं ॥ टेक ॥

सकल परिग्रह तिन सम तजिकै, देहसौं नेह न करिहौं ॥ कब ॥ १ ॥

कब बावीस परीषह सहिकै, राग दोष परिहरिहौं ॥ कब. ॥ २ ॥

'द्यानत' ध्यान-यान कब चढ़िकै, भवदधि पार उतरिहौं ॥ कब. ॥ ३ ॥

ऐसा समय कब आयेगा जब मैं मुनिराज के समान व्रत धारण करूँगा!

सब परिग्रह को तिनके के समान त्यागकर, छोड़कर देह से मोहभाव छोड़ूँगा, ऐसा मुनिव्रत कब धारण करूँगा!

वह स्थिति कब आएगी कि बाईस परिषह को सहन करने की क्षमता मुझे प्राप्त होगी और राग-द्वेष मोह को छोड़कर समता धारण करूँगा!

द्यानतराय कहते हैं कि कब मैं ध्यानरूपी नाव पर, यान पर बैठकर भवसागर के पार होऊँगा?

तिन = तृण, तिनका।

(२७७)

राग कल्याण (सर्व लघु)

कहत सुगुरु करि सुहित भविकजन! ॥ टेक ॥

पुदगल अधरम धरम गगन जम, सब जड़ मम नहिं यह सुमरहु मन॥

नर पशु नरक अमर पर पद लखि, दरब करम तन करम पृथक भन।
तुम पद अमल अचल विकलप बिन, अजर अमर शिव अभय अखय गन॥ १॥

त्रिभुवनपतिपद तुम पटतर नहिं, तुम पद अतुल न तुल रविशशिगन।
वचन कहन मन गहन शकति नहिं, सुरत गमन निज जिन गम परनन॥ २॥

इह विधि बँधत खुलत इह विधि जिय, इन विकलपमहिं, शिवपद सधत न।
निरविकलप अनुभव मन सिधि करि, करम सघन वनदहन दहन-कन॥ ३॥

सत्गुरु भव्यजनों के हित के लिए उपदेश देते हैं, संबोधित करते हैं कि ए मेरे मन! पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये सब अजीव हैं, जड़ हैं! ये मेरे नहीं है क्योंकि मेरा आत्मा जड़ नहीं है, चैतन्य है, ऐसा सदैव स्मरण रखो।

देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच ये चारों गतियाँ 'पर' रूप हैं, द्रव्यकर्म व नोकर्म शरीर से भिन्न यह आत्मा निर्मल, अचल, अजर, अमर, निर्विकल्प, शिव, अभय, अक्षय आदि गुणों का समूह है।

आपके समान तीन लोक का नाथ अन्य कोई नहीं है। आपके तेज की समता सूर्य और चन्द्रमा के समूह भी नहीं कर सकते। आपका ध्यान आते ही निज में निज की जो परिणति होती है, उसे वचन से कहने व मन से ग्रहण करने की सामर्थ्य व शक्ति नहीं है।

संसार में इस प्रकार कर्म बंध होते हैं और इस प्रकार निर्जरा होती है, इस प्रकार कर्म झड़ते हैं – इन विकल्पों के रहते मोक्षमार्ग की साधना नहीं होती। इसलिए निर्विकल्प होकर आत्मचिंतन करने पर ही कर्मरूपी सघन वन के कण-कण को दहनकर नष्ट किया जा सकता है।

जम – काल द्रव्य।

नोट : इस भजन में सर्वत्र लघु वर्णों का प्रयोग किया गया है।

गुरु समान दाता नहिं कोई॥ टेक॥
भानु-प्रकाश न नाशत जाको, सो अँधियारा डारै खोई॥ गुरु॥

मेघसमान सबनपै बरसै, कछु इच्छा जाके नहिं होई।
नरक पशूगति आगमांहितैं, सुरग मुकत सुख थापै सोई॥ गुरु.॥ १॥

तीन लोक मन्दिरमें जानौ, दीपकसम परकाशक-लोई।
दीपतलै अँधियार भर्‌यो है, अन्तर बहिर विमल है जोई॥ गुरु.॥ ३॥

तारन तरन जिहाज सुगुरु हैं, सब कुटुम्ब डोबै जगतोई।
'द्यानत' निशिदिन निरमल मनमें, राखो गुरु-पद-पंकज दोई॥ गुरु.॥ ३॥

हे आत्मन्! गुरु के समान दाता अर्थात् देनेवाला अन्य कोई नहीं है।

अपने भीतर की मलीनता को, अंधकार को जिसे सूर्य का प्रकाश भी नहीं भेद सकता अर्थात् मिटा नहीं सकता, उसको वह गुरु ज्ञान के आलोक से, प्रकाश से नष्ट कर देता है, खो देता है।

जैसे मेघ समानरूप से चारों तरफ बरसता है। इस प्रकार बरसने की उसकी स्वयं कोई इच्छा नहीं होती वह स्वत: ही बरसता है। वैसे ही गुरु जीवों को नरक व पशुगति की दाह से बाहर निकालकर स्वर्ग व मुक्ति के सुख में मात्र ज्ञान के द्वारा स्थापित करता है।

वह गुरु तीन लोक में चैत्य (मन्दिर) के समान पूज्य है अर्थात् श्रद्धा व विश्वास का केन्द्र है। दीपक स्वयं जलकर अपने चारों ओर प्रकाश करता है किन्तु उस लौकिक दीपक के तले तो अँधियारा होता है पर गुरु तप करता है और वह अन्तर तथा बाह्य सब ओर से प्रकाशक होता है।

गुरु ज्ञान के द्वारा संसार से उस पार उतारने के लिए जहाज के समान है, जबकि सारा कुटुम्ब तो संसार में डुबानेवाला है। द्यानतराय कहते हैं कि अपने मन को निर्मल कर उसमें ऐसे गुरु के चरण-कमल को सदा आसीन रखो, उसे श्रद्धापूर्वक सदैव नमन करो।

धनि ते साधु रहत वनमाहीं ॥ टेक ॥
शत्रु मित्र सुख दुख सम जानैं, दरसन देखत पाप पलाहीं ॥ धनि. ॥

अट्ठाईस मूलगुण धारैं, मन वच काय चपलता नाहीं।
ग्रीषम शैल-शिखा हिम तटिनी, पावस वरषा अधिक सहाहीं ॥ १ ॥

क्रोध मान छल लोभ न जानैं, राग दोष नाहीं उनपाहीं।
अमल अखंडित चिद्गुणमण्डित, ब्रह्मज्ञानमें लीन रहाहीं ॥ २ ॥

तेई साधु लहैं केवलपद, आठ-काठ दह शिवपुर जाहीं।
'द्यानत' भवि तिनके गुण गावैं, पावैं शिवसुख दुःख नसाहीं ॥ ३ ॥

वे साधु धन्य हैं जो निर्जन वन में, एकान्त में रहते हैं। उनके लिए शत्रु-मित्र, सुख-दुख सब समान हैं। उनके, ऐसे गुरु के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं, दूर हो जाते हैं। वे मुनि २८ मूल गुणों को धारण करते हैं, पालन करते हैं। उनके मन-वचन-काय की चंचलता नहीं होती। गर्मी की तपन में वे पहाड़ की चोटी पर, सर्दी में नदी के किनारे और वर्षाऋतु में वृक्ष तले तपस्या करते हैं और सब परिषह सहन करते हैं।

वे क्रोध, मान, छल (माया) और लोभ इन चार कषायों को छोड़ चुके हैं, इससे उनके राग और द्वेष नहीं होता। वे अपने निर्मल चैतन्य स्वरूप में, अखंड आत्मस्वरूप के ज्ञान में लीन रहते हैं, मगन रहते हैं।

वे ही साधु केवलज्ञान की स्थिति को प्राप्त करते हैं। आठ प्रकार के कर्मरूपी ईंधन को जलाकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि जो भव्यजन उनके गुणों का स्मरण करते हैं वे दुःखों का नाश करके मोक्ष-सुख की प्राप्ति करते हैं।

---

२८ मूलगुण = ५ **महाव्रत** – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह; ५ **समिति** – ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण व प्रतिष्ठापना; ५ **इन्द्रियरोध** – स्पर्शन, रसना, घ्राण, नयन व कर्ण; ७ **गुण** – अस्नान, भूमि शयन, अदन्त धोवन, वस्त्रत्याग, केशलोंच, दिन में एक बार भोजन, खड़े-खड़े भोजन; ६ **आवश्यक** – समताभाव, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग।

(२८०)

धनि धनि ते मुनि गिरिवनवासी ॥ टेक ॥
मार मार जगजार जारते, द्वादश व्रत तप अभ्यासी ॥ धनि. ॥

कौड़ी लाल पास नहिं जाके, जिन छेदी आसापासी।
आतम-आतम, पर-पर जानैं, द्वादश तीन प्रकृति नासी ॥ धनि. ॥ १ ॥

जा दुख देख दुखी सब जग है, सो दुख लख सुख है तासी।
जाकों सब जग सुख मानत है, सो सुख जान्यो दुखरासी ॥ धनि. ॥ २ ॥

बाहज भेष कहत अंतर गुण, सत्य मधुर हितमितभासी।
'द्यानत' ते शिवपंथपथिक हैं, पांव परत पातक जासी ॥ धनि. ॥ ३ ॥

अहो। वे मुनिराज जो पहाड़ों पर रहते हैं, वन में रहते हैं, धन्य हैं। जो बारह व्रत व तप की साधना करते हैं, उनका पालन कर, जगत को जलानेवाली काम की मार को नष्ट करते हैं।

जिनके पास एक कौड़ी भी नहीं है। जो सर्वांग रूप से, सब प्रकार सब ओर से आत्मा व पुद्गल के भेदज्ञान द्वारा पंद्रह प्रकार के प्रमाद को जीतते हैं, वश में करते हैं अर्थात् आत्मा को आत्मा व पुद्गल को जड़ जानकर आचरण करते हैं, उस भेदस्थिति का ध्यान करते हैं वे मुनिराज धन्य हैं।

जिन दु:खों को देखकर सारा जगत दुखी है, वे उन्हीं दु:खों को सुख का (निमित्त) कारण मानते हैं। ऐसे पौद्गलिक सुख को, जिसे सारा जगत सुख का कारण मानता है, वे दु:ख के कारण हैं जिन्होंने यह जान लिया है वे मुनिराज धन्य हैं।

बाह्य के भेष से आंतरिक गुणों का अनुमान-ज्ञान होता है। जो सत्य, मीठे तथा हितकारी वचन बोलते हैं, ऐसे मुनिजन मोक्षमार्ग के पथिक हैं, राही हैं। जिधर से वे विचरण करते हैं उनके चरणों के प्रभाव से पापों का नाश होता है। उनके चरण वंदनीय हैं, पापनाशक हैं।

मार = कामदेव; १५ प्रमाद - ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय-विषय, १ निद्रा, १ राग।

(२८१)

भाई धनि मुनि ध्यान-लगायके खरे हैं॥ टेक॥

मूसल भारसी धार परै है बिजुली कड़कत सोर करै है॥ भाई.॥ १॥

रात अँध्यारी लोक डरे हैं, साधुजी आपनि करम हरे हैं॥ भाई.॥ २॥

झंझा पवन चहूँदिशि बाजैं, बादर घूम घूम अति गाजैं॥ भाई.॥ ३॥

डंस मसक, बहु दुख उपराजैं, 'द्यानत' लाग रहे निज काजैं॥ भाई.॥ ४॥

हे भाई! वे मुनि धन्य हैं जो ध्यानस्थ होकर खड़े हुए हैं।

वर्षा ऋतु में मूसलाधार वर्षा हो रही है और चारों ओर बिजली कड़ककर, कौंधकर शोर मचा रही है, वातावरण को भयावना कर रही है।

रात अँधेरी है, सुनसान अँधेरे में संसार भयावना लगता है। ऐसे में साधु खड़े हैं, तपस्या में लीन हैं और अपने कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं।

चारों ओर से तीव्र पवन के झौंके, वायु के सर-सर करके बहने से व परस्पर संघात से ध्वनि उत्पन्न करते हैं। बादल भी उनके प्रवाह के साथ घुमड़ जाते हैं, गर्जना करते हैं।

वर्षाकाल में मच्छरों, डांसों की उत्पत्ति हो जाती है। वे डसते हैं, डंक मारते हैं, दुःख उपजाते हैं और विकल करते हैं। द्यानतराय कहते हैं कि उस समय भी वे मुनि अपने निज के काज में अर्थात् आत्मध्यान में लीन हो रहे हैं। इस प्रकार अपने कर्मों की निर्जरा करने में संलग्न हैं।

यारी कीजै साधो नाल ॥ टेक ॥

आपद मेटै संपद भैंटै, बेपरवाह कमाल ॥ यारी. ॥ १ ॥

परदुख दुखी सुखी निज सुखसों, तन छीनैं मन लाल ॥ यारी. ॥ २ ॥

राह लगावै ज्ञान जगावै, 'द्यानत' दीनदयाल ॥ यारी. ॥ ३ ॥

हे साधो! हे भव्यजन! संगति करो तो सज्जनों की करो, साधु की करो। उनके उपदेश को सुनो।

वे सज्जन, साधुजन सब आपदाओं को मिटा देते हैं, सुख-संपदा देते हैं। वे चिन्तामुक्त होकर मस्त रहते हैं -- बड़ा अद्भुत है यह।

वे दूसरों के दु:ख में दु:खी और अपने आत्म-चिंतन में सुखी रहते हैं। अपने-तन की चिन्ता नहीं करते हैं और मन को वश में रखते हैं।

वे साधु पथ-दर्शक हैं, उन साधुओं के चरण ही अनुकरणीय हैं, वे भव्यजनों को मोक्ष की राह पर अग्रसर करते हैं। वे लोगों को उपदेश देते हैं, उनके ज्ञान को जागृत करते हैं। वे असहाय के सहायक हैं, दयालु हैं।

नाल = साथ, संगति।

(२८३)

सोहां दीव (सोभा देवें) साधु तेरी वातड़ियां ॥ टेक ॥

दोष मिटावैं हरष बढ़ावैं, रोग सोग भय घातड़ियां ॥ सोहां ॥ १ ॥

जग दुखदाता तुमही साता, धनि ध्यावै उठि प्रातड़ियां ॥ सोहां ॥ २ ॥

'द्यानत' जे नरनारी गावैं, पावैं सुख दिन रातड़ियां ॥ सोहां ॥ ३ ॥

हे साधु! तेरी बातें मन को सुहानी लगती हैं, अच्छी लगती हैं। इससे दोष नष्ट होते हैं, मिटते हैं और मन में प्रसन्नता बढ़ती है। ये रोग, शोक और भय को नष्ट करती हैं।

सारा जगत दुःख ही उपजानेवाला है। एक तुम ही तो हो जहाँ सुख मिलता है। इसलिए सुबह उठकर जो तुम्हारा ध्यान करता है, वह ही धन्य है।

द्यानतराय कहते हैं कि जो नर-नारी तेरा गुणगान करते हैं वे दिन-रात, सदैव सुख पाते हैं।

(२८४)

राग आसावरी जोगिया

कलिमें ग्रंथ बड़े उपगारी ॥ टेक ॥
देव शास्त्र गुरु सम्यक सरधा, तीनों जिनतैं धारी ॥ कलि. ॥

तीन बरस वसु मास पंद्र दिन, चौथा काल रहा था।
परम पूज्य महावीरस्वामी तब, शिवपुरराज लहा था ॥ कलि. ॥ १ ॥

केवलि तीन पांच श्रुतिकेवलि, पीछैं गुरुनि विचारी।
अंगपूर्व अब हैं न रहैंगे, बात लिखी थिरथारी ॥ कलि. ॥ २ ॥

भविहित कारन धर्मविधारन, आचारजों बनाये।
बहु तिन तिनकी टीका कीनीं, अदभुत अरथ समाये ॥ कलि. ॥ ३ ॥

केवल श्रुतकेवलि यहां नाहीं, मुनि गुन प्रगट न सूझैं।
दोऊ केवलि आज यही है, इनहीको, मुनि बूझैं ॥ कलि. ॥ ४ ॥

बुद्धि प्रगट कर आप बांचिये, पूजा वंदन कीजै।
दरब खरच लिखवाय सुधाय सु, पण्डित जन बहु दीजै ॥ कलि. ॥ ५ ॥

पढ़तैं सुनतैं चरचा करतैं, है संदेह जु कोई।
आगम माफिक ठीक करै के, देख्यो केवल सोई ॥ कलि. ॥ ६ ॥

तुच्छबुद्धि कछु अरथ जानिकै, मनसों विंग उठाये।
औधज्ञानि श्रुतज्ञानी मानो, सीमंधर मिलि आये। कलि. ॥ ७ ॥

यह तो आचारज है सांचो, ये आचारज झूठे।
तिनके ग्रंथ पढ़ै नित बंदैं, सरधा ग्रंथ अपूठे ॥ कलि. ॥ ८ ॥

सांच झूठ तुम क्यों करि जान्यो, झूठ जानि क्यों पूजो।
खोट निकाल शुद्ध करि राखो, और बनावो दूजो ॥ कलि. ॥ ९ ॥

कौन सहामी बात चलावै, पूछै आनमती तौ।
ग्रंथ लिख्यो तुम क्यों नहिं मानौ, ज्वाब कहा कहि जीतौ॥ कलि.॥ १०॥

जैनी जैनग्रंथके निंदक, हुण्डासर्प्पिनि जोरा।
'द्यानत' आप जान चुप रहिये, जगमें जीवन थोरा॥ कलि.॥ ११॥

कलिकाल में अर्थात् इस पंचमकाल में ग्रंथ ही सब प्रकार से उपकार करनेवाले हैं। ये ग्रंथ देव, शास्त्र व गुरु में सम्यक् श्रद्धा धारण करानेवाले हैं।

चतुर्थ काल की समाप्ति में जब तीन वर्ष आठ माह और पंद्रह दिन शेष रहे थे तब भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था।

भगवान महावीर के बाद तीन केवली और पाँच श्रुत केवली हुए, उनके पश्चात् गुरुओं के विचार में आया कि अब भगवान के उपदेश जो बारह अंगों और चौदह पूर्वों के रूप में हैं उन अंगों–पूर्वों का ज्ञान सुरक्षित नहीं रह पायेगा, यह बात निश्चित है।

तब भव्यजनों के लाभार्थ तथा धर्म के प्रसार व रक्षा के लिए आचार्यों ने ग्रन्थों की रचना की। बहुत से ग्रंथों की टीकाएँ भी कीं जिसमें विषय का अद्भुत विश्लेषण करते हुए सार का समावेश किया गया।

अब केवली व श्रुत केवली इस क्षेत्र में नहीं हैं तथा मुनियों के ज्ञान में स्पष्ट झलकना भी समाप्त होता जा रहा है, अब तो ये शास्त्र/ग्रंथ ही केवलि व श्रुत केवलि (दोनों) हैं, मुनिजन भी इन्हीं को ज्ञान के आधार मानते हैं।

अब आप ही स्वयं अध्ययन कीजिए, पूजा व वंदना करिए। द्रव्य व्यय करके ग्रन्थों की अमृतरूप वाणी को लिखवाइए, प्रकाशित कीजिए। पण्डितजनों को अर्थात् विद्वानों को अध्ययन, मनन, विश्लेषण व वाचनार्थ दीजिए। पण्डितजनों का बहुमान कीजिए, सम्मान कीजिए।

पढ़ते समय व उस पर चर्चा करते हुए यदि कोई शंका या संदेह हो तो उसे आगम के अनुसार जिस प्रकार केवली ने अपने ज्ञान से देखा है उसी प्रकार ठीक व सही कीजिए।

अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार सम्यक् व व्यवस्थित अर्थ लगाकर मन से गूढ़ अर्थों को समझने की, उनका निराकरण करने की चेष्टा करें। श्रुत का ज्ञान शंका-समाधान के लिए औषधि का ज्ञान होने के समान है। शंका-समाधान के लिए ही आचार्य कुंदकुंद सीमंधर भगवान के समवशरण में जाकर आये थे।

कौन आचार्य सच्चे हैं और कौन मिथ्या हैं, तथा किनके ग्रन्थों को नित्य पढ़ना व आदर करना चाहिए और किनके ग्रंथ इसके सर्वथा विपरीत हैं व सम्यक्त्व का पोषण नहीं करते हैं। यह सत्य है और यह झूठ है, यदि तुम किसी प्रकार जान पाओ तो तुम झूठ का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ को किसलिए पूजोगे? उन ग्रन्थों में जिन-जिन दोषों का, त्रुटियों का समावेश है उसे हटाकर, निकालकर शुद्ध करके रखो तथा उसी के अनुसार/अनुरूप अन्य ग्रन्थों का लेखन व प्रसारण करो।

कोई अन्यमती अपने मिथ्या कथन की पुष्टि करे या उसकी संपुष्टि हेतु चर्चा या तर्क करे तो उसे कहो कि ग्रंथ में जो लिखा है उसे क्यों नहीं माना जाए? अर्थात् ग्रंथ को आगम प्रमाण मानकर उसे समझाओ, प्रत्युत्तर दो व अपना पक्ष-समर्थन करो।

इस हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से जैनों व उनके ग्रंथों के निंदक बहुत लोग होंगे। यह जानकर द्यानतराय कहते हैं कि आप मौन रहिए, निरर्थक विवादों में मत पड़िए; क्योंकि यह जीवन सीमित व थोड़ा है, उसे विवाद में समाप्त मत कीजिए।

वसु = आठ, विंग → व्यंग्य - गूढ़ अर्थ।

(२८५)

गौतम स्वामीजी मोहि वानी तनक सुनाई॥ टेक॥

जैसी वानी तुमने जानी, तैसी मोहि बताई॥ गौतम.॥ १॥

जा वानीतैं श्रेणिक समझ्यो, क्षायक समकित पाई॥ गौतम.॥ २॥

'द्यानत' भूप अनेक तरे हैं, वानी सफल सुहाई॥ गौतम.॥ ३॥

हे गौतम स्वामी! आपने हमें/मुझे प्रभु की दिव्यध्वनि का उपदेश तनिक-सा, थोड़ा-सा सुनाया।

जैसी आपने सुनी, वैसी ही मुझे बताई।

उस वाणी को सुनकर श्रेणिक को आत्मस्वरूप का बोध हुआ और उनको क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि प्राप्त हुई, जागृति हुई।

द्यानतराय कहते हैं जिनको वह वाणी समझ में आई, ऐसे अनेक नृपति राजा भवसागर से पार हो गए।

जब बानी खिरी महावीरकी तब, आनँद भयो अपार॥ टेक॥
सब प्रानी मन ऊपजी हो, धिक धिक यह संसार॥ जब.॥

बहुतनि समकित आदर्यौ हो, श्रावक भये अनेक।
घर तजकैं बहु बन गये हो, हिरदै धर्यो विवेक॥ जब.॥ १॥

केई भावैं भावना हो, केई गहैं तप घोर।
केई जपैं प्रभु नामको ज्यों, भाजैं कर्म कठोर॥ जब.॥ २॥

बहुतक तप करि शिव गये हो, बहुत गये सुरलोक।
'द्यानत' सो बानी सदा ही, जयवन्ती जग होय॥ जब.॥ ३॥

जब समवसरण में भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि खिरी (झरी) तब सर्वत्र अपार आनन्द की लहर दौड़ गई। उसे सुनकर सब के मन में यह बोध हुआ कि यह संसार धिक्कारने योग्य है।

उसे सुनकर बहुत से लोगों ने समता व सम्यक्त्व का आदर किया अर्थात् बोध को सम्यक्‌रूप में अंगीकार किया, आदर किया और बहुत से लोग चारित्र से श्रावक हो गए। बहुत से घरबार छोड़कर वन में साधना हेतु चले गए और हृदय से विवेकपूर्ण व्यवहार करने लगे।

कई (बारह भावनाएँ, सोलहकारण भावनाएँ आदि) अनेक प्रकार की भावनाएँ भाते रहे। अनेक ने घोर तपश्चरण किया। अनेक जनों ने प्रभु नाम का स्मरण-जाप किया जिससे कर्म-बंधन की कठोरता मिटे और बंध ढीले हों, शिथिल हों।

बहुत से लोग तप करके मुक्त हुए, मोक्षगामी हुए। बहुत से स्वर्ग गए। द्यानतराय कहते हैं कि भगवान की दिव्यध्वनि लोक में सदा ही जयवन्त हो।

(२८७)

जिनवानी प्रानी! जान लै रे ॥ टेक ॥

छहों दरब परजाय गुन सहित, मन नीके सरधान लै रे॥ जिनवानी. ॥ १ ॥

देव धरम गुरु निहचै धर उर, पूजा दान प्रमान लै रे॥ जिनवानी. ॥ २ ॥

'द्यानत' जान्यो जैन बखान्यो, ॐ अक्षर मन आन लै रे॥ जिनवानी. ॥ ३ ॥

हे प्राणी! तू जिनवाणी को जान ले, समझ ले।

छहों द्रव्यों को उनकी गुण-पर्याय सहित अच्छी तरह से श्रद्धान करले।

देव, शास्त्र और गुरु का निश्चय से, हृदय से श्रद्धान करके, उनकी पूजा करके, दान करने का प्रमाण निश्चित करले व उसका निर्वाह कर।

द्यानतराय कहते हैं कि जैनों द्वारा 'ॐ' अक्षर को मन में धारण करके समझने का उपदेश दिया गया है।

(२८८)

तारनकों जिनवानी॥ टेक॥

मिथ्या चूरै सम्यक पूरै, जनम-जरामृत हानी॥ तारन.॥ १॥

जड़ता नाशै ज्ञान प्रकाशै, शिव-मारग-अगवानी॥ तारन.॥ २॥

'द्यानत' तीनों-लोक व्यथाहर, परम-रसायन मानी॥ तारन.॥ ३॥

संसार-सागर से पार उतारने के लिए अर्थात् अज्ञान को दूर करने के लिए जिनवाणी ही सक्षम व समर्थ है।

यह मिथ्या पक्ष का नाश करती है, सम्यक् पक्ष को आलोकित करती है। यह जन्म, बुढ़ापा व मृत्यु की स्थिति का नाशकर अजर-अमर होने की राह बताती है।

जिनवाणी अज्ञान का नाश करती है; ज्ञान का प्रकाश फैलाती है। मोक्षमार्ग पर अग्रसर करती है।

द्यानतराय कहते हैं कि तीनों लोकों के कष्टों का हरण करनेवाली यह जिनवाणी परम रसायन है।

वे प्राणी! सुज्ञानी, जान जान जिनवानी ॥ टेक ॥

चन्द सूर हू दूर करैं नहिं, अन्तरतमकी हानी ॥ वे. ॥ १ ॥

पच्छ सकल नय भच्छ करत है, स्यादवादमें सानी ॥ वे. ॥ २ ॥

'द्यानत' तीनभवन-मन्दिरमें, दीवट एक बखानी ॥ वे. ॥ ३ ॥

वे ही प्राणी ज्ञानवान हैं, सुज्ञानी हैं जिन्होंने जिनवाणी को जाना है अर्थात् उसका स्वाध्यायकर उसके मर्म को समझा है।

चन्द्र-सूर्य का (बाहरी) प्रकाश अंत:स्थल के अंधकार को अर्थात् अज्ञान को नष्ट करने में, उसे हटाने में समर्थ नहीं है; जिनवाणी के अध्ययन, मनन, चिंतन से जो ज्ञानानुभूति होती है, जागृति व अन्त:प्रकाश होता है, उससे अज्ञान का नाश होता है। सूर्य व चन्द्र का प्रकाश उस अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं है।

प्रमाण और नय सहित स्याद्वादमय वाणी सब पक्षों का सम्पूर्ण ज्ञान कराती है।

द्यानतराय कहते हैं कि तीन लोक के इस मन्दिर में जिनवाणी ही एक सार्थक दीपक है, पथ आलोकित करनेवाली है।

साधजीने बानी तनिक सुनाई ॥ टेक ॥

गौतम आदि महा मिथ्याती, सरधा निहचै आई ॥ साधजी. ॥ १ ॥

नृप विभूति छयवान विचारी, बारह भावन भाई ॥ साधजी. ॥ २ ॥

'द्यानत' हीन शकति हू देखौ, श्रावक पदवी पाई ॥ साधजी. ॥ ३ ॥

गुरुवर ने यह वाणी थोड़ी-सी सुनाई, जिसको सुनकर महामिथ्यात्वी गौतम आदि को सद्ज्ञान होकर निजस्वरूप के प्रति श्रद्धा जागृत हो गई।

जिसे सुनकर राजा ने भी अपने वैभव को नाशवान समझकर बारह भावनाओं का चिन्तन किया।

द्यानतराय कहते हैं, मैं अल्पबुद्धि व शक्तिहीन हूँ कि जिनवाणी सुनकर भी मैं अभी केवल श्रावकपद में ही ठहरा हुआ हूँ।

(२९१)

एक समय भरतेश्वर स्वामी, तीन बात सुनी तुरत फुरत॥ टेक॥

चक्र रतन प्रभुज्ञान जनम सुत, पहलें कीजै कौन कुरत॥ एक.॥ १॥

धर्मप्रसाद सबै शुभ सम्पति, जिन पूजैं सब दुरत दुरत॥ एक.॥ २॥

चक्र उछाह कियो सुत मंगल, 'द्यानत' पायो ज्ञान तुरत॥ एक.॥ ३॥

भरतेश्वर ने एक ही समय में (एकसाथ) तीन बातें सुनीं, वे तीन बातें थीं - उन्हें (स्वयं को) चक्ररत्न की प्राप्ति हुई, प्रभु को अर्थात् ऋषभदेव को केवलज्ञान हो गया और तीसरे उनको (स्वयं को) पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। अब इन सबमें पहले किसका उत्सव किया जाए?

धर्म के प्रसाद से ही सब शुभ सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। जिनेन्द्र की पूजा से सभी पाप अविलम्ब दूर हो जाते हैं। अत: सबसे पहले जिनपूजा की, फिर चक्ररत्न की प्राप्ति का उत्सव और फिर पुत्र जन्म का मंगल उत्सव मनाया।

द्यानतराय कहते हैं कि भरत ने अपने ज्ञान से जानकर इसप्रकार उत्सव मनाया।

कुरत - कृत्य, कार्य; दुरत = पाप; दुरत = दूर भागे।

(२९२)

मैं न जान्यो री! जीव ऐसी करैगो॥ टेक॥

मोसौं विरति कुमतिसों रति कै, भवदुख भूरि भरैगो॥ मैं.॥ १॥

स्वारथ भूलि भूलि परमारथ, विषयारथमें परैगो॥ मैं.॥ २॥

'द्यानत' जब समतासों राचै, तब सब काज सरैगो॥ मैं.॥ ३॥

हे जीव! तू इस प्रकार का आचरण-व्यवहार करेगा मैं ऐसा नहीं जानता था!

मुझसे (आत्मा से, सुमति से) इतना उदासीन होकर तू कुमति के प्रति आसक्त होगा और संसार के अनन्त दुःखों को भोगेगा, सहन करेगा!

अपना हित, अपना भला, अपना परमार्थस्वरूप भूलकर, तू इन इन्द्रिय-विषयों में रमने के लिए इतना उत्सुक होता रहेगा!

द्यानतराय कहते हैं कि जब तू समता को धारण करेगा तब ही तेरा मनोरथ पूरा होगा, कार्य सम्पन्न होगा।

(२९३)

कीजे हो भाईयनिसों प्यार ॥ टेक ॥
नारी सुत बहुतेरे मिल हैं, मिलैं नहीं मा जाये यार ॥ कीजे. ॥

प्रथम लराई कीजे नाहीं, जो लड़िये तो नीति विचार।
आप सलाह किधौं पंचनिमें, दुई चढ़िये ना हाकिम द्वार ॥ कीजे. ॥ १ ॥

सोना रूपा बासन कपड़ा, घर हाटनकी कौन शुमार।
भाई नाम वरन दो ऊपर, तन मन धन सब दीजे वार ॥ कीजे. ॥ २ ॥

भाई बड़ा पिता परमेश्वर, सेवा कीजे तजि हंकार।
छोटा पुत्र ताहि सब दीजे, वंश बेल विरधै अधिकार ॥ कीजे. ॥ ३ ॥

घर दुख बाहिरसों नहिं टूटै, बाहिर दुख घरसों निरवार।
गोत घाव नहिं चक्र करत है, अरि सब जीतनको भयकार ॥ कीजे. ॥ ४ ॥

कोई कहै हनैं भाईको, राज काज नहिं दोष लगार।
यह कलिकाल नरकको मारग, तुरकनिमें हममें न निहार ॥ कीजे. ॥ ५ ॥

होहि हिसाबी तो गम खइये, नाहक झगड़ै कौन गँवार।
हाकिम लूटैं पंच विगूचैं, मिलैं नहीं वे आंखैं चार ॥ कीजे. ॥ ६ ॥

पैसे कारन लड़ैं निखट्टू, जामैं नाहिं कमाई सार।
उद्यममें लछमीका वासा, ज्यों पंखेमें पवन चितार ॥ कीजे. ॥ ७ ॥

भला न भाई भाव न जामें, भला पड़ौसी जो हितकार।
चतुर होय परन्याव चुकावै, शठ निज न्याव पराये द्वार ॥ कीजे. ॥ ८ ॥

जस जीवन अपजस मरना है, धन जोवन बिजली उनहार।
'द्यानत' चतुर छमी सन्तोषी, धरमी ते बिरले संसार ॥ कीजे. ॥ ९ ॥

हे भाई! अपने भाइयों से प्यार करो। स्त्री, पुत्र आदि तो फिर मिल जाते हैं, पर माँ का जाया भाई/सहोदर (सहजतया, बार-बार) नहीं मिलता है।

सर्वप्रथम तो भाई से आपस में लड़ाई मत करना। अगर लड़ो भी तो नीति का विचार अवश्य करना। आप परस्पर में सलाह करलें। फिर भी न हो तो पंचों की मध्यस्थता में विचार कर लेना। पर अदालत के दरवाजे मत जाना। सोना हो, रुपया हो, बर्तन हो या कपड़ा हो, घर हो या दुकान हो, इनकी कोई गिनती नहीं हैं। इन सबके ऊपर 'भाई' नाम के दो अक्षर हैं। उन पर तन, मन, धन, सब वार दीजिए, निछावर कर दीजिये।

बड़ा भाई पिता के समान परमेश्वर होता है। सारा अहंकार छोड़कर उसकी सेवा कीजिए। छोटा भाई पुत्र के समान है; आवश्यकता होने पर अपना भी उसे दे दीजिये। वंश की वृद्धि का अधिकार भी दे दीजिए।

घर का दु:ख-दर्द बाहर से नहीं मिटाया जाता। इसके विपरीत बाहर का दु:ख घर में विचार कर निपटाया जा सकता है, टाला जा सकता है, उसका समाधान किया जा सकता है, सामना किया जा सकता है। अरे, वह चक्र जो शत्रुओं को भयभीत कर देता है, उन्हें जीत लेता है, वह भी स्वगोत्री पर, अपने भाई पर नहीं चलता, वह भी स्वगोत्री का घात नहीं करता!

कोई यदि वह कहे कि राजकार्य के लिए भाई का वध करने में कोई हानि नहीं है, तो यह कलियुग की देन है, नरक का मार्ग है। यह विदेशों में, अन्य संस्कृतियों में होता है। यह हमारे देश की, हमारे धर्म की परम्परा नहीं है।

अगर भाई हिसाब रखनेवाले हों, तो गंभीरता रखो, गम खाओ, संतोष रखो। फिजूल में गँवारों की तरह मत लड़ो। लड़ाई में हाकिम लूटता है और पंचों के सामने सब बातें होती है। घर के भेद खुल जाते हैं। इससे समाज में आपस में एक-दूसरे से आँख मिलाकर बात करने की स्थिति भी नष्ट हो जाती है।

पैसे के कारण तो निखट्टू (खोटे व्यक्ति ही) लड़ते हैं। वे कमाने का महत्त्व नहीं समझते। वे कमाई का सार/मूल नहीं समझते कि परिश्रम से, उद्यम से ही लक्ष्मी/धन-सम्पदा आती है इसलिए परिश्रम करो, उद्यम करो तो उसमें लक्ष्मी का निवास होता है। जैसे पंखे के हिलाने (के परिश्रम) से पवन आती है। उस पंखे के झलने से अग्नि भी चेत जाती है।

जिस भाई में भाईपने का भाव भी न हो वह भला नहीं है, उससे तो वह पड़ौसी भला है जो हितकारी है। यदि भाई चतुर है तो वह पर का न्याय करता है और दुष्ट हो तो घर के न्याय के लिए दूसरों का दरवाजा खटखटाता है।

यश ही जीवन है, अपयश मृत्यु है। धन-यौवन तो बिजली की चमक की भाँति है। द्यानतराय कहते हैं कि संसार क्षमाशील, सन्तोषी व धर्माचरण में संलग्न कोई-कोई ही होता है/बिरला ही होता है।

(२९४)

क्रोध कषाय न मैं करौं, इह परभव दुखदाय हो॥ टेक॥
गरमी व्यापै देहमें, गुनसमूह जलि जाय हो॥ क्रोध.॥

गारी दै मार्‌यो नहीं, मारि कियो नहिं दोय हो।
दो करि समता ना हरी, या सम मीत न कोय हो॥ क्रोध.॥ १॥

नासै अपने पुन्यको, काटै बैरी पाप हो।
ता प्रीतमसों रूसिकै, कौन सहै सन्ताप हो॥ क्रोध.॥ २॥

हम खोटे खोटे कहैं, सांचेसों न बिगार हो।
गुन लखि निन्दा जो करै, क्या लाबरसों रार हो॥ क्रोध.॥ ३॥

जो दुरजन दुख दै नहीं, छिमा न ह्वै परकास हो।
गुन परगट करि सुख करै, क्रोध न कीजे तास हो॥ क्रोध.॥ ४॥

क्रोध कियेसों कोपिये, हमें उसे क्या फेर हो।
सज्जन दुरजन एकसे, मन थिर कीजे मेर हो॥ क्रोध.॥ ५॥

बहुत कालसों साधिया, जप तप संजम ध्यान हो।
तासु परीक्षा लैनको, आयो समझो ज्ञान हो॥ क्रोध.॥ ६॥

आप कमायो भोगिये, पर दुख दीनों झूठ हो।
'द्यानत' परमानन्द मय, तू जगसों क्यों रूठ हो॥ क्रोध.॥ ७॥

हे प्रभु! मैं क्रोध कषाय कभी न करूँ, क्योंकि यह इस भव में व परभव में दोनों में दु:ख देनेवाली है। क्रोध कषाय से सारे शरीर में (रक्तचाप बढ़ कर) गरमी - उष्णता बढ़ जाती है। आवेश के कारण सारे गुणों के समूह का नाश हो जाता है।

गाली देकर किसी को मारा नहीं क्योंकि गाली देने से कोई मरता नहीं। मारकर उसके दो टुकड़े भी नहीं किए। ये दोनों ही कार्य न करके समता भाव रखा तो इसके समान कोई प्रिय कार्य नहीं, मित्र नहीं।

क्रोध के कारण अपने पुण्य का नाश होता है। दूसरों के पापों का नाश होता है। क्रोध के कारण अपने प्रीतम से रुष्ठ होने पर जो संताप होता है, उसको कौन सहे?

हम क्रोध के कारण किसी को खोटा-खोटा कहते रहें, पर जो सच्चा है, उसका इससे कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। गुणों को देखकर भी जो निन्दा करे, उस झूठ से क्या लड़ाई करना!

यदि दुर्जन/दुष्ट हमें दुःख नहीं दे तो हममें क्षमा प्रकट नहीं हो सकती क्योंकि कोई गुस्सा करे और हम उसे क्षमा करे तभी तो हमारी क्षमा प्रकट होगी। वह हम पर क्रोध कर हमारे क्षमा-समता आदि गुणों को प्रकट कर सुख का अनुभव कराता है। अतः उस क्रोध करनेवाले पर क्रोध मत कीजिए।

जो क्रोध करनेवाले पर क्रोधित हो तब उसमें और हममें क्या भेद रह गया? तब सज्जन व दुर्जन दोनों एकसमान हो जाते हैं। इसलिए मन को सुमेरु के समान दृढ़ रखो/स्थिर रखो।

बहुत काल से/समय से जो जप, तप, संयम, ध्यान की साधना की है उसकी परीक्षा लेने के लिए यह अवसर आया है ऐसा समझो।

अपना कमाया हुआ ही भोगा जाता है। दूसरा कुछ दुःख देता है, दुःख करता है यह मिथ्या है। द्यानतराय कहते हैं कि तू तो स्वयं परम आनन्दमय है। तू जगत से क्यों नाराज होता है?

लाबर = झूठा।

(२९५)

राग कदारो

रे जिय! क्रोध काहे करै॥ टेक॥
देखकै अविवेकि प्रानी, क्यों विवेक न धरै॥ रे जिय.॥

जिसे जैसी उदय आवै, सो क्रिया आचरै।
सहज तू अपनो बिगारै, जाय दुर्गति परै॥ रे जिय.॥ १॥

होय संगति-गुन सबनिकों, सरव जग उच्चरै।
तुम भले कर भले सबको, बुरे लखि मति जरै॥ रे जिय.॥ २॥

वैद्य परविष हर सकत नहिं, आप भखि को मरै।
बहु कषाय निगोद-वासा, छिमा 'द्यानत' तरै॥ रे जिय.॥ ३॥

अरे जिया, तू क्रोध क्यों करता है? कोई यदि क्रोध करता है तो तू उस अविवेकी को देखकर भी स्वयं विवेक क्यों धारण नहीं करता अर्थात् स्वयं विवेकपूर्वक आचरण क्यों नहीं करता?

अरे भाई! जिस कर्म का उदय आता है, उसी के अनुरूप उसकी क्रिया हो जाती है। कर्म-प्रवाह में बहता हुआ सहजता से अपनी भी हानि कर लेता है और दुर्गति में जाकर पड़ता है।

गुणों की संगति सबको सुलभ हो, प्राप्त हो, सारा जगत यह ही चाहता है और कहता भी है। इसलिए तू स्वयं भला बन और सबका भला कर। दूसरे के बुरे कार्यों को देखकर जलन मत कर।

यदि कोई वैद्य दूसरे के जहर का हरण नहीं कर सकता तो वह स्वयं उसका सेवन करके अपना प्राणान्त क्यों करेगा? अरे कषाय-बहुलता के कारण यह जीव निगोद में, जहाँ जीव एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करता है, उस गति में जाकर जन्म लेता है। द्यानतरायजी कहते हैं कि और जब यह कषायों को छोड़कर, शान्त चित्त में क्षमा आदि गुणों को अपनाता है, उनको आचरण में ग्रहण करता है तो दिशा मुड़ जाती है और इस संसार-समुद्र से पार हो जाता है।

(२९६)

राग गौरी

सबसों छिमा छिमा कर जीव! ॥ टेक ॥
मन वच तनसों वैर भाव तज, भज समता जु सदीव॥ सबसों. ॥

तपतरु उपशम जल चिर सींच्यो, तापस शिवफल हेत।
क्रोध अगनि छनमाहिं, जरावै, पावै नरक-निकेत॥ सबसौं. ॥ १ ॥

सब गुनसहित गहत रिस मनमें, गुन औगुन है जात।
जैसैं प्रानदान भोजन है, सविष भये तन घात॥ सबसौं. ॥ २ ॥

आप समान जान घट घटमें, धर्ममूल यह वीर।
'द्यानत' भवदुखदाह बुझावै, ज्ञानसरोवरनीर॥ सबसौं. ॥ ३ ॥

हे जीव! तू सब प्राणियों के प्रति क्षमा-भाव रख। सबके प्रति मन, वचन और काय से बैरभाव छोड़कर सदा समताभाव में ही लीन रह।

वह तपस्वी जो तपरूपी वृक्ष को, उपशमरूपी जल से सदा सींचता है वह मोक्षरूपी फल पाता है और जो क्रोध करता है उसे क्रोध की अग्नि में एक क्षण में ही नष्ट कर देती है, जला देती है और वह नरक का निवास पाता है।

सारे गुणों के होते हुए भी मन में केवल क्रोध के उत्पन्न होने पर सब गुण अवगुण हो जाते हैं। जैसे भोजन से प्राणदान मिलता है, परन्तु उसमें विषाणुओं के मिल जाने से वह ही प्राणलेवा बन जाता है।

सब जीवों को आप अपने समान जानो। अरे भाई! यही धर्म का मूल है, सार है। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे ज्ञानरूपी सरोवर का जल भव-दु:खरूपी दाह को बुझाता है, शमन करता है, नष्ट करता है।

जियको लोभ महा दुखदाई, जाकी शोभा (?) बरनी न जाई॥ टेक॥
लोभ करै मूरख संसारी, छांडै पण्डित शिव अधिकारी॥ जियको.॥

तजि घरवास फिरै बनमाहीं, कनक कामिनी छांडै नाहीं।
लोक रिझावनको व्रत लीना, व्रत न होय ठगई सा कीना॥ १॥

लोभवशात जीव हत डारै, झूठ बोल चोरी चित धारै।
नारि गहै परिगृह विसतारै, पांच पाप कर नरक सिधारै॥ २॥

जोगी जती गृही वनवासी, बैरागी दरवेश सन्यासी।
अजस खान जसकी नहिं रेखा, 'द्यानत' जिनकै लोभ विशेखा॥ ३॥

अरे यह लोभ इस जीव को बहुत दुःख का दाता है, बहुत दुःखदायी है। इसके कारण उत्पन्न दुःख-स्थिति का कथन नहीं किया जा सकता। इस जगत में जो लोभ करते हैं वे सभी अज्ञानी हैं। जो लोभ को छोड़ देते हैं वे ही पण्डित व ज्ञानी हैं। वे ही मोक्ष पाने के अधिकारी होते हैं।

जो घरबार छोड़कर वन में जाकर तो रहते हैं पर स्त्री व धन को नहीं छोड़ते अर्थात् स्त्री व धन साथ रखते हैं, तो उनके द्वारा ग्रहण किए गए व्रत मात्र दिखावा हैं। वे व्रत नहीं हैं, परन्तु ठगने के लिए ठग के समान लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए की जा रही क्रियाएँ हैं।

प्राणी लोभ के कारण जीवों का घात करता है, उन्हें कष्ट पहुँचाता है, झूठ बोलता है, पर-धन को हरने के लिए चोरी करता है, चोरी का विचार करता है, स्त्री को साथ लेकर परिग्रह जुटाता है और इन सबके कारण उसे नरक जाना पड़ता है।

द्यानतराय कहते हैं कि चाहे कोई योगी हो, जती (यति) हो, घर में रहनेवाला हो या वन में रहनेवाला हो, वैरागी हो या दरवेश हो अथवा संन्यासी हो, जिनके विशेष लोभ होता है उनको सबको अयश की खान (बहुत मात्रा में अपयश) की ही प्राप्ति होती है अर्थात् उन्हें यश की रेखा (तनिक भी सुयश) की प्राप्ति नहीं होती।

दरवेश = संन्यासी।

(२९८)

राग आसावरी

गहु सन्तोष सदा मन रे! जा सम और नहीं धन रे॥ टेक॥

आसा कांसा भरा न कबहूं, भर देखा बहुजन रे।
धन संख्यात अनन्ती तिसना, यह बानक किमि बन रे॥ गहु.॥ १॥

जे धन ध्यावैं ते नहिं पावैं, छांडै लगत चरन रे॥
यह ठगहारी साधुनि डारी, छरद अहारी निधन रे॥ गहु.॥ २॥

तरुकी छाया नरकी माया, घटै बढ़ै छन छन रे।
'द्यानत' अविनाशी धन लागैं, जागैं त्यागैं ते धन रे॥ गहु.॥ ३॥

अरे जिया! अपने मन में सदा सन्तोष ग्रहण करो। (इस) सन्तोष के समान और कोई धन नहीं है। बहुत लोगों ने तृष्णा – आशारूपी थाल को भरने का प्रयास कर देख लिया है पर यह थाल कभी भी नहीं भरा।

धन-सम्पदा सीमित होती है, गिनती को होती है, तृष्णा अनन्त होती है, यह व्यापार किस प्रकार सफल होगा?

जो व्यक्ति धन की ही कामना/आराधना करते हैं, वे धन पाने के लिए अपने सहज आचरण को भी छोड़ देते हैं, फिर भी धन प्राप्त नहीं कर पाते! यह ठगपने की क्रिया है, यह क्रिया साधु/सज्जन पुरुष को भी (अपनी गरिमा से) गिरा देती है जैसे कोई अस्वस्थ अवस्था में आहार करनेवाला व्यक्ति मरण को प्राप्त होता है।

पेड़ की छाया और मनुष्य की मायाचारी प्रतिक्षण घटती-बढ़ती रहती है। द्यानतराय कहते हैं कि जागते हुए ऐसे धन को त्याग दो और उस अविनाशी धन की प्राप्ति के लिए, जिसका कभी नाश न हो, चेष्टा में लग जाओ।

छरद (छर्दि) = अस्वस्थता; छरद अहारी – अस्वस्थता में आहार करनेवाला।

(२९९)

राग धमाल

साधो! छांडो विषय विकारी। जातैं तोहि महा दुखकारी॥ टेक॥
जो जैनधर्म को ध्यावै, सो आतमीक सुख पावै॥ साधो.॥

गज फरसविषैं दुख पाया, रस मीन गंध अलि गाया।
लखि दीप शलभ हित कीना, मृग नाद सुनत जिय दीना॥ साधो.॥ १॥

ये एक एक दुखदाई, तू पंच रमत है भाई।
यह कौनें, सीख बताई, तुमरे मन कैसैं आई॥ साधो.॥ २॥

इनमाहिं लोभ अधिकाई, यह लोभ कुगतिको भाई।
सो कुगतिमाहिं दुख भारी, तू त्याग विषय मतिधारी॥ साधो.॥ ३॥

ये सेवत सुखसे लागैं, फिर अन्त प्राणको त्यागैं।
तातैं ये विषफल कहिये, तिनको कैसे कर गहिये॥ साधो.॥ ४॥

तबलौं विषया रस भावै, जबलौं अनुभव नहिं आवै।
जिन अमृत पान ना कीना, तिन और रसन चित दीना॥ साधो.॥ ५॥

अब बहुत कहां लौं कहिए, कारज कहि चुप है रहिये।
ये लाख बातकी एक, मत गहो विषयकी टेक॥ साधो.॥ ६॥

जो तजै विषयकी आसा, 'द्यानत' पावै शिववासा।
यह सतगुरु सीख बताई, काहू बिरले जिय आई॥ साधो.॥ ७॥

हे साधो! तुम विकारी इन्द्रिय-विषयों को छोड़ो। क्योंकि ये बहुत दु:ख उपजानेवाले हैं, बहुत दु:ख उत्पन्न करनेवाले हैं। जो भी जैन धर्म को ध्याता है, समझता है उसे आत्मसुख की प्राप्ति होती है।

हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के कारण दु:खी होता है। मछली रसना इन्द्रिय के कारण और भँवरा सुगंध (घ्राण इन्द्रिय) के कारण दु:ख पाता है। दीपक को देखकर

(चक्षु इन्द्रिय) पतंगा लुब्ध होता है और संगीत के नाद को सुनकर (श्रवण इन्द्रिय) मृग अपनी जान दे देता है, वह अपनी प्राणरक्षा को भी भूल जाता है और शिकारी का भाजन हो जाता है।

इन एक-एक इन्द्रिय के ये अलग-अलग दुःख हैं। इन एक-एक इन्द्रिय के विषयों के लोभ के कारण इन प्राणियों के प्राण चले जाते हैं और तू तो पाँचों इन्द्रियों में रमण कर रहा है! अरे भाई! ये तो बता कि इन इन्द्रियों का ज्ञान तुझे किसने सिखाया? तेरे मन ने यह सब कुछ कैसे जान लिया?

इन इन्द्रिय विषयों में जो लोभ बढ़ा, वह लोभ कुगति का भाई है। ये सब तुझे कुगति में ले जानेवाले व बहुत दुःख के देनेवाले हैं। हे बुद्धिमान! तू इन विषयों का त्याग कर दे। ये भोगते समय सुख-से लगते हैं, लेकिन अन्त में प्राण हरनेवाले होते हैं। इसलिए इन्हें विषफल कहते हैं, तू इन्हें क्यों व कैसे ग्रहण करता है?

जब तक इन्द्रिय-विषयों में रस व आनन्द आता है तब तक आत्मानुभव नहीं हो सकता, ज्ञान नहीं हो सकता। जिसने अमृत का पान नहीं किया वह तो अन्य रसों का स्वाद लेता रहता है, उन्हीं में चित्त लगाता रहता है, उसे अमृत के महत्त्व का, आनन्द का पता ही नहीं होता।

अब कहाँ तक कहें! अब यह ही कार्य (करणीय) है कि चुप होकर रहो, लाख बातों की बात एक यह ही है कि विषयों में रत होने की आदत को ग्रहण मत करो।

द्यानतराय कहते हैं कि जो विषयों की आशा छोड़ते हैं वे मुक्ति पाते हैं। सत्गुरु ने यह ही सीख दी है, जिसे बिरले ही समझ पाए हैं।

(३००)

राग रामकली

रे जिया! सील सदा दिढ़ राखि हिये ॥ टेक ॥
जाप जपत तप तपत विविध विधि, सील बिना धिक्कार जिये ॥

सील सहित दिन एक जीवनो, सेव करैं सुर अरघ दिये।
कोटि पूर्व थिति सील विहीना, नारकी दैं दुख वज्र लिये ॥ १ ॥

ले व्रत भंग करत जे प्रानी, अभिमानी मदपान पिये।
आपद पावैं बिघन बढ़ावैं, उर नहिं कछु लेखान किये ॥ २ ॥

सील समान न को हित जगमें, अहित न मैथुन सम गिनिये।
'द्यानत' रतन जतनसों गहिये, भवदुख दारिद-गन दहिये ॥ ३ ॥

हे जीव! तू हमेशा अपने हृदय में दृढ़ता से शील को धारण कर। भाँति-भाँति के जप और तप भी शील के बिना धिक्कारने योग्य है। जो जीव शीलसहित अल्प समय भी जीता है उस जीव की सब सेवा करते हैं, देवता भी उसको पूजा करते हैं, अर्घ चढ़ाते हैं। इसके विपरीत करोड़ों पूर्वों की स्थितिवाली आयु हो और वह शील रहित हो तो वह नरक पर्याय में वज्र धारण किए हुए नारकी की भाँति दारुण दुखदायी है।

जो अभिमानी मान के मद में चूर होकर व्रत भंग करता है वह आपदा पाता है, कष्ट बढ़ाता है। अपने मन में वह उसका तनिक भी लेखा-जोखा अर्थात् विचार नहीं करता।

जगत में शील के समान कोई हितकारी नहीं है। मैथुन के समान दूसरा नाश करनेवाला नहीं है। द्यानतराय कहते हैं कि यह शील एक रत्न है। इसे बहुत सावधानीपूर्वक सँभालकर ग्रहण करो, जिससे भव-भव के दुख-दारिद्र का नाश हो जाए - दहन हो जाए।

(३०१)

तैं चेतन करुणा न करी रे॥ टेक॥

यातैं पूरी आव न पावै, आरँभ रीति हिये पकरी रे॥ तैं.॥ १॥

आपन तिन सम दुःख न सहिकै, औरन मारत लै लकरी रे॥ तैं.॥ २॥

'द्यानत' आप समान सबै हैं, कुंथू आदिक अन्त करी रे॥ तैं.॥ ३॥

अरे चेतन! तुमने करुणा धारण नहीं की।

इसी कारण तू स्वयं पूरी आयु नहीं पाता, तू अपनी ही आयु का घात करता है। तू संक्लेश के कारण अपनी आयु पूरी नहीं भोग पाता तथा भाँति-भाँति के आरंभ करने के विचार हृदय में करता रहता है।

तू स्वयं तो तिनके के समान दुःख अर्थात् थोड़ा-सा भी दुःख सहन नहीं कर सकता और दूसरों को लकड़ी लेकर मारने को उद्यत होता है अर्थात् उन्हें दुःख पहुँचाने को तैयार होता है!

द्यानतराय कहते हैं कि सब जीव तेरे अपने समान ही हैं, चाहे वह छोटे-से-छोटा कुंथु हों अथवा हाथी जैसा बड़ा जीव ही क्यों न हो?

(३०२)

राग धमाल

रे भाई! करुना जान रे॥ टेक॥

सब जिय आप समान हैं रे, घाट बाध नहिं कोय।
जाकी हिंसा तू करै रे, तेरी हिंसा होय॥ रे भाई.॥ १॥

छह दरसनवाले कहैं रे, जीवदया सरदार।
पालै कोई एक है रे, कथनी कथै हजार॥ रे भाई.॥ २॥

आधे दोहेमें कह्या रे, कोटि ग्रंथको सार।
परपीड़ा सो पाप है रे, पुन्य सु परउपगार॥ रे भाई.॥ ३॥

सो तू परको मति कहै रे, बुरी जु लागै तोय।
लाख बातकी बात है रे, 'द्यानत' ज्यों सुख होय॥ रे भाई.॥ ४॥

अरे भाई! तू करुणाभाव, दयाभाव को जान रे। सारे जीव तेरे ही समान हैं, ऐसा समझ, ऐसा मान। उन जीवों में तुझसे कोई कमी अथवा बढ़ती नहीं है। जिनकी तू हिंसा करता है, उससे तेरे ही अपने सद्भावों की हिंसा होती है।

छहों दर्शन कहते हैं कि जीवदया ही सर्वोपरि है। हजारों लोग यही कहते हैं पर इसका पालन कोई बिरला ही/एक ही करता है।

इस आधे दोहे में ही कि 'दूसरों को पीड़ा पहुँचाना पाप है'- करोड़ों ग्रंथों का सार कहा गया है। दूसरे के उपकार की भावना करना ही पुण्य है।

जो बात तुझे स्वयं को बुरी लगती है, वह तू दूसरे को मत कह। द्यानतराय कहते हैं कि लाख बातों में मुख्य बात एक यह ही है जिससे सुख होता है।

(३०३)

वे साधौं जन गाई, कर करुना सुखदाई॥ टेक॥

निरधन रोगी प्रान देत नहिं, लहि तिहुँ जगठकुराई॥ वे.॥ १॥

क्रोड़ रास कन मेरु हेम दे, इक जीवध अधिकाई॥ वे.॥ २॥

'द्यानत' तीन लोक दुख पावक, मेघझरी बतलाई॥ वे.॥ ३॥

सब साधुगण कहते हैं कि करुणा करने से सुख की प्राप्ति होती है अर्थात् करुणा करो, यह ही सुख देनेवाली है।

जो जन रोगी हों, गरीब हों, उनको प्राण नहीं दिये जा सकते, किन्तु उन पर करुणा तो की जा सकती है। जब उन पर करुणा की जाती है तो करुणा पाकर वे मानो जगत के स्वामीपद को प्राप्त कर लेते हैं।

किसी एक के जीवन की वृद्धि अर्थात् कष्ट का निवारण कर साता पहुँचाना, करोड़ों की राशि के समान, मेरु के समान सुवर्ण की राशि के दान से भी बढ़कर है अर्थात् करुणा का एक कण भी इनसे बढ़कर है।

द्यानतराय कहते हैं कि तीन लोक में दुखरूपी अग्नि के शमन के लिए इसे ही मेघझरी के समान शीतलतादायक बताया गया है।

(३०४)

राग गौरी

सैली जयवन्ती यह हूजो॥ टेक॥

शिवमारगको राह बतावै, और न कोई दूजो॥ सैली.॥

देव धरम गुरु सांचे जानै, झूठो मारग त्याग्यो।
सैलीके परसाद हमारो, जिनचरनन चित लाग्यो॥ सैली.॥ १॥

दुख चिरकाल सह्यो अति भारी, सो अब सहज बिलायो।
दुरितहरन सुखकरन मनोहर, धरम पदारथ पायो॥ सैली.॥ २॥

'द्यानत' कहै सकल सन्तनको, नित प्रति प्रभुगुन गावो।
जैनधरम परधान ध्यानसौं, सब ही शिवसुख पावो॥ सैली.॥ ३॥

साधर्मीजनों का यह संगम, यह साथ, सदा जयवन्त हो, जो एकमात्र मोक्ष की राह बताता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं बताता।

सच्चे देव, गुरु व शास्त्र की मान्यता कराता है तथा अन्य मिथ्यामतियों के मार्ग को त्याग कराता है। यह ही इस साधर्मी समूह का प्रसाद है कि इसके कारण जिनेन्द्र के चरणों में मन लगन लगा है, भक्ति जागृत होने लगती है।

दीर्घकाल से भारी दुख सहे जाते रहे हैं, अब उनसे सहज ही छुटकारा मिला है। पाप हरनेवाला, सुखदेनेवाला, धर्मरूपी पदार्थ अब प्राप्त हुआ है।

द्यानतराय सब सन्तजनों को, सज्जनों को कहते हैं कि नित्यप्रति प्रभु के गुण गावो, जैन धर्म में ध्यान प्रधान है, ध्यान करके सब मोक्ष-सुख की प्राप्ति करो।

साधर्मी बन्धुत्व पर आधारित है यह भजन।
सैली = साधर्मीजनों की मण्डली जो मिलकर निश्चित कार्यक्रमानुसार पूजन-भजन आदि करते हैं।

(३०५)

आयो सहज बसन्त खेलैं सब होरी होरा॥ टेक॥
उत बुधि दया छिमा बहु ठाढ़ीं, इत जिय रतन सजै गुन जोरा॥

ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं, अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुराग गुलाल उड़त है, समता रंग दुहूंने घोरा॥ १॥

परसन उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनों करि करि जोरा।
इततैं कहैं नारि तुम काकी, उततैं कहैं कौनको छोरा॥ २॥

आठ काठ अनुभव पावकमें, जल बुझ शांत भई सब ओरा।
'द्यानत' शिव आनन्दचन्द छबि, देखैं सज्जन नैन चकोरा॥ ३॥

इस परिणमनशील संसार में, बंसत के सहज आगमन पर सब (ज्ञानीजन) होली खेलते हैं, प्रफुल्लित होते हैं। एक (उस) तरफ बुद्धि, दया, क्षमा आदि खड़ी है और दूसरी तरफ (इस तरफ) जीव/आत्मा अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रतन-गुणों से सुसज्जित होकर खड़े हैं। बुद्धिपूर्वक दया व क्षमा को धारणकर, सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नों से सजकर अपने गुणों को जोड़ते हैं अर्थात् गुणों में एकाग्र होते हैं।

ज्ञान और ध्यानरूपी डफ एक ताल व एक लय में बजते हैं। उससे फैल रही अनहद ध्वनि की गूँज की लहरें व्याप्त हो रही हैं, फैल रही हैं। धर्मरूपी शुभराग की गुलाल उड़ रही है और सब तरफ, चारों ओर समता रंग घुल रहा है, फैल रहा है। प्रश्न और उनके उत्तर के रूप में दोनों ओर से पिचकारियाँ भर-भरकर बड़े वेग से छोड़ी जा रही हैं। एक ओर तो दया, क्षमा आदि से पूछा जा रहा है कि तुम किसकी स्त्री हो? तो दूसरी ओर वे पूछती हैं कि तू किसका छोरा है?

अनुभूति की आग में अष्टकर्म जल-बुझकर सब ओर से शांत हो गए हैं। द्यानतराय कहते हैं कि मुक्तिरूपी चन्द्रमा की उज्ज्वल छवि को सज्जन पुरुषों के नयन चकोर की भाँति अति हर्षित होकर देखते हैं।

काकी = किसकी; छोरा = लड़का।

(३०६)

कर्मनिको पेलै, ज्ञान दशामें खेलै ॥ टेक ॥

सुख दुख आवै खेद न पावै, समता रससों ठेलै ॥ कर्म. ॥ १ ॥

सुदरब गुन परजाय समझके, पर-परिनाम धकेलै ॥ कर्म. ॥ २ ॥

आनँदकंद चिदानँद साहब, 'द्यानत' अंतर झेलै ॥ कर्म. ॥ ३ ॥

हे जिय! कर्मों को नष्ट करने पर ज्ञान दशा प्रगट होती है, जैसे ईख को पेलने पर मिष्ठ रस की प्राप्ति होती है। इसलिए ज्ञानी ज्ञान में ही रमता है, उसी में क्रीड़ा करता है।

सुख व दुःख दोनों पर हैं। इसलिए उनके आने पर ज्ञानी चित्त में कोई किसी प्रकार का खेद नहीं करता। समता से, ज्ञाता-दृष्टा होकर उस समय को व्यतीत करता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को समझकर, परद्रव्य की पर्याय को अपने से दूर भगाता, उसे दूर धकेलता है।

द्यानतराय कहते हैं कि उस स्थिति में आत्मा आत्मा में मगन होकर अंतर में आनन्द की अनुभूति करता है।

(३०७)

खेलौंगी होरी, आये चेतनराय॥ टेक॥

दरसन वसन ज्ञान रँग भीने, चरन गुलाल लगाय॥ खेलौं॥ १॥

आनँद अतर सुनय पिचकारी, अनहद बीन बजाय॥ खेलौं.॥ २॥

रीझौं आप रिझावौं पियको, प्रीतम लौं गुन गाय॥ खेलौं.॥ ३॥

'द्यानत' सुमति सुखी लखि सुखिया, सखी भई बहु भाय॥ खेलौं.॥ ४॥

सुमति कहती है कि चेतन राजा अपने घर में आए हैं अर्थात् आत्मा की स्व-भाव की ओर रुचि हुई है। अब आत्मा आत्मा में ही, अपने चिंतन-मनन में मग्न है। अब मैं उससे होली खेलूँगी अर्थात् आत्मा आत्मा में मग्न होकर अपने चिदानन्द का अनुभव करेगी।

दर्शनरूपी वस्त्र को ज्ञानरूपी सुगन्धित रंग से रँगूँगी और उसे चारित्ररूपी गुलाल लगाऊँगी।

आनन्दरूपी इत्र व विविध सम्यक दृष्टिकोणों सहित ज्ञानरूपी पिचकारी से अब मैं अपनी ही चितस्वरूपी बीन की अनहद की गूँज में, भावों में निमग्न होऊँगी।

स्वयं उसकी ओर आकर्षित होकर प्रियतम अर्थात् चेतन को अपनी ओर आकर्षित करूँगी। उस ही की भक्ति के गीत गाऊँगी।

द्यानतराय कहते हैं कि सुमति को सुखी देखकर उसकी सखियों को अत्यन्त मनभावन लग रहा है अर्थात् मन को भा रहा है, रुचिकर लग रहा है।

चरन = चारित्र।

चेतन खेलै होरी॥ टेक॥

सत्ता भूमि छिमा वसन्तमें, समता प्रानप्रिया सँग गोरी॥ चेतन.॥

मनको माट प्रेमको पानी, तामें करुना केसर घोरी।
ज्ञान ध्यान पिचकारी भरिभरि, आपमें छोरै होरा होरी॥ १॥

गुरुके वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनों डफ ताल टकोरी।
संजम अतर विमल व्रत चोवा, भाव गुलाल भरै भर झोरी॥ २॥

धरम मिठाई तप बहु मेवा, समरस आनँद अमल कटोरी।
'द्यानत' सुमति कहै सखियनसों, चिरजीवो यह जुगजुग जोरी॥ ३॥

अरे देखो! चेतन किस प्रकार होली खेलता है!

सर्व चेतन प्रदेश के अस्तित्व/सत्तारूपी भूमि में व्याप्त क्षमा गुणरूपी बसन्त ऋतु के सुहाने मौसम में प्राणों से प्यारी समतारूपी नारी साथ है। अर्थात् जैसे बसन्त ऋतु आने पर वातावरण बहुत आनन्ददायक हो जाता है उसी प्रकार क्षमा गुण प्रकट होने पर वातावरण आनन्ददायक हो गया है, तब चेतन अपनी प्रिया समता के साथ होली खेलता है।

मन पात्र (बर्तन) है, जिसमें प्रेमरूपी पानी भरा है। उसमें करुणारूपी केसर घोली हुई है। उस पात्र में से (करुणारूपी केसरयुक्त प्रेमरूपी पानी) ज्ञान और ध्यानरूपी पिचकारी (में) भर-भर कर चेतन और समता आपस में एक-दूसरे पर डालकर परस्पर होड़ लगाते हुए होली खेलते हैं।

गुरु के वचन, मृदंग (बजने से होनेवाली) -ध्वनि के समान हैं। गुरु के वचनों में निहित दोनों नय (निश्चय व व्यवहार) डफ पर पड़नेवाली थाप से उत्पन्न नाद व ताल के द्योतक हैं। संयमरूपी इत्र और विमल व्रतरूपी सुगन्धित द्रव्य से सने भावों की गुलाल से झोली भरते हैं, इसप्रकार सबको एकत्रित करते हैं।

उसमें तप का मेवा लगी धर्मरूप मिठाई संतुलित, दोषरहित आनन्द की कटोरी में शोभित है। द्यानतराय कहते हैं कि सुमति अपने सखियों से कहती है कि चेतन के साथ यह क्षमा और समता की जोड़ी युग-युग बनी रहे, चिरंजीवी रहे।

चौला = सुगंधित रस।

(३०९)

नगरमें होरी हो रही हो॥ टेक॥

मेरो पिय चेतन घर नाहीं, यह दुख सुन है को॥ नगर.॥ १॥

सोति कुमतिके राच रह्यो है, किहि विध लाऊं सो॥ नगर॥ २॥

'द्यानत' सुमति कहै जिन स्वामी, तुम कछु सिच्छा दो॥ नगर.॥ ३॥

नगर में होली मनाई जा रही है। सुमति कह रही है कि यह मेरा चेतन अपने आत्मा में स्थित नहीं है। पर की ओर, पुद्गल की ओर उन्मुख व रत है। यह दु:ख कौन सुन रहा है? अर्थात् कोई भी इस बात पर ध्यान ही नहीं दे रहा है।

यह चेतन मेरी सौत कुमति के साथ रंगरेली मना रहा है, उसको अपने घर पर वापस किसप्रकार लाऊँ? अर्थात् आत्मा में आत्मा को किस प्रकार स्थिर करूँ?

द्यानतराय कहते हैं कि सुमति इस प्रकार भगवान से प्रार्थना करती है कि आप ही उसे किसी प्रकार समझाओ, उसे शिक्षा दो, उपदेश दो।

नेमीश्वर खेलन चले, रंग हो हो होरी,
सुगुन सखा संग, भूप रंग, रंग हो हो होरी ॥ टेक ॥
महा विराग बसन्तमें, रंग हो हो होरी।
समझ सुवास अनूप रंग, रंग हो हो होरी ॥ नेमीश्वर. ॥

वसन महाव्रत धारकैं, रंग हो हो होरी।
छिरकें छिमा बनाय रंग, रंग हो हो होरी।
पिचकारी कर प्रीतिकी रंग, रंग हो हो होरी।
रीझ रंग अधिकाय रंग, रंग हो हो होरी ॥ नेमीश्वर. ॥ १ ॥

ज्ञान गुलाल सुहावनी रंग, रंग हो हो होरी।
अनुभव अतर सुख्याल रंग, रंग हो हो होरी।
प्रेम पखावज बजत रंग, रंग हो हो होरी।
तत्त्व स्वपर दो ताल रंग, रंग हो हो होरी ॥ नेमीश्वर. ॥ २ ॥

संजम सिरनी अति भली रंग, रंग हो हो होरी।
मेवा मगन सुभाव रंग, रंग हो हो होरी।
सम रस सीतल फल लहै रंग, रंग हो हो होरी।
पान परम पद चाव रंग, रंग हो हो होरी ॥ नेमीश्वर. ॥ ३ ॥

आतम ध्यान अगन भई रंग, रंग हो हो होरी।
करम काठ समुदाय रंग, रंग हो हो होरी।
धर्म धुलहड़ी खेलकैं रंग, रंग हो हो होरी।
सदा सहज सुखदाय रंग, रंग हो हो होरी ॥ नेमीश्वर ॥ ४ ॥

रजमति मनमें कहति है रंग, रंग हो हो होरी।
हम तजि भजि शिव नारि रंग, रंग हो हो होरी।
'द्यानत' हम कब होंहिंगे रंग, रंग हो हो होरी।
शिववनिताभरतार रंग, रंग हो हो होरी ॥ नेमीश्वर. ॥ ५ ॥

श्री नेमीनाथ होली खेलने को निकले हैं। वे अद्‌भुत रंगों से होली खेल रहे हैं। उनके गुण ही उनके साथी हैं, उनसे ये रंग खेल रहे हैं। बसंत ऋतु में, वैराग्य, ज्ञान आदि सुगन्धित गुणों व अनुपम रंगों से वे होली खेल रहे हैं।

महाव्रत के वसन-वस्त्र धारण किए हुए हैं और क्षमारूपी रंग बनाकर उन पर सर्वत्र छिड़क रहे हैं। ज्ञान आदि गुणों की आसक्ति के गहरे रंग में प्रीति की पिचकारी भर-भरकर वे निमग्न होकर होली खेल रहे हैं।

ज्ञान की सुहावनी गुलाल है उसमें अनुभव का इत्र, शुभ विचारों का रंग है, सबके प्रति प्रेमरूपी पखावज के स्वर तथा तत्त्व व स्व तथा पर के भेदज्ञान की दो ताल का चिंतन-मनन विचार करके होली खेल रहे हैं।

संयमरूपी विविध रंगोंवाली मिठाई, स्व-भाव का मनभाता मेवा, समतारूपी रसदार ठंडे फल और परमपद रूपी आनन्द का पान करते हुए रुचिसहित वे होली खेल रहे हैं।

आत्मध्यान की अग्नि जलाकर, कर्मकाठ (ईंधन) को उसमें भस्म कर रहे हैं। सदा सहज सुखदाय रंगों के साथ वे धर्मरूपी धुलहंडी का खेल खेल रहे हैं।

राजुल मन में कहती है कि हमको छोड़कर शिवनारी-शिवरमणी के साथ वे रंग खेल रहे हैं। द्यानतराय कहते हैं कि मोक्षरूपी स्त्री के रंग में रंगनेवाले के रंग में रंगकर हम कब होली खेलेंगे अर्थात् हमें ऐसा अवसर कब मिलेगा?

(३११)

पिया बिन कैसे खेलौं होरी॥ टेक॥

आतमराम पिया नहिं आये, मोकों होरी कोरी॥ पिया.॥ १॥

एक बार प्रीतम हम खेलैं, उपशम केसर घोरी॥ पिया.॥ २॥

'द्यानत' वह समयो कब पाऊं, सुमति कहै कर जोरी॥ पिया.॥ ३॥

सुमति कह रही है – अपने प्रियतम आत्मा के बिना मैं किससे होली खेलूँ? मेरा प्रिय आतम अर्थात् मेरी आत्मा अपने में नहीं रम रहा (अर्थात् अपने घर पर नहीं आया), तो मेरा होली का, आनन्द का यह त्यौहार फीका है। कोरा है, निरर्थक है।

एक बार उपशमरूपी केशर का रंग तैयार करके आत्मा के साथ होली खेलें अर्थात् कर्मरूपी रज नीचे बैठ जाए, जम जाए और आत्मस्वरूप की निर्मलता ऊपर प्रगट हो, वह मलरहित – निर्मल हो जाए।

द्यानतराय कहते हैं कि सुमति हाथ जोड़कर कहती है कि वह अवसर मैं कब पाऊँगी?

(३१२)

भली भई यह होरी आई, आये चेतनराय ॥ टेक ॥

काल बहुत प्रीतम बिन बीते, अब खेलौं मन लाय ॥ भली. ॥ १ ॥

सम्यक रंग गुलाल बरतमें, राग विराग सुहाय ॥ भली. ॥ २ ॥

'द्यानत' सुमति महा सुख पायो, सो बरन्यो नहिं जाय ॥ भली. ॥ ३ ॥

सुमति कहती है कि होली का, आनन्द का अवसर आ गया है कि आत्मा को आत्मा की रुचि जागृत हुई है तो कितना भला लग रहा है!

बहुत समय बीत गया, तब आत्मा पर की ओर उन्मुख व रत था इसलिए मैंने बहुत समय प्रीतम/आत्मरुचि के बिना ही बिताया है, अब उसे अपना ध्यान आया है। अब मैं मन लगाकर होली खेलूँगी।

सम्यक्त्वरूपी रंग-गुलाल लेकर राग से विरक्त होकर शोभित होऊँगी।

द्यानतराय कहते हैं कि सुमति को इस प्रकार जो सुख मिला है, प्राप्त हुआ है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह अवर्णनीय है अर्थात् आत्मा में मगन होने पर आनन्द की अनुभूति का वर्णन अकथनीय है।

होरी आई आज रँग भरी है। रंग भरी रस भरी रसौं भरी है॥ टेक॥

चेतन पिय आये मन भाये, करुना केसर घोर धरी है॥ १॥

ज्ञान गुलाल पीत पिचकारी, ध्यान महाधुनि होत खरी है॥ २॥

'द्यानत' सुमति कहै समतासों, अब मोपै प्रभु दया करी है॥ ३॥

आज होली का रंग-भरा दिन आया है। यह दिन रंग से भरा है, रस से भरा है, नाना प्रकार के रसों से भरा है।

चैतन्य-प्रियतम आए हैं, मन को भा रहे हैं अर्थात् आज आत्मरुचि जागृत हुई है और वह मन को अच्छी लग रही है। करुणारूपी केसर घोल रखी है अर्थात् स्व-संवेदन की भावना से गहनरूप से ओत-प्रोत हो रहे हैं, भर रहे हैं।

ज्ञान की गुलाल और प्रेम की पिचकारी है, ध्यान में महाध्वनि अर्थात् अन्तर्निनाद स्पष्ट गुंजायमान होता है।

द्यानतराय कहते हैं कि विवेकपूर्ण बुद्धि-विचार अर्थात् सुमति अपनी समतारूपी सखी से कहती है कि अब मुझ पर प्रभु ने कृपा की है कि मुझे समभाव की प्राप्ति हुई है, आत्मरुचि उत्पन्न हुई है।

परमगुरु बरसत ज्ञान झरी॥ टेक॥

हरषि हरषि बहु गरजि गरजिकै, मिथ्यातपन हरी॥ परमगुरु.॥

सरधा भूमि सुहावनि लागै, संशय बेल हरी।
भविजनमनसरवर भरि उमड़े, समुझि पवन सियरी॥ परमगुरु.॥ १॥

स्यादवाद नय बिजली चमकै, पर-मत-शिखर परी।
चातक मोर साधु श्रावकके, हृदय सुभक्ति भरी॥ परमगुरु.॥ २॥

जप तप परमानन्द बढ़्यो है, सुसमय नींव धरी।
'द्यानत' पावन पावस आयो, थिरता शुद्ध करी॥ परमगुरु.॥ ३॥

हे अर्हत्! ध्यान-मुद्रा में आसीन व निमग्न आपके उपयोग में ज्ञान की वर्षा हो रही है, निरन्तर ज्ञानोपयोग की झड़ी लग रही है। जिस प्रकार मेघों की गर्जन और वर्षा से तपन दूर होती है उस ही प्रकार दिव्यध्वनिरूपी ज्ञान की अजस्र धारा से मिथ्यात्व की तपन दूर हो रही है जिससे बहुत हर्ष हो रहा है।

श्रद्धा/विश्वासरूपी भूमि सुहावनी है क्योंकि यही वह आधार है जिस पर संशयरूपी बेल का हरण हो जाता है अर्थात् संशयरूपी बेल नष्ट हो जाती है। जल से प्लावित होकर सरोवर के ऊँचे आ रहे जल-स्तर की भाँति भव्यजनों के मन भक्ति से उमड़ रहे हैं, जैसे जल को छूकर बहते हुए पवन में शीतलता/ठंडक आ जाती है उसी प्रकार ज्ञानरूपी पवन में भी शीतलता आ रही है।

स्याद्वाद एवं नय सिद्धान्तों की बिजली की कौंध/चमक अन्य मतों के मस्तक पर गिरकर उनकी धारणाओं को चूर-चूर कर देती है, ध्वस्त कर देती है। मेघ ऋतु में प्रसन्न होनेवाले पक्षी चातक और मोर की भाँति साधुजन के हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाते हैं, भर जाते हैं। जप, तप से परम आनन्द में निरन्तर वृद्धि हो रही है और ज्ञान का सुदृढ़ आधार उस शुभ घड़ी में निर्मित होता है, तैयार हो रहा है। द्यानतराय कहते हैं कि समवसरण का पावन सान्निध्य वर्षा की भाँति है, जिससे समस्त संशयरूपी मैल धुलकर निर्मल ज्ञान में स्थिरता होती है।

इस भजन में समवसरण में विराजित अर्हंत् की दिव्यध्वनि का वर्णन किया गया है।

(३१५)

री! मेरे घट ज्ञान घनागम छायो॥ टेक॥
शुद्ध भाव बादल मिल आये, सूरज मोह छिपायो॥ री.॥

अनहद घोर घोर गरजत है, भ्रम आताप मिटायो।
समता चपला चमकनि लागी, अनुभौ-सुख झर लायो॥ री.॥ १॥

सत्ता भूमि बीज समकितको, शिवपद खेत उपायो।
उद्धत भाव सरोवर दीसै, मोर सुमन हरषायो॥ री.॥ २॥

भव-प्रदेशतैं बहु दिन पीछैं, चेतन पिय घर आयो।
'द्यानत' सुमति कहै सखियनसों, यह पावस मोहि भायो॥ री.॥ ३॥

हे सखी! मेरे अन्तर में ज्ञानरूपी बादल बहुत घनेरूप में छा रहे हैं। शुद्ध भावरूपी बादलों का समूह इस प्रकार घुमड़कर घना हो रहा है कि उसने मोहरूपी सूर्य को ढक दिया है।

अनहद की ध्वनि गुंजायमान हो रही है, भ्रम-संशय का ताप कम हो गया है। समतारूपी बिजलियाँ कौंधने लगी हैं और स्वानुभव के कारण सुख की झड़ी लग गयी है अर्थात् खूब आनन्द की अनुभूति हो रही है।

सत्ता (अस्तित्व)-रूपी भूमि में, सम्यक्त्वरूपी बीज बोकर मोक्षरूपी क्षेत्र को उपार्जित किया है। भावों का समुद्र अपने पूर्ण उफान पर है। मनरूपी मयूर हर्षित हो रहा है।

भव-भव में भटकने के पश्चात् बहुत समय बाद चेतन अपने स्व-स्थान पर आया है अर्थात् अपने/स्व के ध्यान में मगन, तल्लीन हो रहा है। द्यानतराय कहते हैं कि सुमति अपनी सखियों से कह रही है कि यह (ज्ञान की) पावस ऋतु - वर्षाकाल मुझे अत्यन्त ही प्रिय लग रही है।

(३१६)

राग गौरी

राम भरतसों कहैं सुभाइ, राज भोगवो थिर मन लाइ॥ टेक॥

सीता लीनी रावन घात, हम आये देखनको भ्रात॥ राम.॥ १॥

माताको कछु दुख मति देहु, घरमें धरम करो धरि नेह॥ राम.॥ २॥

'द्यानत' दीच्छा लैंगे साथ, तात वचन पालो नरनाथ॥ राम.॥ ३॥

श्री राम अपने छोटे भाई भरत से कहते हैं कि हे भाई! अपना चित्त स्थिर करके इस राज्य का भोग करो।

हम तो भाई को (लक्ष्मण को) देखने को आए थे और रावण ने घात लगाकर सीताजी का हरण कर लिया।

माता को कुछ भी, किसी प्रकार का दुःख न हो, उन्हें कष्ट न पहुँचे इसलिए तुम धैर्यपूर्वक घर में ही प्रेम से रहो।

द्यानतराय कहते हैं कि राम ने भाई भरत को आश्वासन दिया कि हे राजन! हे भरत! अपन/हम दीक्षा साथ लेंगे। इसलिए तुम अभी राज करो/राज सम्हालो और माता के वचन का पालन करो।

(३१७)

राग गौरी

कहैं भरतजी सुन हो राम! राज भोगसों मोहि न काम॥ टेक॥
तब मैं पिता साथ मन किया, तात मात तुम करन न दिया॥ १॥
अब लौं बरस वृथा सब गये, मनके चिन्ते काज न भये॥ २॥
चिन्तै थे कब दीक्षा बनै, धनि तुम आये करने मनै॥ ३॥
आप कहा था सब मैं करा, पिता करेकौं अब मन धरा॥ ४॥
यों कहि दृढ़ वैराग्य प्रधान, उठ्यो भरत ज्यों भरत सुजान॥ ५॥
दीक्षा लई सहस नृप साथ, करी पहुपवरषा सुरनाथ॥ ६॥
तप कर मुकत भयो वर वीर, 'द्यानत' सेवक सुखकर धीर॥ ७॥

दशरथ-पुत्र भरत अपने बड़े भाई श्रीराम से कहते हैं कि हे भाई! मुझे इस राज के भोगने से कोई वास्ता नहीं है, कोई प्रयोजन नहीं है।

पहले भी जब पिता ने और मैंने एक साथ संन्यास धारण करने का मन बना लिया था तब पिताजी ने, आपने व माँ ने संन्यास धारण नहीं करने दिया।

अब तक की बीती उम्र सब वृथा गई, जो मन में विचार किया उसे पूर्ण नहीं कर सके। सोचते थे कि कब दीक्षा की साध पूरी हो तो तुम उसे मना करने आ गए हो।

आपने जो कहा था कि संन्यास धारण न करके राज्य करो, वह ही मैंने सब किया। अब मैंने पिताजी ने जो किया वह करने का अर्थात् संन्यास धारण करने का मन बनाया है। इस प्रकार यह कहते हुए वैराग्य में दृढ़ होकर भरत उठ खड़े हुए।

अनेक राजाओं के साथ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की, उस समय इन्द्र ने उन पर पुष्पवृष्टि की थी।

तपस्या करके वे श्रेष्ठ वीर भरत मुक्त हुए, मोक्षगामी हुए। द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे धैर्यवान भरत के सेवक होना सुखकारी है।

(३१८)

ए रे वीर रामजीसों कहियो बात ॥ टेक ॥

लोक निंदतैं हमकों छांडी, धरम न तजियो भ्रात ॥ ए रे. ॥ १ ॥

आप कमायो हम दुख पायो, तुम सुख हो दिनरात ॥ ए रे. ॥ २ ॥

'द्यानत' सीता थिर मन कीना, मंत्र जपै अवदात ॥ ए रे. ॥ ३ ॥

रावण के घर रहने के कारण सीता को लोक-निंदावश घर से निर्वासित कर दिया गया। सारथि राम के आदेश के अनुसार सीता को जंगल में छोड़कर वापस आने लगा तो सीता ने उसके साथ अपने पति श्रीराम के लिए संदेश भिजवाया कि ओ भाई! श्रीराम से इतनी-सी बात कह देना कि तुमने लोक निन्दा के भय से हमको छोड़ दिया, परन्तु ऐसे ही किसी के भी कहने से घबराकर कभी धर्म को मत छोड़ देना!

हमने जो कमाया, कर्म किया वह ही हमने भोगा, उपभोग किया अर्थात् दु:ख उपजाये तो दु:ख पाए। पर आप दिन-रात सुखी रहें, ऐसी भावना है।

द्यानतराय कहते हैं कि इस प्रकार सीता ने अपने मन को स्थिर किया और पवित्र/निर्मल मंत्रों के जपन में लग गई।

अवदात = शुद्ध, पवित्र।

(३११)

राग बसन्त

कहै राघौ सीता, चलहु गेह, नैननिमें आय रह्यो सनेह॥ कहै.॥

हमऊपर तो तुम हो उदास, किन देखो सुतमुख चन्द्रमास॥ १॥

लछमन भामण्डल हनू आय, सब विनती करि लगि रहे पाय॥ २॥

'द्यानत' कछु दिन घर करो बास, पीछैं तप लीज्यो मोह नास॥ ४॥

रघुपति रामचन्द्र सीताजी कहते हैं कि अब घर चलो! यह कहते समय उनके नेत्रों में सीताजी के प्रति अगाध प्रेम झलक रहा है।

तुम हमारी ओर तो उदास हो, हमसे रुष्ट हो। किन्तु चन्द्रमा के समान कान्तिवान अपने पुत्रों की ओर तो देखो! उनका ख्याल करके ही घर चली चलो!

देखो! लक्ष्मण, हनुमान और तुम्हारा भाई भामण्डल आदि सभी आकर तुम्हारे पाँव लगकर विनती करते हैं।

द्यानतराय कहते हैं कि राजा राम का अनुरोध है कि कुछ दिन घर में रहकर गृहस्थ का जीवन व्यतीत करो तत्पश्चात् मोह का नाश करने के लिए तप कर लेना।

राघौ = राम

आचार्य रविषेण के 'पद्मपुराण' के कथानक के अनुसार रावण के घर में रहने के कारण लोकनिन्दा व लांछनवश सीता को निर्वासित कर दिया गया। निर्वासन के पश्चात् भी अपने सतीत्व को सिद्ध करने के लिए सीता को अग्निपरीक्षा देनी पड़ी। परीक्षा में निर्दोष सिद्ध होने के बाद श्रीराम सीता से घर चलने के लिए कहते हैं पर सीता अब घर चलने से अस्वीकार कर देती है और संन्यास धारण कर लेती है। प्रस्तुत भजन में राम द्वारा सीता को घर चलने का आग्रह करने का ही वर्णन है।

(३२०)

राग बसन्त

कहै सीताजी सुनो रामचन्द्र, संसार महादुखवृच्छकन्द॥ कहै.॥

पंचेन्द्री भोग भुजंग जानि, यह देह अपावन रोगखानि॥ १॥

यह राज रजमयी पापमूल, परिगृह आरँभ में खिन न भूल॥ २॥

आपद सम्पद घर बंधु गेह, सुत संकल फाँसी नारि नेह॥ ३॥

जिय रुल्यौ निगोद अनन्त काल, बिनु जानें ऊरध मधि पाताल॥ ४॥

तुम जानत करत न आप काज, अरु मोहि निषेधो क्यों न लाज॥ ५॥

तब केश उपारि सबै खिमाय, दीक्षा धरि कीन्हों तप सुभाय॥ ६॥

'द्यानत' ठारै दिन ले सन्यास, भयो इन्द्र सोलहैं सुरग बास॥ ७॥

सीताजी श्री रामचन्द्रजी से कहती हैं कि हे रामचन्द्र! सुनो, यह संसार अत्यन्त दुःखों का समूह है, पिंड है, वृक्ष है।

पाँचों इन्द्रियों के भोग सर्प के समान विषयुक्त हैं। यह देह रोगों की खान है, अपवित्र है।

यह राज्य मोह का, पाप का कारण (हेतु) है। इसके लिए किये जानेवाले आरम्भ में और परिग्रह में एक क्षण भी अपने आप को मत भूल।

संपत्ति, घर, बंधु-बांधव आदि सब आपदा हैं, कष्ट देनेवाले हैं। पुत्र का प्रेम साँकल के समान बाँधनेवाला है और नारी का/के लिए नेह/फाँसी के समान है।

यह जीव ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक व पाताललोक का ज्ञान न होने के कारण अनंतकाल तक निगोद में रुलता रहा।

तुम जानते हुए भी अपने करने योग्य कार्य नहीं करते हो! और मुझे अपने योग्य कार्य करने से रोकने में भी लजाते क्यों नहीं हो?

यह कहकर सबसे क्षमा माँगकर, केश-लुंचन करके सीताजी ने दीक्षा धारण की और तप किया।

द्यानतराय कहते हैं कि इस प्रकार सीताजी ने संन्यास ले लिया और फिर सौलहवें स्वर्ग में जाकर इन्द्र पद प्राप्त किया।

श्रीराम सीता से घर चलने का आग्रह करते हैं तो सीता प्रत्युत्तर में जो कहती है उसी का वर्णन है इसी भजन में।

(३२१)

सुरनरसुखदाई, गिरनारि चलौ भाई॥ टेक॥

बाल जती नेमीश्वर स्वामी, जहँ शिवरिद्धि कमाई॥ सुर.॥ १॥

कोड़ बहत्तर सात शतक मुनि, तहँ पंचमगति पाई॥ सुर.॥ २॥

तीरथ महा महाफलदाता, 'द्यानत' सीख बताई॥ सुर.॥ ३॥

अरे भाई! देवों व मनुष्यों को जो सुखकर है, सुख प्रदान करनेवाला है, ऐसे गिरनार तीर्थ की यात्रा करने चलो। उस गिरनार तीर्थ से बालब्रह्मचारी नेमिनाथ ने मोक्ष-गमन किया था।

उस गिरनार तीर्थ से बहत्तर करोड़ सात सौ मुनि मोक्ष गए हैं। वह महान तीर्थ है और महा फलदाता है। इसलिए द्यानतराय यह सीख देते हैं कि भाई उस गिरनार तीर्थ की यात्रा को चलो।

(३२२)

हथनापुर बंदन जइये हो॥ टेक॥

शान्ति कुंथु अर मल्ल विराजैं, पूजा करि सुख पइये हो॥ हथनापुर.॥ १॥

श्रेयँसकुमर भयो दानेश्वर, सो दिन अब लौं गइये हो॥ हथनापुर.॥ २॥

'द्यानत' बन्दों थानक नामी, स्वामीकी लौं लइये हो॥ हथनापुर.॥ ३॥

हे भव्य! हस्तिनापुर की यात्रा करने के लिए, वंदन करने के लिए जाओ।

वहाँ शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ की प्रतिमाएँ विराजमान हैं, उनकी पूजा कर आनन्द व लाभ प्राप्त करो।

वहाँ राजा श्रेयांसकुमार जैसे दानी हुए हैं, जिन्होंने तीर्थंकर आदिनाथ को सर्वप्रथम आहारदान दिया था, उस दिन का (अक्षय तृतीया का) गुणगान आज भी किया जाता है।

द्यानतराय कहते हैं कि ऐसे प्रसिद्ध स्थान की वन्दना करो और प्रभु के गुणों का चिन्तवन करो, भक्ति करो, उनके गुणों से लौ (लगन) लगाओ।

हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस ने वैशाख शुक्ल तृतीया के दिन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को उनको मुनि अवस्था में छ माह के उपवास के बाद प्रथम आहार के रूप में इक्षुरस (गन्ने का रस) का आहार करवाया था, तब से यह दिन 'अक्षयतृतीया' के रूप में आज भी मान्य है।

(३२३)

मंगल आरती

राग भैरों

मंगल आरती कीजे भोर, विघनहरन सुखकरन किरोर॥ टेक॥
अरहंत सिद्ध सूरि उवझाय, साधु नाम जपिये सुखदाय॥ मंगल.॥

नेमिनाथ स्वामी गिरनार, वासुपूज्य चम्पापुर धार।
पावापुर महावीर मुनीश, गिरि कैलास नमों आदीश॥ मंगल.॥ १॥

शिखर समेद जिनेश्वर बीस, बंदों सिद्धभूमि निशिदीस।
प्रतिमा स्वर्ग मर्त्य पाताल, पूजों कृत्य अकृत्य त्रिकाल॥ मंगल.॥ २॥

पंच कल्याणक काल नमामि, परम उदारिक तन गुणधाम।
केवलज्ञान आतमाराम, यह षटविधि मंगल अभिराम॥ मंगल.॥ ३॥

मंगल तीर्थंकर चौबीस, मंगल सीमंधर जिन बीस।
मंगल श्रीजिनवचन रसाल, मंगल रतनत्रय गुनमाल॥ मंगल.॥ ४॥

मंगल दशलक्षण जिनधर्म, मंगल सोलहकारन पर्म।
मंगल बारहभावन सार, मंगल संघ चारि परकार॥ मंगल.॥ ५॥

मंगल पूजा श्रीजिनराज, मंगल शास्त्र पढ़ै हितकाज॥
मंगल सतसंगति समुदाय, मंगल सामायिक मन लाय॥ मंगल.॥ ६॥

मंगल दान शील तप भाव, मंगल मुक्ति वधूको चाव।
'द्यानत' मंगल आठौं जाम, मंगल महा मुक्ति जिनस्वाम॥ मंगल.॥ ७॥

हे भव्य! प्रात:काल सर्वमंगलकारी आरती कीजिए, वह सब विघ्नों को हरनेवाली है और करोड़ों सुख करनेवाली है। सदैव अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु का सुखकारी, सुख देनेवाले नाम का जाप कीजिए।

तीर्थंकर नेमिनाथ गिरिनार पर्वत से, चम्पापुर से तीर्थंकर वासुपूज्य, पावापुर से मुनिनाथ श्री महावीर और कैलाश पर्वत से भगवान आदीश्वर मोक्ष गये हैं अत: इन सिद्धक्षेत्रों को नमन करो।

सम्मेद शिखर से बीस जिनेश्वर मोक्ष गए हैं। इन सिद्धभूमियों की सदैव, दिन-रात वंदना करो। स्वर्ग, मध्यलोक व अधोलोक में जितनी भी कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ हैं उनकी तीनों काल अर्थात् सदैव पूजा करो।

तीर्थंकरों के पाँचों कल्याणकों के समय को नमन करो। केवलज्ञानमय आत्मा को नमन करो—ये छहों मंगलकारी हैं, उद्धार करनेवाले हैं, गुणों के धाम हैं।

चौबीस तीर्थंकर मंगल हैं। विदेह क्षेत्र स्थित सीमंधर आदि बीस तीर्थंकर मंगल हैं। उनकी दिव्यध्वनि मंगल है। रत्नत्रय की गुणमाल मंगल है। दशलक्षणधर्म व सौलहकारण भावनाएँ मंगल हैं। बारह भावनाएँ व चार प्रकार के संघ मंगल हैं।

श्री जिनराज की पूजा मंगल है। शास्त्रों का स्वाध्याय मंगल है। सज्जन पुरुषों का समुदाय और उनकी संगति मंगल है। सामायिक में मन लगाना मंगल है।

दान, शील, तप की भावना मंगल है। मोक्ष की कामना मंगल है। द्यानतराय कहते हैं कि इनका आठों प्रहर स्मरण मंगलकारी है। महान, मुक्ति के स्वामी, मोक्ष के स्वामी जिनेन्द्र मंगलकारी हैं।

मंगल = कल्याणकारी।

(३२४)

पंचपरमेष्ठी की आरती

इहविधि मंगल आरती कीजै, पंच परमपद भज सुख लीजै॥ टेक॥

पहली आरती श्रीजिनराजा। भवदधिपार उतारजिहाजा॥ १॥

दूसरि आरति सिद्धनकेरी। सुमिरन करत मिटै भवफेरी॥ २॥

तीजी आरति सूरि मुनिन्दा। जनममरनदुख दूर करिंदा॥ ३॥

चौथी आरति श्रीउवझाया। दर्शन देखत पाप पलाया॥ ४॥

पांचवीं आरति साधु तिहारी। कुमति-विनाशन शिव-अधिकारी॥ ५॥

छट्ठी ग्यारह प्रतिमाधारी। श्रावक वंदों आनँदकारी॥ ६॥

सातमि आरति श्रीजिनवानी 'द्यानत' सुरगमुकति सुखदानी॥ ७॥

इस प्रकार प्रभु की मंगलकारी आरती कीजिए कि पाँचों परमपदों का भजन, स्तवन होकर सुख की अनुभूति हो।

पहली आरती अरहंत देव की कीजिए जिनका चिंतवन, स्तवन संसारसमुद्र से पार कराने के लिए जहाज के समान है।

दूसरी आरती सिद्धों की कीजिए जिनके स्मरण से निजात्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध होता है, भव-भ्रमण की बाधा मिटती है।

तीसरी आरती आचार्य मुनिवर की कीजिए जो जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने हेतु पथ-अनुगमन का संचालन करते हैं।

चौथी आरती उपाध्याय परमेष्ठी की कीजिए जिनके सान्निध्य से, जिनके दर्शन से अज्ञान का अंधकार अर्थात् पाप नष्ट हो जाते हैं।

पाँचवीं आरती साधुजन की कीजिए जिससे विषय-कषाय में रत होने की बुद्धि का नाश होकर, मोक्ष की राह में प्रगति होती है।

छठी आरती प्रतिमाधारी त्यागीजनों की कीजिए व इस प्रकार सन्मार्ग पर अग्रसर श्रावकों की वंदना कीजिए। यह आनन्ददायक है।

सातवीं आरती श्री जिनवाणी की कीजिए। द्यानतरायजी कहते हैं कि ये सब ही स्वर्ग व मोक्ष-सुख के दाता हैं।

मंगल = कल्याणकारी।

(३२५)

आरती श्रीजिनराज की

आरति श्रीजिनराज तिहारी, करमदलन संतन हितकारी॥ टेक॥

सुरनरअसुर करत तुम सेवा। तुमही सब देवनके देवा॥ १॥

पंचमहाव्रत दुद्धर धारे। रागरोष परिणाम विदारे॥ २॥

भवभय भीत शरन जे आये। ते परमारथपंथ लगाये॥ ३॥

जो तुम नाथ जपै मन माहीं। जनममरनभय ताको नाहीं॥ ४॥

समवसरनसंपूरन शोभा। जीते क्रोधमानछललोभा॥ ५॥

तुम गुण हम कैसे करि गावैं। गणधर कहत पार नहिं पावैं॥ ६॥

करुणासागर करुणा कीजे। 'द्यानत' सेवक को सुख दीजे॥ ७॥

हे जिनेन्द्र! हम आपकी आरती करते हैं। आपकी आरती हमारे कर्मों के समूह को घातनेवाली है/नष्ट करनेवाली है, यह सज्जनों का हित करनेवाली है/सज्जनों के लिए हितकारी है।

हे जिनेन्द्र! सुर-असुर-नर सब आपकी वन्दना करते हैं, आप सब देवों के देव हैं, सब देवों द्वारा पूज्य हैं।

हे जिनेन्द्र! आपने पाँचों महाव्रतों को धारणकर, अत्यन्त दृढ़ता से उनका पालनकर, उनकी साधनाकर राग और द्वेष के परिणामों/भावों को भग्न कर दिया, छिन्न-भिन्न कर दिया।

हे जिनेन्द्र! जो संसार के भव-भ्रमण से भयभीत होकर आपकी शरण में आये आपने उन्हें परमार्थ का/मुक्ति का मार्ग बताकर उसकी ओर उन्मुख/अग्रसर किया।

हे जिनेन्द्र! जो आपको अपने मन में जपता है/स्मरण करता है उसे फिर जन्म

और मरण का भय नहीं होता। अर्थात् उनका जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है।

हे जिनेन्द्र! आपका समवशरण सम्पूर्ण/अत्यन्त शोभायुक्त है। उस समवशरण में विराजित आपके दर्शनमात्र से क्रोध-मान-माया और लोभ आदि कषायों पर विजय प्राप्त होती है।

हे जिनेन्द्र! हम आपके गुणों की स्तुति कैसे करके गावें? गणधर भी आपके गुणों का पार नहीं पा सके इसलिए हम तो आपका गुणगान, आपकी स्तुति करने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

हे करुणासागर! अब हम पर भी करुणा कीजिए, अपने सेवक को, द्यानतराय को, अपने भक्त को सुख प्रदान कीजिए।

आरती वर्द्धमानजी की

करौं आरती वर्द्धमानकी। पावापुर निरवान थानकी॥ टेक॥

राग-बिना सब जग जन तारे। द्वेष बिना सब करम विदारे॥ १॥

शील-धुरंधर शिव-तियभोगी। मनवचकायन कहिये योगी॥ २॥

रतनत्रय निधि परिगह-हारी। ज्ञानसुधाभोजनव्रतधारी॥ ३॥

लोक-अलोक ज्ञान निजमाहीं। सुखमय इंद्रिय सुखदुख नाहीं॥ ४॥

पंचकल्याणकपूज्य विरागी। विमलदिगंबर अंबर-त्यागी॥ ५॥

गुनमनि-भूषन भूषित स्वामी। जगतउदास जगंतरस्वामी॥ ६॥

कहै कहां लौं तुम सब जानौ। 'द्यानत' की अभिलाष प्रमानौं॥ ७॥

मैं भगवान वर्द्धमान की/तीर्थंकर महावीर की आरती करता हूँ जिनका निर्वाणस्थान पावापुर है।

मैं उन भगवान वर्द्धमान की आरती करता हूँ जिन्होंने रागरहित/राग-शून्य होकर मैत्री भावना और करुणा से जगत के प्राणियों को संसार से/भव-भ्रमण से छूटने का उपाय बताया; जिन्होंने द्वेषरहित होकर सब कर्मों का नाश किया।

मैं उन भगवान वर्द्धमान की आरती करता हूँ जिन्होंने ब्रह्मचर्या में रत होकर शील का दृढ़ता से पालन किया; जिन्होंने मन-वचन और काय की एकाग्रता कर योग धारण किया, गुप्ति का पालन किया और मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण किया।

जिन्होंने सब परिग्रह को छोड़कर रत्नत्रय निधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित) को धारण किया, जिन्होंने ज्ञानरूपी अमृत का भोजन किया अर्थात् सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया।

जिन्होंने सर्वज्ञ होकर लोक और अलोक को अपने में ही दर्पणवत् धारण

किया है। जिन्होंने इन्द्रिय-विषयों के सुख-दु:खों को छोड़कर अनन्त सुख को धारण किया है।

उनकी गर्भ-जन्म तप ज्ञान और मोक्ष - ये पाँचों घटनाएँ/स्थितियाँ जगत के प्राणियों का कल्याण करनेवाली हैं, इसलिए पूज्य हैं। वे विरागी हैं, राग-द्वेषरहित हैं। उन्होंने सब वस्त्र, वैभव आदि सब परिग्रह छोड़कर दिशाएँ ही जिनका वस्त्र है ऐसा नग्न-दिगम्बर वेश धारण किया।

वे सब गुणोंरूपी मणियों और आभूषणों से भूषित हैं। वे समस्त जगत से उदासीन हैं किन्तु अपने अभ्यन्तर जगत के/अपनी आत्मा के स्वामी हैं।

हे वर्द्धमान भगवान! हम कहाँ तक कहें! आप तो सर्वज्ञ हैं, सब-कुछ जानते हैं। भक्त द्यानतराय कह रहे हैं कि हमारी भी आपके समान हो जाने की भावना है, अभिलाषा है यही आपके गुणानुवाद के लिए प्रमाण है।

(३२७)

आरती निश्चयआत्मा की

चौपाई

मंगल आरती आतमराम। तनमंदिर मन उत्तम ठान॥ टेक॥

समरसजलचंदन आनंद। तंदुल तत्त्वस्वरूप अमंद॥ १॥

समयसारफूलन की माल। अनुभव-सुख नेवज भरि थाल॥ २॥

दीपकज्ञान ध्यानकी धूप। निरमलभाव महाफलरूप॥ ३॥

सुगुण भविकजन इकरँगलीन। निहचै नवधा भक्ति प्रवीन॥ ४॥

धुनि उतसाह सु अनहद गान। परम समाधिनिरत परधान॥ ५॥

बाहिज आतमभाव बहावै। अंतर ह्वै परमातम ध्यावै॥ ६॥

साहब सेवकभेद मिटाय। 'द्यानत' एकमेक हो जाय॥ ७॥

शुद्ध आत्मा की, निज आत्मा की आरती मंगलकारी है/मंगलदायी है।

(इस तन में) आत्मा के निवास करने के कारण यह तन एक मंदिर के समान (पूज्य है/पवित्र) है, और मन उसके ठहरने का स्थान है।

उसकी (आत्मा की) पूजा के लिए समतारूपी भावना ही आनन्दकारी जल व चन्दन है। उसका तात्विक स्वरूप ही कभी भी मन्द न होनेवाला अक्षत/तन्दुल है।

आत्मगुणों में रति ही उसकी पूजा के लिए पुष्पों की माल है और आत्मगुणों के अनुभव से उत्पन्न सुख ही नैवेद्य भरे थाल हैं।

उसकी पूजा के लिए ज्ञान ही दीपक है और मन-वचन-काय की एकाग्रतारूप ध्यान ही धूप है। भावों का निर्मल हो जाना ही उसकी पूजा का परिणाम है/फल है।

भव्यजन उस आत्मा के गुणगान के रंग में लीन हो जाते हैं, रंग जाते हैं और प्रवीण/कुशल/ज्ञानीजन निश्चय से उसकी नवधा भक्ति में लीन हो जाते हैं।

वे अन्तर से निःसृत अनहद ध्वनि में उत्साहित होकर/निमग्न होकर परमसमाधि में लीन हो जाते हैं।

फिर वे बाह्य जगत में करुणा से ओत-प्रोत होकर आत्मा के स्वभाव को प्रकाशित करते हैं, प्रसारित करते हैं (समझाते हैं) और अन्तःकरण में अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को/परमात्मस्वरूप को ध्याते हैं।

ऐसा चिन्तन पूज्य-पूजक भाव को मिटा देता है। द्यानतरायजी कहते हैं कि आत्मा के गुणों की वन्दना से आत्मा 'परमात्मा' हो जाता है।

(३२८)

आरती श्रीमुनिराज की

आरति कीजै श्रीमुनिराजकी, अधमउधारन आतमकाजकी॥ टेक॥

जा लच्छी के सब अभिलाखी। सो साधन करदमवत नाखी॥ १॥

सब जग जीत लियो जिन नारी। सो साधन नागनिवत छारी॥ २॥

विषयन सब जगजिय वश कीने। ते साधन विषवत तज दीने॥ ३॥

भुविको राज चहत सब प्रानी। जीरन तृणवत त्यागत ध्यानी॥ ४॥

शत्रु मित्र दुखसुख सम मानै। लाभ अलाभ बराबर जानै॥ ५॥

छहोंकायपीहरव्रत धारें। सबको आप समान निहारें॥ ६॥

इह आरती पढ़ै जो गावै। 'द्यानत' सुरगमुकति सुख पावै॥ ७॥

दिगम्बर मुनिराज की आरती की जाती है। उन मुनिराज की जो आत्मकल्याण की प्रक्रिया में रत हैं/लगे हुए हैं और धर्म से विरत लोगों का उद्धार करनेवाले हैं।

जिस भौतिक धन-सम्पदा को सब चाहते हैं उस सम्पदा को, भौतिक साधनों को हे मुनिराज आपने कीचड़वत्/कीचड़ के समान तुच्छ समझकर त्याग दिया है। मुनिराज की आरती की जाती है।

जिस काम-वासना की भावना ने सारे जगत् को वश में किया हुआ है उस कामवासना की भावना को हे मुनिराज आपने नागिन के समान (जैसे नागिन को छोड़ देते हैं) छोड़ दिया है/दूर कर दिया है। मुनिराज की आरती की जाती है।

जिन विषय-भोगों ने सारे जग को वश में किया हुआ है उन सारे इन्द्रिय-विषय-भोगों को हे मुनिराज! आपने विष के समान जानकर तज दिया है। उन मुनिराज की आरती कीजिए/की जाती है।

जगत के सब प्राणी रिद्धि-सिद्धि व वैभव सम्पदा को पाना चाहते हैं परन्तु उन्होंने/हे मुनिराज! आपने उसे तृणवत्/तिनके के समान तुच्छ समझकर त्याग दिया है। मुनिराज की आरती की जाती है।

आप सुख और दुःख को, मित्र और शत्रु को समान समझते हैं, लाभ और अलाभ (हानि) को एक-सा मानते हैं। मुनिराज की आरती की जाती है।

हे मुनिराज! आपने छहों काय के जीवों की पीड़ा को दूर करने का व्रत लिया है और आप छोटे-बड़े सभी जीवों को अपने समान ही जीव समझते हैं अर्थात् सबके प्रति करुणा और साम्यभाव रखते हैं, मुनिराज की आरती की जाती है।

द्यानतरायजी कहते हैं इस आरती को जो भी पढ़ता है, गाता है, समझता है और मन में/जीवन में धारण करता है वह स्वर्ग और मोक्ष के सुख को पाता है।

परिशिष्ट

भजन अनुक्रमणिका

	संख्या	भजन	क्रम संख्या	पृष्ठ संख्या
अ	१.	अजितनाथ मन लावो रे	१७	१९
	२.	अनहद शब्द सदा	७३	७६
	३.	अपनो जान मोहे तार ले	२६	२८
	४.	अब मैं जाना आतमराम	६८	७१
	५.	अब मैं जाना आतमराम	६९	७२
	६.	अब मोहे तार नेमिकुमार	२७	२९
	७.	अब मोहे तार नेमिकुमार	२८	३०
	८.	अब मोहे तार ले शांति	२३	२५
	९.	अब मोहे तार ले कुंथु	२४	२६
	१०.	अब मोहे तार ले अर	२५	२७
	११.	अब मोहे तार ले महावीर	६१	६४
	१२.	अब समझ कही	२२४	२५७
	१३.	अब हम अमर भये	७०	७३
	१४.	अब हम आतम को पहचाना	७१	७४
	१५.	अब हम आतम को पहचान्यौ	७२	७५
	१६.	अब हम नेमिजी की शरण	२९	३१
	१७.	अरहन्त सुमर मन बावरे	१६६	१९५
आ	१८.	आज आनन्द बधावा	१	१
	१९.	आतम अनुभव करना	७४	७७
	२०.	आतम अनुभव कीजे	७५	७९
	२१.	आतम अनुभव कीजिये	७६	८०
	२२.	आतम अनुभव कीजिये	७७	८२
	२३.	आतम काज संवारिये	७८	८३
	२४.	आतम जान रे जान रे	७९	८४
	२५.	आतम जाना मैं जाना	८०	८५
	२६.	आतम जानो रे भाई	८१	८६

	२७.	आतम ज्ञान लखे	८६	९३
	२८.	आतम महबूब यार	८२	८७
	२९.	आतम रूप अनुपम है	८३	८९
	३०.	आतम रूप सुहावना	८५	९१
	३१.	आप में आप लगा जी	८७	९४
	३२.	आपा प्रभु जाना मैं	८४	९०
	३३.	आरति कीजे श्री मुनिराज की	३२८	३८४
	३४.	आरति श्री जिनराज तिहारी	३२५	३७८
	३५.	आरसी देखत मन	२१५	२५८
	३६.	आया सहज बसन्त	३०५	३५३
इ	३७.	इक अरज सुनो	१६७	१९६
	३८.	इस जीव को यों समझाऊं	८८	९५
	३९.	इह विधि मंगल आरति कीजे	३२४	३७६
ए	४०.	एक ब्रह्म तिहुं	८९	९६
	४१.	एक समय भरतेश्वर	२९१	३३५
	४२.	ए मन, ये मन कीजिये	१६८	१९७
	४३.	ए मेरे मीत	९०	९८
	४४.	ए री सखी नेमिजी	३०	३२
	४५.	ए रे वीर रामजी	३१८	३६८
ऐ	४६.	ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई	९१	९९
ऋ	४७.	ऋषभदेव ऋषिदेव	३	३
	४८.	ऋषभदेव जनम्यो	४	५
क	४९.	कब हौं मुनिवर	२७६	३१८
	५०.	कर कर आतम हित रे प्राणी	९२	१००
	५१.	कर मन निज आतम चिंतौन	९५	१०३
	५२.	कर मन वीतराग को ध्यान	९६	१०५
	५३.	कर्मनि को पेले, ज्ञानदशा में खेले	३०६	३५४
	५४.	कर रे कर रे कर रे	९३	१०१
	५५.	कर सत्संगति रे भाई	२२६	२५९
	५६.	करुणा कर देवा	१६९	१९८

	५७.	करौं आरति वर्द्धमान की	३२६	३८०
	५८.	कलि में ग्रंथ बड़े	२८४	३२६
	५९.	कहत सुगुरु करि	२७७	३१९
	६०.	कहा री करे कित जाऊँ	३१	३३
	६१.	कहा री कहूँ कछु	६६	६९
	६२.	कहिबे को मन सूरमा	९४	१०२
	६३.	कहुं दीठा नेमिकुमार	३२	३४
	६४.	कहे भरत जी सुनो	३१७	३६७
	६५.	कहे राघौ सीता	३१९	३६९
	६६.	कहे सीताजी सुनो रामचन्द्र	३२०	३७०
	६७.	काम सरे सब मेरे	५४	५७
	६८.	कारज एक ब्रह्म ही सेती	९७	१०६
	६९.	काया, तू चल संग हमारे	२२७	२६०
	७०.	काहे को सोचत	२२८	२६२
	७१.	किसकी भगति किये	१७०	१९९
	७२.	कीजे हो भाइयनि	२९३	३३७
	७३.	कोठी पुरुष कनक	१७१	२०१
	७४.	क्रोध कषाय न मैं करो	२९४	३४०
	७५.	कौन काम अब मैंने	२२९	२६३
	७६.	कौन काम अब मैंने	२३०	२६४
ख	७७.	खेलौंगी होरी आये चेतनराम	३०७	३५५
ग	७८.	गलता नमता कब आवेगा	२३१	२६५
	७९.	गहु सदा संतोष	२९८	३४५
	८०.	गिरनार पै नेमि विराजत हैं	३३	३५
	८१.	गुरु समान दाता नहिं कोई	२७८	३२०
	८२.	गौतम स्वामीजी मोहि वानी	२८५	३२९
घ	८३.	घट में परमातम ध्याइये	९८	१०७
च	८४.	चल देखें प्यारी नेमि नवल व्रतधारी	३४	३६
	८५.	चल पूजा कीजे बनारस	५५	५८
	८६.	चाहत है सुख पै न गाहत है	२३२	२६६

	८७.	चेतन खेले होरी	३०८	३५६
	८८.	चेतनजी तुम जोरते धन	९९	१०९
	८९.	चेतन तुम चेतो भाई	१००	११०
	९०.	चेतन नागर हो तुम	१०२	११२
	९१.	चेतन प्राणी चेतिए हो	१०३	११५
	९२.	चेतन मान ले बात	१०४	११७
	९३.	चेतन मान हमारी बतियाँ	२३३	२६७
	९४.	चेत रे प्राणी चेत रे	२३४	२६८
	९५.	चौबीसों को वन्दना हमारी	१७२	२०२
ज	९६.	जग ठग मित्र न कोय रे	२३५	२६९
	९७.	जगत में सम्यक् उत्तम	१०५	११८
	९८.	जब वाणी खिरी महावीर की	२८६	३३०
	९९.	जय जय नेमिनाथ परमेश्वर	३५	३७
	१००.	जाको इंद अहमिंद	५	६
	१०१.	जानत क्यों नहिं रे	१०६	११९
	१०२.	जानो धन्य सो धन्य	१०७	१२०
	१०३.	जानो पूरा ज्ञाता सोई	१०९	१२२
	१०४.	जिनके भजन में मगन	१७३	२०३
	१०५.	जिन जपि जिन जपि	१७४	२०४
	१०६.	जिन नाम सुमरि मन बावरे	१७५	२०५
	१०७.	जिन पाद चाहे नाहिं कोय	१७६	२०६
	१०८.	जिनराय के पाय सदा शरनं	१७७	२०७
	१०९.	जिनवर मूरत तेरी	१७८	२०८
	११०.	जिनवाणी प्राणी जान लै रे	२८७	३३१
	१११.	जिन साहिब मेरे हो	१७९	२०९
	११२.	जिय को लोभ महा दुखदाई	२९७	३४४
	११३.	जिसके हिरदे प्रभु नाम नहिं	१८०	२१०
	११४.	जिसके हिरदे भगवान बसे	१८१	२११
	११५.	जीव तैं मूढ़पना कित पायो	२३६	२७०
	११६.	जीव तैं मेरी सार न मानी	२३७	२७१
	११७.	जीव शूं कहिये तनै भाई	२३८	२७३

	११८. जैन धरम धर जीयरा	२३९	२७४
	११९. जैन नाम भज भाई	१८२	२१२
	१२०. जो तै आतम हित नहिं कीना	१०८	१२१
	१२१. ज्ञाता सोई सच्चा वे	१६१	१८८
	१२२. ज्ञान ज्ञेय मांहि नहिं	१६३	१९०
	१२३. ज्ञान सरोवर सोइ हो भविजन	१६२	१८९
	१२४. ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारे	१६४	१९१
	१२५. ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारे	१६५	१९३
	१२६. ज्ञानी जीव दया नित पाले	२७५	३१७
	१२७. ज्ञानी ज्ञानी ज्ञानी	५२	५५
झ	१२८. झूठा सपना यह संसार	२४०	२७६
त	१२९. तजि गये जो पिय मोहे	३६	३८
	१३०. तारण को जिनवाणी	२८८	३३२
	१३१. तारि ले मोहि शीतल स्वामी	२१	२३
	१३२. तुम [illegible] उधारन	१८४	२१४
	१३३. तुम को कैसे हो सुख	११०	१२३
	१३४. तुम चेतन हो	१११	१२४
	१३५. तुम ज्ञान विभव फूली बसन्त	११२	१२५
	१३६. तुम तार करुणाधार स्वामी	६	७
	१३७. तुम प्रभु कहियत हो	१८५	२१५
	१३८. तू जिनवर स्वामी मेरा	१८६	२१६
	१३९. तू तो समझ समझ रे भाई	२४२	२७९
	१४०. तू ही मेरा साहिब सच्चा	१८७	२१७
	१४१. तू चेतन करुणा करि	३०१	३४१
	१४२. तेरी भक्ति बिना	१८८	२१८
	१४३. तेरे मोह नाहि	७	८
	१४४. तेरो संजम बिन रे	२४३	२८०
	१४५. तैं कहुं देखे नेमिकुमार	३९	४२
	१४६. त्यागो त्यागो मिथ्यातम	२४१	२७८
	१४७. त्रिभुवन में नामी	१८९	२१९

द	१४८.	दरसन तेरा मन भाये	११०	२२०
	१४९.	दास तिहारो हूँ	१११	२२१
	१५०.	दिये दान महासुख पावे	२४४	२८१
	१५१.	दुरगति गमन निवारिये	२४५	२८२
	१५२.	देखा मैंने नेमिजी प्यारा	३७	३९
	१५३.	देखे जिनराज आज	११२	२२२
	१५४.	देखे धन्य घरी	६२	६५
	१५५.	देखे सुखी सम्यक्वान	११३	१२६
	१५६.	देखो नाभिनंदन जगवंदन	८	९
	१५७.	देखो भाई आतमदेव विराजे	११४	१२७
	१५८.	देखो भाई श्रीजिनराज	११३	२२३
	१५९.	देखो भेक फूल	११४	२२४
ध	१६०.	धनि तैं साधु रहत वनमांहि	२७९	३२१
	१६१.	धनि धनि तैं मुनि गिरिवनवासी	२८०	३२२
	१६२.	धिक धिक जीवन समकित बिना	२४६	२८३
न	१६३.	नगर में होरी हो रही हो	३०९	३५८
	१६४.	नहिं ऐसो जनम बारम्बार	२४७	२८४
	१६५.	निज जतन करो	२४८	२८५
	१६६.	निरविकल्प ज्योति प्रकाश रही	११५	१२८
	१६७.	नेम जी तो केवलज्ञानी	४६	४९
	१६८.	नेमि नवल देखे चल री	४७	५०
	१६९.	नेमि मोहि आरति तेरी हो	४८	५१
	१७०.	नेमीश्वर खेलन चले	३१०	३५९
प	१७१.	परमगुरु बरसत ज्ञान झरी	३१४	३६४
	१७२.	परमारथ पंथ सदा पकरो	२४९	२८६
	१७३.	परमेसुर की कैसी रीत	२००	२३०
	१७४.	पायोजी सुख आतम लखि के	११६	१२९
	१७५.	पावांपुर भवि बंदो जाय	६३	६६
	१७६.	पिय वैराग्य लियो है	४०	४३
	१७७.	पिय वैराग्य लियो है	४१	४४

	१७८.	पिया बिना कैसे खेले होरी	३११	३५१
	१७९.	प्यारे नेमि से प्रेम किया रे	४२	४५
	१८०.	प्रभु अब हमको होऊ सहाई	२०१	२३१
	१८१.	प्रभुजी पास सुपास	१९	२१
	१८२.	प्रभुजी मोहे फिकर अपार	२०८	२३८
	१८३.	प्रभु तुम चरन शरन लीनो	२०२	२३२
	१८४.	प्रभु तुम नैनन गोचर नाहिं	२०३	२३३
	१८५.	प्रभु तुम सुमरन से ही तारे	२०४	२३४
	१८६.	प्रभु तेरी महिमा कहि न जाय	२०५	२३५
	१८७.	प्रभु तेरी महिमा किहि मुख	२०६	२३६
	१८८.	प्रभु मैं किह विधि थुति	२०७	२३७
	१८९.	प्राणी आतमरूप अनूप है	११७	१३०
	१९०.	प्राणी तुम तो आप सुजान हो	१०१	१११
	१९१.	प्राणी ये संसार असार है	२५२	२९०
	१९२.	प्राणी लाल छोड़ो मन चपलाई	२५०	२८७
	१९३.	प्राणी लाल धर्म अगाउ धारो	२५१	२८९
	१९४.	प्राणी सोहं सोहं	११८	१३२
फ	१९५.	फूली बसन्त जह	९	१०
ब	१९६.	बसि संसार में दुःख पायो अपार	२५३	२९२
	१९७.	बीतत ये दिन नीके हमको	११९	१३३
	१९८.	बंदे तू बंदगी कर याद	२१६	२४६
	१९९.	बंदे तू बंदगी न भूल	२१५	२४५
	२००.	बंदो नेमि उदासी	४३	४६
भ	२०१.	भज जंबूस्वामी	६७	७०
	२०२.	भज रे मनुआ पारस को	५६	५९
	२०३.	भज रे भज रे	११	१२
	२०४.	भज श्री आदि चरण मन मेरे	१०	११
	२०५.	भजि मन प्रभु श्री नेमि को	३८	४०
	२०६.	भजो आतमदेव रे	१२०	१३४
	२०७.	भजो जी भजो जी	२०९	२३९

	२०८.	भम्योजी भम्यो	१२२	१३७
	२०९.	भवि कीजे हो आतम	१२१	१३६
	२१०.	भवि पूजो मन वच श्रीजिनन्द	२१०	२४०
	२११.	भली भई ये होली आई	३१२	३६२
	२१२.	भाई अब मैं ऐसा जाना	१२३	१३८
	२१३.	भाई आपन पाप कमाए	२५४	२९३
	२१४.	भाई कौन कहे घर मेरा	१२४	१४०
	२१५.	भाई कहा देख गरबाना रे	२५५	२९५
	२१६.	भाई काय तेरी दुःख की ढेरी	२५६	२९७
	२१७.	भाई कौन धरम	१२५	१४२
	२१८.	भाई जानो पुद्गल न्यारा	१२६	१४३
	२१९.	भाई ज्ञान की राह दुहेला रे	२५७	२९८
	२२०.	भाई ज्ञान की राह सुहेला रे	२५८	२९९
	२२१.	भाई ज्ञान बिन दुःख पाया रे	१२९	१४९
	२२२.	भाई ज्ञानी सोइ कहिये	१३०	१५१
	२२३.	भाई धनि मुनि ध्यान लगाय खरे	२८१	३२३
	२२४.	भाई ब्रह्मज्ञान नहिं जाना रे	१२८	१४७
	२२५.	भाई ब्रह्म विराजे कैसा	१२७	१४५
	२२६.	भैया सो आतम जानो रे	१३१	१५२
	२२७.	भोर उठ तेरो मुख	२११	२४१
	२२८.	भोर भयो भज श्री जिनराज	५७	६०
म	२२९.	मगन रहु रे शुद्धातम में	१३२	१५३
	२३०.	मन मेरे राग भाव निवार	१३३	१५४
	२३१.	महावीर जीवाजीव खीरं	६४	६७
	२३२.	माई आज आनन्द कछु	१२	१३
	२३३.	माई आनन्द है या नगरी	२	२
	२३४.	मानुष जनम सफल भयो आज	१९७	२२७
	२३५.	मानुष भव पानी दियो	१३४	१५५
	२३६.	मानो मानो जी	२५९	३००
	२३७.	मिथ्या यह संसार	२६०	३०१
	२३८.	मूरति पर वारि रे	४४	४७

	२३९.	मेरी बेर कहा ढील करी जी	१९५	२२५
	२४०.	मेरी मेरी करत	२६१	३०२
	२४१.	मेरो मन कब ह्वै बैराग	२६२	३०३
	२४२.	मैं एक शुद्ध ज्ञाता	१३५	१५७
	२४३.	मैं न जान्यो री	२९२	३३६
	२४४.	मैं निज आतम कब	१३६	१५८
	२४५.	मैं नेमिजी का बंदा	४५	४८
	२४६.	मैनू भावै जी प्रभु चेतना	१९८	२२८
	२४७.	मैं बंदा स्वामी तेरा	१३	१४
	२४८.	मोहि ऐसा दिन कब आये	२६३	३०४
	२४९.	मोहि तारो जिन साहिबजी	१९९	२२९
	२५०.	मोहि तार ले पारस स्वामी	५८	६१
	२५१.	मोहि तारि हो देवाधिदेव	१९६	२२६
	२५२.	मंगल आरति कीजे भोर	३२३	३७४
	२५३.	मंगल आरति आतमराम	३२७	३८२
य	२५४.	यारी कीजे साधौ नाल	२८२	३२४
	२५५.	ये दिन आछे लहे जी	२६४	३०५
र	२५६.	राम भरत सो कहे सुभाई	३१६	३६६
	२५७.	री चल बंदिये	६५	६८
	२५८.	री मा नेमि गये किह	५३	५६
	२५९.	री मेरे घट ज्ञान घना छाया	३१५	३६५
	२६०.	रुल्यो चिरकाल जगजाल	१६	१७
	२६१.	रे जिय क्रोध काहे करे रे	२९५	३४२
	२६२.	रे जिय जनम लाहो लेह	२६५	३०६
	२६३.	रे जिया सील सदा दिढ़ राख	३००	३४८
	२६४.	रे भाई करुणा जान रे	३०२	३५०
	२६५.	रे भाई मोह महादुख दाता	१३७	१५९
	२६६.	रे भाई संभाल जगजाल में	१३८	१६०
	२६७.	रे मन गाय रे	२१२	२४२
	२६८.	रे मन भज भज	२१३	२४३

ल	२६९.	लगन मोरी पारस सौं लागी	५९	६२
	२७०.	लाग रह्यो मन चेतन सौं जी	१३९	१६१
	२७१.	लागा आतमराम सौं नेहरा	१४१	१६३
	२७२.	लागा आतम सौं नेहरा	१४०	१६२
व	२७३.	विपत्ति में धर धीर रे	२६६	३०७
	२७४.	वीतराग नाम सुमर	२१४	२४४
	२७५.	वीर री पीर कासौं कहिये	२६७	३०८
	२७६.	वे कोई निपट अनारी	१६०	१८६
	२७७.	वे परमादी तै आतमराम न जान्यौ	१४२	१६४
	२७८.	वे प्राणी सुज्ञानी	२८१	३३३
	२७९.	वे साधो जन गाई	३०३	३५१
श	२८०.	शरण मोहि वासूपूज्य जिनवर की	२२	२४
	२८१.	शुद्ध स्वरूप को वंदना हमारी	१५४	१७९
	२८२.	श्री आदिनाथ तारण तरणं	१५	१६
	२८३.	श्री जिनदेव छाड़े हो	२२२	२५३
	२८४.	श्री जिनधर्म सदा जयवन्त	१५३	१७८
	२८५.	श्री जिननाम अधार	१८३	२१३
	२८६.	श्री जिनराय मोहे भरोसो	२२३	२५५
स	२८७.	सच्चा साईं तू ही है मेरा	२१७	२४७
	२८८.	सबको एक ही धर्म सहाय	१४३	१६५
	२८९.	सब जग को प्यारा चेतनरूप	१४४	१६६
	२९०.	सबमें हम, हममें सब जान	१४५	१६७
	२९१.	सबसो छिमा छिमा	२९६	३४३
	२९२.	समझत क्यों नहिं वानी	२६८	३०९
	२९३.	साधजी ने वाणी तनिक	२९०	३३४
	२९४.	साधो छोड़ो विषय विकारी	२९९	३४६
	२९५.	सांचे चन्द्रप्रभु सुखदाय	२०	२२
	२९६.	सुन जैनी लोगों ज्ञान को पंथ कठिन है	१४७	१७२
	२९७.	सुन जैनी लोगों ज्ञान को पंथ सुगम है	१४८	१७३
	२९८.	सुन चेतन एक बात हमारी	१४६	१७०

	२९९. सुन मन नेमिजी के वैन	४९	५२
	३००. सुनरी सखी जहाँ	५०	५३
	३०१. सुन सुन चेतन लाड़ले	१४९	१७४
	३०२. सुर नर सुखदायी गिरनार	२२१	२५२
	३०३. सेऊं स्वामि अभिनन्दन को	१८	२०
	३०४. सेठ सुदर्शन तारनहार	२१८	२४८
	३०५. सैली जयवन्त यह हूजो	३०४	३५२
	३०६. सोई कर्म की रेख पे मेख	१५०	१७५
	३०७. सोई ज्ञानसुधारस पीवै	१५१	१७६
	३०८. सोग न कीजे बावरे	२७०	३११
	३०९. सो ज्ञाता मेरे मन	१५२	१७७
	३१०. सोहा दीवं साधु	२८३	३२५
	३११. संसार में साता नहीं वे	२६९	३१०
	३१२. स्वामि जिन नाभिकुमार	१४	१५
ह	३१३. हथनापुर वंदन	३२२	३७३
	३१४. हम आये हैं जिनभूप	२११	२४१
	३१५. हमको कैसे शिवसुख होय	१५६	१८१
	३१६. हमको प्रभुजी पास सहाय	६०	६३
	३१७. हमतो कबहुं न निज घर	१५७	१८३
	३१८. हम न किसी के	२७१	३१२
	३१९. हम लागे आतम राम राम सौं	१५५	१८०
	३२०. हमारे ये दिन यों ही गये	२७४	३१६
	३२१. हमारो कारज ऐसे होय	२७३	३१४
	३२२. हमारो कारज ऐसे होय	२७२	३१३
	३२३. हाँ चल री सखी	५१	५४
	३२४. हे जिनराय जी मोहे दुख ते लेहु छुड़ाई	२२०	२५०
	३२५. हे स्वामि! जगत जलधि	१५८	१८४
	३२६. हो जिनराज नीति	२२१	२५२
	३२७. हो भैया मोरे कहु कैसे सुख होय	१५९	१८५
	३२८. होरी आई आज रंग	३१३	३६३

० ० ०